# VED-MIMAMSA

## VOL. II

By

ANIRVĀṆ

अनुक्रम :

## तृतीय अध्याय : वैदिक देवता

## संकेत-परिचय

| | |
|---|---|
| AV. | AVESTA |
| अवे. | अवेस्ता |
| ऐ आ. | ऐतरेय आरण्यक |
| ऐ उ. | ऐतरेय उपनिषत् |
| ऐ ब्रा. | ऐतरेय ब्राह्मण |
| क. | कठोपनिषद् |
| काठ. | काठक संहिता |
| गी. | गीता |
| छा. | छान्दोग्योपनिषद् |
| जैउब्रा. | जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण |
| टी. | टीका |
| टीमू. | टीका मूल, टीका और मूल |
| DR | GELDNER'S DER RIGVEDA |
| ता. | ताण्ड्य ब्राह्मण |
| तु. | तुलनीय |
| तै आ. | तैत्तिरीय आरण्यक |
| तै ब्रा. | तैत्तिरीय ब्राह्मण |
| तै स. | तैत्तिरीय संहिता |
| द्र. | द्रष्टव्य |
| नि. | निरुक्त |
| निघ. | निघण्टु |
| पपा. | पदपाठ |
| पा. | पाणिनि सूत्र |
| पाम. | पाणिनि सूत्र महाभाष्य |
| पृ. | पृष्ठ |
| प्र. | प्रश्नोपनिषद् |
| प्रतितु. | प्रतितुलनीय |
| विण | विशेषण |
| विद्र. | विशेष आलोचना द्रष्टव्य |
| बृदे. | बृहद्देवता |
| वेमा. | वेंकट माधव |
| वैप | वैदिक पदानुक्रम कोष |
| व्यु. | व्युत्पत्ति |
| ब्रसू. | ब्रह्म सूत्र |
| भा. | भागवत पुराण |

| | |
|---|---|
| मस. | मनु संहिता |
| महा. | महाभारत |
| मा. | वाजसनेयी माध्यन्दिन संहिता |
| माण्डू. | माण्डूक्य उपनिषद् |
| मु. | मुण्डक उपनिषद् |
| मैस. | मैत्रायणी संहिता |
| ल. | लक्षणीय |
| श., शब्रा. | शतपथ ब्राह्मण |
| शौ. | अथर्ववेद शौनक संहिता |
| श्रौ. | श्रौत सूत्र |
| सं. | सँस्करण |
| सा. | सायण |
| साभा. | सायण भाष्य |
| सिकौ | सिद्धान्त कौमुदी |
| सू. | सूक्त |
| स्म. | स्मरणीय |

# वेद-मीमांसा

तृतीय अध्याय

## वैदिक देवता

### क. भूमिका

वैदिक साहित्य आर्य भावना का संवाहक है। शुरु में ही हमने बतलाया है कि यह साहित्य विदग्ध मन की सृष्टि है। बहुत पहले ही इसके भीतर भाव और भाषा दोनों सुविन्यस्त तथा ठोस रूप ले चुके थे। इसकी रचना कैसे हुई थी, उसके पूर्वकालीन इतिहास से हम अपरिचित हैं। उसे लेकर पुरातत्त्व का मंथन करते हुए अनेक प्रकार की बातें कही जा सकती हैं किन्तु किसी भी सुनिश्चित सिद्धान्त तक पहुँचना सम्भव नहीं [११४३]। किन्तु, इस साहित्य के प्रभव अथवा स्रोत के अदृश्य होने पर भी इसका प्रभाव अब तक जाग्रत एवं जीवन्त है। अतएव आर्य भावना के इतिहास के अनुसन्धान की दिशा में गंगोत्री के हिमनद की तरह वैदिक साहित्य को ही उसके ध्रुवपद या फिर प्रस्थान-विन्दु के रूप में स्वीकार करना पड़ता है; वहाँ से हम नीचे की ओर ही उतर सकते हैं किन्तु वहाँ से ऊपर की ओर नहीं जा सकते। फलस्वरूप वेदार्थ के आविष्करण के लिए हमारे निकट मुख्य रूप से दो रास्ते खुले रहते हैं— प्रथम वेद को स्वतः प्रमाण जानकर उसे समझने के लिए उसके भीतर ही अवगाहन करना; द्वितीय वेदोत्तर भावना के प्रकाश में उसके तात्पर्य को उद्भासित करने, उजागर करने का प्रयास करना। अर्थात प्राचीन परिभाषा के अनुसार आन्तर उपलब्धि की उद्बोधिका श्रुति ही यहाँ मुख्य प्रमाण है, स्मृति उसकी अनुगामिनी है, अनुमान का प्रकार शेषवत अर्थात कार्य को देखकर कारण में जाना; और उसकी अवधि आपाततः पूर्वोक्त वेद तक है, जिसके ऊपर जाने की समीचीनता संशय रहित नहीं।

हमने पहले ही बतलाया है कि सुसम्बद्ध, सुसंगत और प्रासंगिक होने के कारण ही वैदिक साहित्य को आदिमानव के अस्पष्ट मनन के साथ कभी भी उपमित नहीं किया जा सकता। इस साहित्य में हम दीर्घकाल से प्रवाहित संयत सुनियंत्रित भावना और साधना का परिनिष्ठित रूप पाते हैं, जो विश्वमानव के चित्तोत्कर्ष, ज्ञानोत्कर्ष अथवा संस्कृति के विकास के कुछ अनतिवर्तनीय संकेतों का वाहन है। प्राणधर्म से जुड़े होने के कारण ये संकेत सचमुच ही 'सनातन' हैं। अतएव मनुष्य के आध्यात्मिक विकास के क्षेत्र में उनकी उपयोगिता अब भी समाप्त नहीं हुई है और होगी भी नहीं। ऐसी स्थिति में इन सनातन संकेतों को यथायथ उपयुक्त परिप्रेक्ष्य में उपस्थापित करना ही हमारी मुख्य भूमिका होगी।

[११४३] इण्डो-यूरोपीय संस्कृति के परिचायक दो प्राचीन साहित्य — यूनानी (ग्रीक) एवं ईरानी उपलब्ध हैं, किन्तु दोनों ही वैदिक साहित्य से अर्वाचीन हैं। ईरानी अध्यात्म भावना के साथ वैदिक भावना का बहुत कुछ मेल है किन्तु यूनानी भावना के साथ उसकी असमानता बड़ी आसानी से दिख जाती है।

वैदिक साहित्य का मुख्य उपजीव्य देववाद है। उपासना एवं यजन उसके दो अंग हैं। देवता की उपासना में भाव का और यजन में क्रिया का प्राधान्य है। प्रत्यक्षत: चेतना क्रिया में बहिर्मुख और भाव में अन्तर्मुख होती है। तथापि क्रिया में भाव की ही अभिव्यक्ति है, भाव ही उसका धारणकर्ता एवं पोषक है। यह भाव संहिता में 'धी' अथवा 'दीधिति' अर्थात ध्यान चिन्तता है। ध्यान देवता का प्राण है, ध्यान में ही वे यजमान अथवा उपासक को दिखाई देते हैं [११४४]। प्रज्ञा और वीर्य या शक्ति रूप में देवता साध्य हैं; साध्य और साधक के बीच सेतु हैं। 'निदिध्यासन' अथवा ध्यान तन्मयता के फलस्वरूप देववाद आत्मा, विश्व और परमदेवता के सायुज्य में पर्यवसित होता है- जिसका परिचय हमें संहिता की आत्मस्तुतियों में प्राप्त होता है। इसी देवता का स्वरूप एवं विभूति अब हमारा अनुध्येय है।

## ख. साधारण परिचय

### १. देवता का स्वरूप

निरुक्ति के द्वारा हम देवता का परिचय शुरू करते हैं, क्योंकि 'देव' शब्द यौगिक एवं पारिभाषिक है। इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य में इस प्रकार के शब्दों के प्रयोग की प्रचुरता के कारण उनके तात्पर्य-निर्णय में निरुक्ति या निर्वचन एक प्रधान अवलम्बन है।

'दिव्' से 'देव'। किन्तु वेद में प्रातिपदिक रूप में ही दिव् का प्रयोग है, धातु रूप में नहीं। उसकी जगह 'दी' धातु है, जिसका अर्थ है 'दीप्ति देना, दिपना, चमकना' [११४५]। प्रातिपदिक 'दिव' द्युलोक अथवा आलोकदीप्त आकाश। जितनी देर तक आकाश में आलोक उतनी देर तक 'दिवा'। दिव, दिवा, देव इन तीन शब्दों में एक ही भावना की व्यंजना है। वह भावना है आलोक की। अतएव देवता का स्वरूप आलोक है, वही अन्तर में 'बोध' अथवा जागउठना 'चित्ति' अथवा विवेक है; जिसके फलस्वरूप 'प्रज्ञान', संज्ञान,

---

[११४४] निघन्टु में 'धी' के दो अर्थ — कर्म (२।१) एवं प्रज्ञा (३।९)। स्पष्ट है कि आर्यभावना में ये दोनों सहचारी हैं। संहिता और ब्राह्मण में इस सहचरता का परिचय प्राप्त होता है — तु. ऋ. 'तं ते जुहोमि मनसा वषट्कृतम्' १०।१७९।२, देवहूतिं ... वषट्कृतिं जुषाणः ७।१४।२, वषड्वषल् इत्य ऊर्ध्वासो अनक्षन् १०।११५।९; ऐतरेय ब्राह्मण. यस्यै देवतायै हविर् गृहीतं स्यात् तां ध्यायेद् वषट् करिष्यन्, साक्षाद् एव तद् देवतां प्रीणाति प्रत्यक्षाद् देवतां यजति ३।८। अग्नि में आहुति देने के पहले याज्या मंत्र का पाठ करना पड़ता है, उसके अन्त में 'वषट्' (= वौषट्) यह मंत्र रहता है। अर्थ, 'अग्नि वहन करें अथवा जल उठें।' इस मंत्र का उच्चारण है 'वषट्कार'। यह कर्मांग है लेकिन मनन और ध्यान के साथ युक्त है। ब्राह्मण में वषट्कार को विशेष महत्व दिया गया है (तु. ऐब्रा. ३।५-८)। कहीं-कहीं मुख्य तैंतीस देवताओं में वषट्कार अन्तिम देवता (ऐब्रा. १।१०, ताण्ड्य ब्रा. ६।२।५)। इसके अतिरिक्त 'धी' जिनका स्वभाव, वे 'धी-र'। उपनिषद में धीर ध्यानसिद्ध की संज्ञा। ऋक्संहिता में विश्व-भुवन के जो रक्षक, वे भी धीर — अप्रास के भीतर जिनके आविष्ट होने पर ही प्रज्ञा का उन्मेष होता है : 'इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकम् अत्रा विवेश' १।१६४।२१। इसलिए कर्म एवं प्रज्ञा दोनों ही समान रूप से देवता का वैभव।

[११४५] यास्क ने देवता की निरुक्ति इस प्रकार दी है — देवो दानाद् वा दीपनाद् वा द्योतनाद् वा द्युस्थानो भवतीति वा, (७।१५)। इस में प्रथम केवल अर्थ की दृष्टि से। √दी का निकटवर्ती √द्युत् ऋक्संहिता में ही पाया जाता है, √दिव के साथ उपजन रूप में 'त' जोड़कर उसकी व्युत्पत्ति सिद्ध हो सकती है (तु. √चि ॥ चित्, नृ ॥ नृत्, कृ ॥ कृत् ...। √दीप केवल यजुः और अथर्व संहिता में है। 'देव' तु. Lat. deus, Lith. devas, OHG. Zio, OE. Tiw, Gk. dios, daiteai 'shines' ...।

२.

और 'संवित' [११४६]। इस प्रकार साध्य देवता एवं साधक में तादात्म्य स्थापित होता है।

---

[११४६] ऋक्संहिता में √बुध् (जाग उठना) धातु के प्रयोग के बावजूद बोध शब्द नहीं है, 'बुध्न' है। यास्क ने उसका अर्थ किया है अन्तरिक्ष अथवा प्राण (नि. १०।४४)। साधारणत: यह शब्द 'मूल' या 'उत्स' के अर्थ में रूढ़ है। तु. ऋ. उपरिबुध्न एषाम् १।२४।७, अग्नि 'रायो बुध्न:' १।९६।६ (१०।१२९।३), बुध्ने नदीनां ७।३४।१६, ऋतस्य बुध्ने २।६१।७; आनुषंगिक अर्थ 'गहरा स्थान' जैसे — 'अप: प्रैरयं सगरस्य बुध्नात्' — अर्थात अप् (वाणी की धाराओं) को सागर की गहराई से भेजा १०।८९।४ (सागर यहाँ हृद्य समुद्र, तु. ४।५८।५, ११, १०।५।१, १७७।३; चेतना का अनुषंग द्रष्टव्य) फिर यद् ई बुध्नात्... अक्रन्त (गहराई से अग्नि का उत्सारण) १।१४१।३। 'अग्र' एवं 'बुध्न' अग्रभाग एवं मूल पास-पास ३।५५।७, १०।१११।८) अग्नि जिस वेदि (वेदी) में उत्पन्न हों अथवा जाग उठें, वह 'रजसो बुध्न:' १।५२।६, २।२।३, ४।१।११; वह इस पृथिवी का ही परम अन्त है (तु. इयं वेदि: परो अन्त: पृथिव्या:, १।१६४।३५), अतएव वह भी 'क्षाम बुध्न' जिसे इन्द्र प्राणोच्छ्वास से क्षोभित करते हैं (४।१९।४, सर्वमूल निश्चलता के भीतर चंचलता का संचार करते हैं; तु. यथा न: पितर: परास: ... क्षामा भिन्दन्तो अरुणीर् अपव्रन' — हमारे परम पितृपुरुषों ने पृथिवी को भेद कर उषा की अरुण आभा अपावृत की थी ४।२।१६) अग्नि तपो देवता हैं, उनका यह जागरण 'तपुषो बुध्न:' २।३९।३। अन्तरिक्ष में मरुद्गण का बुध्न अथवा जागरण जलप्लावन जैसा लगता है (अपां न याम) १०।७७।४। वेदि में अग्निशिखा साँप के फन की तरह फनफना उठती है, अतएव अग्नि — 'अहिर्बुध्न्य:' (तु. अहिर्बुध्नेषु बुध्न्य: १०।९२।१२; 'अब्जाम् उक्थैर् अहिं गृणीषे बुध्ने नदीनां रज: सुषीदन्, मा नो अहिर्बुध्न्यो रिषे धात' — अप् से उत्पन्न उस अहि का मैं ऋक् द्वारा प्रशंसन करता हूँ, जो नदियों के उत्स अथवा गहराव में रजोभूमि पर बैठा है, बुध्न्य अहि मुझे रिष्टि अथवा पाप में न फँसाएँ ७।३४।१६, १७ तु. हठयोग में वर्णित मूलाधार स्थित सर्परूपिणी कुण्डलिनी)। बुध्न का अर्थ चेतना यहाँ अत्यन्त स्पष्ट है: 'पुरस्तात् बुध्न आतत:' १०।१३५।६। आधुनिक भाषाशास्त्रियों की व्युत्पत्ति : Lat. fundus, for * fudno-s 'bottom of anything', but also piece of land, farm, estate'; GK. puthmen for * Phuthmen 'foundation of the sea, of cup'. Inspite of somewhat various meanings of the above Gmc., Lat & Skrt. seems to be cognate, The root idea preserved in Gmc. It is suggested that Aryan 'Bhudhn-' meant the 'earth, land', It is suggested that Aryan 'Bhudhn-' meant the place of growth ultimately and the base is connected with that of Lat. fui 'I was', (Wyld)। मूल जो भी हो किन्तु संस्कृत में √बुध् (जागना, सचेतन होना) के अर्थ की ध्वनि इस शब्द के भीतर आ गई है। ऊपर के सभी उद्धरणों में यह ध्वनि है। जहाँ चेतना नहीं, वह असंज्ञ लोक राजा वरुण का 'अबुध्न' है (१।२४।७)। शीर्ष अथवा मस्तक सात शीर्षण्य प्राण या चेतना का आधार है, वह देखने में औंधा उलटे रखे घड़े जैसा लगता है — जिसका तला या पेंदा ऊपर हो और छिद्र या मुँह नीचे। संहिता में उसका वर्णन : 'तिर्यग्बिलश् (बृ. अर्वाग्बिल: २।२।३) चमस ऊर्ध्वबुध्नस् तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्, तद् आसत ऋषय: सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवु: शौनक संहिता १०।८।९।... बोध अथवा चेतना के जागरण से 'चित्ति' अर्थात अव्यक्त के भीतर व्यक्त का ज्ञान : तु. 'देवासो अग्निं जनयन्त चित्तिभि:' — देवताओं ने चित्ति द्वारा अग्नि को व्याकृत किया ऋ. ३।२।३; 'चित्तिम् अचित्तिं चिनवद् वि विद्वान्' — प्रचेतना और अप्रचेतना में विद्वान अन्तर कर सकें ४।२।११ (तु. १।१६४।२९)। प्रथम विवेक 'पूर्वचित्ति' (तु. १।८४।१२, ८।३।७, ९।८९।५...)। चित्ति के फलस्वरूप 'प्रज्ञान'। फिर 'संज्ञान' अथवा सायुज्य बोध (तु. संजानाना उपसीदन्. अभिज्ञु पत्नीवन्तो नमस्यं नमस्यन्' — अग्नि के साथ स्वयं को एक जानकर वे उस नमस्य देवता को प्रणाम करके पत्नी सहित पालथी मारकर उनके निकट बैठ गए ऋ. १।७२।५; संज्ञान ही परम अयन है १०।१९१।४, १९१।२)। उसके फलस्वरूप 'संवित्' अथवा पूर्ण प्रज्ञा (ऋ. ८।५८।१, १०।१०।१४; तु. अगन्म ज्योतिर् अविदाम देवान् ८।४८।३।

देवता की एक साधारण संज्ञा 'वसु' है जिसका अर्थ है 'दीपक, ज्योतिर्मय' [११४७]। संहिता में देवता की मुख्य विभूतियाँ — अग्नि, इन्द्र, सोम, रुद्र, मरुद्गण, उषा, सूर्य, पूषा, आदित्यगण सभी वसु हैं [११४८]। उषा और वसु एक ही धातु से व्युत्पन्न हैं। विश्वदेवगण भी साधारणतया वसु हैं [११४९]। इसके अतिरिक्त सारे वसु एक देवगण हैं [११५०], संहिता में उनका बहुत उल्लेख है। धनवाची क्लीव लिंग वसु भी सामान्यतः आलोक वित्त का बोधक है [११५१]। वसु होने के कारण ही देवता 'वसिष्ठ' अथवा ज्योतिष-मत्तम [११५२], 'विवस्वान' अथवा आलोकदीप्त [११५३] हैं।

अनुभव की दृष्टि से भी देवता 'ज्योतिः'। यह शब्द वेद में बहु प्रयुक्त है। व्युत्पत्ति में 'देव' और ज्योतिः सगोत्र [११५४] हैं। बाहर ज्योति का सर्वोत्तम प्रकाश या प्राकट्य सूर्य में है। ऋक् संहिता के सर्वानुक्रमणीकार कात्यायन के अनुसार [११५५] 'अथवा एक महान आत्मा ही देवता हैं जिन्हें सूर्य कहा जाता है। वे ही सर्वभूत के आत्मा हैं। अतएव ऋषि कहते हैं कि [1]जो कुछ चल रहा है, जो कुछ अचल स्थिर है उन सब के आत्मा सूर्य हैं। उनकी ही विभूति अन्य देवतागण हैं। वही इस ऋक् में व्यक्त किया गया है; [2]( जो पक्षवान या पंखधारी दिव्य सुपर्ण ) उसे ही वे इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहते हैं; ( एक सत् को ही विप्रों ने अनेक रूपों में व्यक्त किया है, जिसे अग्नि यम और मातरिश्वा कहते हैं )।'

देवता के प्रति आर्यों के हृदय में जो ललक है वह इसी ज्योति की ललक है। वसिष्ठ कहते हैं, जिन्होंने ज्योति को अपना अगुआ या नेता बनाया है, वे ही आर्य हैं। यही आर्य का लक्षण है [११५६]। आदित्यायन के छन्द में उनका जीवनायन अर्थात् आदित्य की गति के छन्दानुगमन में उनका जीवन लयबद्ध होता है। ज्योति की पिपासा उनका दिशा-निर्देशन करती है। ऋषि गौरवीति के हृदय के तारों पर इसलिए तीव्र ध्वनि में झंकृत यह ऋक् सुनते हैं: 'अप ध्वान्तम् ऊर्णुहि पूर्धि चक्षुर् मुमुग्ध्य अस्मान् निधयेव बद्धान्' — हे देवता अपावृत करो, यह अन्धकार, भर दो इन आँखों में उजास, मुक्त करो हमें पाश में बँधे हुए हैं हम तो [११५७]! फिर जीवन के प्राची मूल में

[११४७] < √वस (प्रकाश देना) > उच्छ (वस + छ विकरण)। व्युत्पन्न शब्द : उषस, उस्र, वासर, विवस्वत्...। तु. AV. vanhus 'good', किन्तु IE √ves 'to shine'।

[११४८] द्र. ऋ. अग्नि (१।३१।३, ३।१८।२, ५।३।१२...), रुद्र (२।४३।५), मरुद्गण (३।३४।७, ५।५५।८...), इन्द्र (१।१०।४, २०।१०, २।१३।१३, ३।४१।७...), अश्विद्वय (१।१५८।१-२), उषा (६।६४।१), सूर्य ४।४०।५), पूषा (वसोः राशिः ६।५५।३), आदित्यगण (७।५२।१, ८।१८।१५, १७) सोम (९।८८।५)।

[११४९] 'वस्वो वसवानाः' द्र. ऋ. १।९०।२; तु. १।१०६।१-६, ४।५५।१, ६।५०।१५, ५१।७, ८।२७।२, ९, १०।१००।७।

[११५०] द्र. नि. वसवो यद् विवसते सर्वम्; अग्निर् वसुभिर् वासव इति समाख्या तस्मात् पृथिवीस्थानाः। इन्द्रो वसुभिर् वासव इति तस्मात् मध्यस्थानाः। वसव आदित्य रश्मयः विवासनात् तस्माद् द्युस्थानाः १२।४१। ऋक् संहिता में वसु क्या ग्यारह हैं? (तु. १।१३९।११) किन्तु ब्राह्मण में छन्द के अक्षरसाम्य से अष्टावसु (द्र. ऐ. १।१०, ३।२२; तु. ऐ. २।१८, श. ११।६।३।५, तै. ३।१।२।६, ताण्ड्य. ६।२।५)।

[११५१] निघ. पुंलिंग बहुवचन में 'वसवः' रश्मि १।५, क्लीव लिंग 'वसु' धन २।१०।

[११५२] तु. ऋ. २।९।१, १०।९६।१७; इसके अलावा सप्तम मण्डल के ऋषि वसिष्ठ। तु. फ़ारसी 'बिहिश्त' < AV. Vahišta स्वर्ग Vahišta परम पुरुष की संज्ञा।

[११५३] द्र. नि. 'विवासनवान (तमसाम्)' ७।२६। 'विवस्वान' परम देवता की प्राचीन संज्ञा जिनका प्रतीक सूर्य — दिन और रात उनकी विभूति (अं अहनी सुदिने विवस्वतः ऋ. १०।३९।१२), सौर देवता 'विवस्वतो जनिमा' (१०।६३।१)। उनकी उपासना में उपासक भी विवस्वान् (८।६।३९, १।४६।१३, २।१३।६...)। अन्याय विवरण 'विवस्वान' द्रष्टव्य।

[११५४] दिव > द्युत > ज्युत।

[११५५] द्र. २।१४।१०। [1] ऋ. १।११५।१। [2] १।१६४।४६।

उषा के आलोक में जब प्रातिभ संवित् की आभा फूटती है तब ऋषि कुत्स के कंठ से उदबोधिनी वाणी का यह उल्लास सुनाई पड़ता है : 'उठो उद्यत करो स्वयं को। जो हमें लोगों का जीवन, जो हम लोगों का प्राण है, वही आया है। दूर चला गया अँधेरा, देखो उजाला आ रहा है। खोल दिया सूर्य का यात्रा-पथ। उसी जगह पहुँचे हैं हम सब, जहाँ सब की आयु का प्रतरण।' [११५८]।

सारे देवता 'सुज्योतिः' [११५९] हैं; तम से ज्योति में उत्तरण ही जीवन की दिव्य नियति है। [1] इस ज्योतिर्भावना के अनुकूल ऋक् संहिता से कुछ मंत्रों के अभिप्राय एवं अनुशीलन की भूमिका में आशा है हमारे निकट देवताओं के स्वरूप का परिचय प्राप्त होगा।

पहले ही हमने बतलाया है कि अध्यात्म सिद्धि की एक प्रतिच्छवि सूर्योदय में अंधकार से आलोक के उत्सारण में है। देवता आकाश में सूर्य को उद्भासित करते हैं, इसका उल्लेख हमें अनेक मंत्रों में प्राप्त होता है [११६०]। बाहर में जो भूताकाश है, वही अन्तर में चिदाकाश है; वहाँ सूर्योदय ही उपासक का परम आकांक्षित है। देवता उसकी उस आकांक्षा को सार्थक करते हैं [११६१] अपनी ज्योति द्वारा अन्धकार के विवर से किरण रेखाओं को दोहन करके निकालते हैं,

जिस तम ने 'वृत्र' होकर उपासक की चेतना को आवृत कर रखा है, उसे देवता ज्योति द्वारा (ज्योतिषा) निर्जित, पराजित करते हैं [११६२]: [1] अग्नि जन्मते ही दमकने लगते हैं, दीप्तिमान हो उठते हैं, वध करते हैं दस्युओं का, ज्योति द्वारा तमिस्रा को करते हैं अपसारित, खोजकर प्राप्त कर लेते हैं किरण, प्राण एवं सूर्य को; तमिस्रा से निकल कर आते हैं वे ज्योति के साथ; अथर्वा ऋषि की तरह दिव्य ज्योति द्वारा वे तो जलाकर मार डालते हैं उस अविवेकी को, जो सत्य को करता है विकृत; द्यावापृथिवी के अन्तराल में है जो तमिस्रा, वैश्वानर रूप में उसे वे निराकृत करते हैं ज्योति द्वारा। [2] उषा जिस प्रकार अरुण प्रकाश से रात्रियों को करती हैं अपावृत उसी प्रकार <u>मरुद्गण</u> अन्धकार को अपावृत करते हैं लहरीली दूधिया उज्ज्वल ज्योति की महिमा द्वारा। [3] विश्व-नायक <u>इन्द्र</u> द्यावा-पृथिवी को ढँके हुए हैं ज्योति द्वारा, जिस तमिस्रा को दूर करना कठिन है उसे समेट लाए हैं ग्रथित करके; गुहा के अन्तराल में थीं जो पयस्विनी आलोक धेनुएँ, उन्हें-

---

[११५६] ऋ. तिस्रः प्रजा आर्या ज्योतिरग्राः ७।३३।७। तीन प्रजा तु. ८।३४।१६-१८। फिर तीन वाक् भी ज्योतिरग्रा ७।१०१।१ (तु. गुहानिहित तीन वाक् पद, जिनका तत्त्व मनीषी ब्राह्मणों को ज्ञात है १।१६४।४५)। वैदिक आर्यों के कवि-हृदय का उल्लास वाक् की साधना में (तु. १०।७१।४)।
[११५७] ऋ. १०।७३।११।
[११५८] ऋ. उद् ईर्ध्वं जीव असुर् न आगाद् अप प्रागात् तम आ ज्योतिर् एति, आरैक पंथां यातवे सूर्याय, गन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः १।११३।१६। 'प्रतरण' सारी बाधाएँ दूर कर आगे बढ़ना।
[११५९] तु. सुज्योतिषो नः शृण्वन्तु देवाः सजोषसो अध्वरं वावशानाः (३।२०।१; देवताओं में एक दूसरे से कोई विरोध नहीं, वे तृप्ति में सुषम-सुसंगत होते हैं और मनुष्य की उत्सर्ग साधना के लिए उतावले-उद्विग्न रहते हैं); ६।५०।२। [1] तु. बृ. तमसो मा ज्योतिर्गमय १।३।२८।
[११६०] तु. ऋ. १।७।३, ३२।४, ५१।४ ('वृत्र' अथवा आवरण शक्ति के निधन के बाद सूर्योदय), ५२।८; २।१२।७, १९।३; ३।३१।१५, ३२।८, ४४।२; ४।१३।२; ५।२९।४, ६७।७, ८५।२; ६।१७।३, ५, ३०।५, ७२।१, २; ७।७८।३, ८२।३, ९९।४; ८।३।६, १२।३०, ८९।७, ९८।२; ९।२३।२, २८।५, ३७।४, ४२।१, ६३।७, ८६।२२, ९७।३१, १०७।२, ११०।३; १०।६५।११, ८८।११, १५६।४...। सूर्यलाभ की बात है: १।१००।६, १८; ३।३४।९, ३९।५; १०।६७।५; अत्रि 'गूळ्हं सूर्यं तमसा पव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्दत्' (५।४०।६ सूर्यग्रहण का रूपक; तु. तैत्तिरीय संहिता २।१।२।२, ताण्ड्य. ६।६।८: प्रथम में तुरीय परिणाम वशा अथवा वन्ध्या भेड़ में, द्वितीय में शुक्लता में — क्रमानुसार असम्भूति एवं सम्भूति के उपासक का सूचक); ६।७२।१, १०।४३।५, अंगिरोगण द्वारा सूर्य को द्युलोक में चढ़ाना ६२।३। यह सूर्य स्थावर-जंगम के शीर्ष-शीर्ष में (७।६६।१५; तु. ऊर्ध्व बुध्न, सूर्य द्वार, सहस्रार द्युति)।
[११६१] इन्द्रो निर् ज्योतिषा तमसो गा अदुक्षत १।३३।१०।
[११६२] अनुवाद सर्वत्र मूल का अनुगामी है, केवल विवृति की धारावाहिता की रक्षा करने के लिए कहीं-कहीं पुरुष वचन एवं काल का व्यत्यय करना जरूरी होगा। [1] ऋ. ५।१४।४; १०।१।१; ८।७।१२; ६।८।३ (द्र. ६।९।१)। [2] उषा न रामीर् अरुणैर् अपोर्णुते महो ज्योतिषा-

हाँक कर बाहर ले आए वे, एक साथ संवृत अन्धकार को ज्योति द्वारा किया विवृत।[4] शोभना, सुन्दरी नारी की तरह अपने तनु को जानती हैं उषा, उन्नता होकर खड़ी हैं, देखो हमारी आँखों के सामने स्नानरता, विद्वेषियों को, तमिस्राओं को अभिभूत करके दिवो दुहिता आई हैं ज्योति लेकर; देवी उषा आ रही हैं ज्योति द्वारा पराजित अपसारित करके समस्त अन्धकार, समस्त दुरित, अनिष्ट; तमिस्रा को ज्योति से निगूहित या प्रच्छादित करके आगे बढ़ती जा रही हैं अकुंठिता यौवनवती, प्रचेतना लेकर आई हैं सूर्य की, यज्ञ की, अग्नि की।[5] जो सूर्य स्थावर-जंगम के आत्मा हैं, वे हमारी समस्त तेजोहीनता, अनाहुति अस्वास्थ्य और दुःस्वप्न अपनी उस ज्योति द्वारा दूर कर दें जिससे तमिस्रा को वे करते हैं अभिभूत, जिस प्रभा से विश्वजगत को करते हैं उद्यत।

पृथिवी में अग्नि वही ज्योति है जिसे मनु ने निहित या स्थापित किया है विश्वजन के लिए [११६३]; [1] वे पुंजीभूत ज्योति हैं, [2] वे बृहत् ज्योति हैं [3] वे महाज्योति हैं—देवताओं ने जिनको उत्पन्न किया है चित्ति अथवा विवेक द्वारा; [4] आवेगकम्प्र वाणी में जिस ज्योति का उल्लास है, वे उसके भर्ता हैं, प्रतिपालक हैं।

अन्तरिक्ष में द्युलोक के अन्तिम छोर पर इन्द्र वही आदित्य हैं [११६४] जो उपासक को उस विराट अभय ज्योति में उत्तीर्ण करते हैं, जहाँ दीर्घ तमिस्रा उन तक नहीं पहुँचती [११६५]। अन्धतमस में जिस ज्योति को वे प्रस्फुटित करते हैं यजमान के लिए, उसे कोई छीन कर ले नहीं सकता (अवृकम्); यह ज्योतिरुच्छ्वास वे आहरण करते हैं उसके लिए ही जो प्राण और मन का साधक है (आयवे मनवे च), अँधेरे के साथ लड़ाई में प्रस्फुटित करते हैं ज्योति, ले जाते हैं और भी प्रकाश की ओर [११६६]।

उसके बाद द्युलोक में अश्विद्वय की ज्योति [११६७]: वे ज्योति प्रस्फुटित करते हैं विश्वजन के लिए, आर्य के लिए और प्रवक्ता विप्र के लिए। इसके अलावा है उषा की ज्योति; [1] सुन्दरी उषा ज्योति प्रस्फुटित करती हैं; वे जब झिलमिलाती हुई उठती हैं तब हम उनमें ही देखते हैं विश्व का प्राण और जीवन; समस्त ज्योति की श्रेष्ठ ज्योति हैं वे; दिवो दुहिता हैं वे, ज्योतिवस्त्रा हैं; अंग-अंग में विचित्र वर्णों

---

शुन्चता गो अर्णसा २।३४।१२। [3] २।१७।४, ५।३१।३। [4] एषा शुभ्रा न तन्वो विदानोर्ध्वेव स्नाती दृशये नो अस्थात्, अप द्वेषो बाधमाना तमांस्य उषा दिवो दुहिता ज्योतिषा गात् ५।८०।५; ७।७८।२; एषा सा नव्यम् आयुर् दधाना गूढ्वी तमो ज्योतिषोषा अबोधि, अग्र एति युवतिर् अह्रयाणा प्रा. चिकितत् सूर्यं, यज्ञम्, अग्निम् ८०।२ (द्र. ४।४२।६, ७।७८।३)। [5] येन सूर्य ज्योतिषा बाधसे तमो जगच् च विश्वम् उदियर्षि भानुना, तेनास्मद् विश्वाम् अनिराम् अनाहुतिम् अपामीवाम् अप दुष्ष्वप्न्यं सुव १०।३७।४।

[११६३] ऋ. नि त्वाम् अग्ने मनुर् दधे ज्योतिर् जनाय शश्वते १।३६।१९; [1] ज्योतिरनीकः ७।३५।४, [2] ५।२।९, [3] देवासो अग्निं जनयन्त चित्तिभिः ... ज्योतिषा महाम् ३।२।३; [4] ३।१०।५।

[११६४] तु. ऋ. शृणोतु मित्रो अर्यमा भगो नस् तुविजातो वरुणो दक्षो अंशः २।२७।१ (सूक्त के देवता आदित्यगण हैं; इन्द्र का उल्लेख नहीं किन्तु उनके विशेषण 'तुविजात' का उल्लेख है; ऋक् संहिता में अन्यान्य देवताओं के लिए प्रयुक्त होने पर भी इसका सब से अधिक प्रयोग इन्द्र के लिए किया गया है। आदित्य सात हैं किन्तु मार्ताण्ड को लेकर आठ द्र. १०।७२।८, ९); इन्द्र आदित्य ७।८४।४; ८५।५; द्र. ४।१८ सूक्त। सूर्य के साथ इन्द्र की एकात्मकता: विभ्राजञ् ज्योतिषा स्वर् अगच्छो रोचनं दिवः ८।९८।३।

[११६५] ऋ. उर्व अश्याम् अभयं ज्योतिर् इन्द्र मा नो दीर्घा अभि नशन् तमिस्राः २।२७।१४।

[११६६] ऋ. १।१००।८+५५।६; ८।१५।५ (१०।४३।८); १६।१०।

[११६७] तु. ऋ. १।९२।१७, ११७।२१, १८२।३। [1] १।४८।८, १०; ११३।१ (पूरा सूक्त ही द्रष्टव्य), १२४।३ अधि पेशांसि वपते नृतुर् इवापोर्णुते वक्षः ... ज्योतिर् विश्वस्मै भुवनाय कृण्वती ... व्य् उषा आवर् तमः ९२।४; इदम् उ त्यत् पुरुतमं पुरस्ताज् ज्योतिस् तमसो वयुनावद् अस्थात्, नूनं दिवो दुहितरो विभातीर् गातुं कृण्वन्न् उषसो जनाय ४।५१।१, ५।८०।६ (तु. १।१२४।७), ७।७९।२; ८।७३।१६। [2] ४।१४।२; ५।६३।४ युद्ध अन्धकार के साथ; ८।१०१।१२ (असुर्य,

की छटा बिखेरती हैं नर्तकी की तरह, खोल देती हैं वक्ष, विश्व-भुवन के लिए ज्योति प्रस्फुटित करके अपावृत करती हैं तमिस्रा; देखो यह वही पूर्ण-तम ज्योति आँखों के सामने तमिस्रा से जागी है पथ का सन्धान लेकर, देखो दिवो दुहिता लोगों के सामने आकर कल्याणी नारी की तरह निर्धारित करती हैं रूप की धारा... फिर पहले की तरह ही यौवनवती प्रस्फुटित करती हैं ज्योति; उनकी आलोक धेनुएँ तमिस्रा को समेट कर लाती हैं, ज्योति को उद्यत करके सविता की दो बाँहों की तरह; अरुणवर्णा उषा ने दर्शन दिया फूट पड़ी ज्योति ऋतम्भरा। हैं **सूर्य** की ज्योति; [2]आपूरित कर रखा है द्यु-लोक पृथिवी और अन्तरिक्ष को सूर्य ने अपनी रश्मि द्वारा चिन्मय होकर; सूर्य ज्योति स्वरूप हैं, गतिशील हैं अपरूप आयुध के रूप में अपनी महिमा से वे देवताओं के असुर्य पुरोहित हैं, वे वह विभु ज्योति हैं, जिसे कोई प्रवंचित कर सकता नहीं; महाज्योति वहन करके लाते हैं वे सर्वदर्शी हैं;— दीप्तिमान हैं, आँखों के आनन्द हैं, अजर-जरा रहित नक्षत्र हैं, वे सर्वजन की ज्योति हैं; द्युलोक के धर्म और धृति में निवेशित असुरघाती शत्रुघाती ज्योति हैं वे; ये ही ज्योति-समूह की श्रेष्ठ और उत्तम ज्योति हैं, ये ही विश्व-जित् हैं, धनजित् हैं, इन्हें ही कहते हैं बृहत्; इन्होंने ही विश्व-भुवन को धारण कर रखा है विश्वकर्मा होकर, विश्वदेवता की महिमा में; ये बन्धु हैं, ज्योति इनका आवरण है जरायु जैसा; इन्द्र जब अहिरूपी वृत्र का वध करते हैं अपने प्राणोच्छ्वास से, उसी समय इस सूर्य को द्युलोक में आरूढ़ करवाते हैं दर्शन के लिए; सूर्य आत्मा हैं जंगम के और स्थावर के भी। फिर हैं <u>अदिति के पुत्रगण</u>, [3]जो जीवन के लिए अजस्र ज्योति प्रदान करते हैं मर्त्य मानव को। हैं <u>सोम्य</u> ज्योति, [4]जिसे प्राप्त करना ही याज्ञिक परम पुरुषार्थ है; सोम देते हैं शाश्वत ज्योति, शाश्वत सौर दीप्ति... हमें करते हैं और भी ज्योतिर्मय; हमारे लिए उनकी धारा करती है ज्योति आहरण; परिशोधित होते-होते जन्म देते हैं वे द्युलोक से सुदर्शन वज्र जैसी वैश्वानर बृहत् ज्योति को; जन्म देते हैं वे ऋत को बृहत् को शुक्ल ज्योति को कृष्ण तमिस्राओं का हनन करके; उनका रस विशिष्ट शक्ति के रूप में विराजता है झिलमिलाकर विश्वज्योति के रूप में सूर्य के दर्शन के लिए; वही तो उनका सत्य... कि उन्होंने दिन के लिए रची ज्योति और लोक की विपुलता, विपुल ज्योति रचते हैं वे, मत्त कर देते हैं देवताओं को; इन्द्र में वे आहित करते हैं ओजस्विता, सूर्य में ज्योति उत्पन्न करते हैं इन्दु होकर; ज्योतियाँ उन्हीं की हैं, उनका ही सूर्य; आदिम हैं वे, हमारे लिए ही प्रदीप्त करते हैं ज्योतियों को; देते हैं वे हमें शान्ति, महाभूमि और ज्योति, दीर्घ काल हमें देते हैं— सूर्य को देखने के लिए। पुनः [5]जो आलोक धेनुएँ गोपित रहीं अमृत के बन्धन में, तमिस्रा के भीतर ज्योति के अन्वेषण में **बृहस्पति** ने उन आलोकमयी धेनुओं का उद्धार किया नीचे के दो और ऊपर के एक द्वार से अर्थात् तीनों द्वारों को ही किया विवृत।

---

प्राणोच्छल, तु॰ ३।५५ सूक्त); १०।३७।८; १५६।४; १७०।२,३ ('धन', जिसके पीछे सभी भागते हैं; पुरुषार्थ); ४; अयं वेनः ... ज्योतिर्जरायुः १२३।१ (इस सूक्त में सूर्य और सोम अथवा चित् और आनन्द की एकता दिखाई गई है) ११५।४, ११५।१। [3] यस्मै पुत्रासो अदितेः प्रजीवसे मर्त्याय ज्योतिर् यच्छन्त्य अजस्रम् १०।१८५।३। [4] द्र॰ ९।११३।७-८, ११४।२; ९।४।२; ३५।१; ६१।१६; पवमान ऋतं बृहच्छुक्रं ज्योतिर् अजीजनत् कृष्णा तमांसि जङ्घनत् ६६।२४, ६१।१८; तन् नु सत्यं पवमानस्यास्तु ... ज्योतिर् यद् अह्ने अकृणोद् उ लोकम् ९२।५ (माध्यन्दिन द्युति की विपुलता अथवा विष्णु का परमपद ही पुरुषार्थ); ९४।५; ९७।४१ (शक्ति, चेतना और आनन्द का समाहार); ८६।२९, ३६।३; ९१।६ (उरुक्षेत्र, उरुक्षय, उरुक्षिति, उरुलोक = उपनिषद् की महाभूमि— क॰ १।१।२४)। [5] १०।६७।८। तीन द्वार, तु॰ वल के ६।१८।५; आप्रीसूक्त में 'देवीर्द्वारः'; उससे अलग १०।१२०।८। अन्यत्र वरुण के तीन पाश १।२५।१; ऐउ॰ तीन आवसथ, १।३।१२ नीचे के दो द्वार हैं हृदय और भ्रूमध्य, ऊपर का एक द्वार मूर्धा।

इस प्रकार हमने देखा कि ज्योति ही देवता का स्वरूप है और अन्धकार से ज्योति का उत्सारण उत्क्षेपण ही उनके वैभव का परिचय है। यह ज्योति [११६८] हम सब की नित्य काम्य वस्तु है; [१] यह जिस प्रकार परम व्योम में महाज्योति है उसी प्रकार देवकाम की समिद्ध अग्नि में विपुल ज्योति है तथा इन्द्र प्रदिष्ट सौरदीप्तिमय अभय ज्योति है। [२] यह उस प्रथम बीज की झिलमिलाती ज्योति है, जो अन्धकार में निगूढ़ है — सत्यमंत्रे पिताओं ने जिसे पाकर उषा को जन्म दिया है। [३] ज्योति के भीतर यह ज्योति [४] तीन आवर्तों में उठ गई है ऊपर की ओर, [५] द्युलोक में नित्य जाग्रत वह उत्तम ज्योति हुई है जो तमिस्रा के उस पार उत्तर ज्योति को भी पार कर गई है। [६] इस ज्योति से प्रवासी होना या दूर होना हम नहीं चाहते। [७] दायाँ-बायाँ हम पहचानते नहीं, आगा-पीछा भी नहीं पहचानते; मूढ़ता से हो चाहे धीरता से ही हो उस अभय ज्योति का हम उपभोग करना चाहते हैं, जिसे आलोक के देवता आदित्य गण हमारे पास ले आएँगे। [८] जीवित रहते हुए ही हम अवश्य इस ज्योति का आस्वाद प्राप्त करें।

यह ज्योति सब के लिए है: [११६९] वैश्वानर रूपी इस देवता को, इस ज्योति को देवताओं ने जन्म दिया है आर्यों के लिए; [१] इन्द्र ने इस आर्य ज्योति को, इस सौर-दीप्ति को खोजकर प्राप्त किया है मनु के लिए; [२] विश्वजनीन है यह अमृत ज्योति, विश्वमानव के देवता सविता इसका आश्रय लेकर उदित हुए हैं।

यह ज्योति सर्वत्र है: [११७०] हंस रूप यही ज्योति निषण्ण है शुचि में — आलोक के रूप में अन्तरिक्ष में, होतृरूप में वेदि में, अतिथि रूप में द्रोण में, निषण्ण है नर में, वरेण्य में, ऋत में, व्योम में; उनका जन्म हुआ है अप् से गो से, ऋत से, अद्रि से; वे ऋत (एवं बृहत्) हैं। अग्नि में इस विश्वरूप वैश्वानर ज्योति का दर्शन करके ऋषि भरद्वाज कहते हैं: [१] 'देखो यही प्रथम

[११६८] तु॰ ऋ॰ गूहता गुह्यं तमः ... ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि १।८६।१०; [१] ४।५०।४, ६।३।१ (७।५।६), ६।४७।८। [२] प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिः ... वासरम् ८।६।३० + गूळ्हं ज्योतिः पितरो अन्वविन्दन् सत्यमंत्रा अजनयन्न् उषासम् ७।७६।४। [३] १०।१४।६। [४] ७।१०१।२ (तु॰ शौ॰ ८।१।८, १०।७।४०; वा॰ ८।३६; शौ॰ ८।५।११)। तु॰ ऋ॰ 'इदं त एकं पर ऊ त एकं तृतीयेन ज्योतिषा सं विशस्व, संवेशने तन्वश्चारुर् एधि प्रियो देवानां परमे जनित्रे' — तुम्हारी यह एक ज्योति (आधार में अग्नि रूप), तुम्हारी वह एक ज्योति (द्युलोक में सूर्य रूप में), एक हो जाओ तृतीय ज्योति के साथ (जो परम व्योम में अदृश्य रूप में है); उस समत्व प्राप्त एक रूप तनु में चारु या सुदर्शन बनो, देवताओं के प्रिय बनो परम उत्स में १०।५६।१। Geldner का कहना है कि तृतीय ज्योति के साथ 'प्रेत' अथवा मृत व्यक्ति एक हो जाता है; किन्तु प्राकृत या स्वाभाविक मृत्यु के अतिरिक्त वैवस्वत मृत्यु भी है। [५] ८।८९।१ + १।५०।१०। [६] मा ज्योतिषः प्रवसथानि गन्म २।२८।७। [७] न दक्षिणा विचिकिते न सव्या न प्राचीनम् आदित्या नोत पश्चा, पाक्या चिद् वसवो धीर्या चिद् युष्मानीतो अभयं ज्योतिर् अश्याम् २।२७।११ (धीरता = ध्यान चित्तता)। [८] जीवा ज्योतिर् अशीमहि ७।३२।२६।

[११६९] ऋ॰ १।५९।२ (७।५।६, २।११।१८); [१] १०।४३।४ अतएव समस्त मानवजाति के लिए; [२] ७।७६।१।

[११७०] ऋ॰ हंसः शुचिषद् वसुर् अन्तरिक्षसद् होता वेदिषद् अतिथिर् दुरोणसत्, नृषद् वरसद् ऋतसद् व्योमसद् अब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम् ४।४०।५ (यजुः संहिता का पाठ है 'ऋतं बृहत्' वा॰ १०।२४, १२।१४; तै॰ १।८।१५।२)। 'शुचि' आकाश अथवा हृदय; 'दुरोण' ॥ द्रोण, सोमपात्र — ब्राह्मण में अग्नि की तरह सोम भी अतिथि, अग्नि का प्रसंग पहले ही है; 'नृषद्' सभी मनुष्यों में और 'वरषद्' प्रवक्ता में तु॰ क॰ १।२।१४; 'अप्' कारण सलिल तु॰ ऋ॰ १।१६४।४१; 'गो' अन्तर्ज्योति; 'अद्रि' सोम कूटने का पत्थर, अन्धतामिस्र का प्रतीक।
[१] अयं होता प्रथमः पश्यतेमम् इदं ज्योतिर् अमृतं मर्त्येषु, अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तोऽमर्त्यस् तन्वा वर्धमानः। ध्रुवं ज्योतिर् निहितं दृशये कं मनो जविष्ठं पतयत् स्वन्तः,

होता या आवाहन कर्ता हैं, इन्हें तुम ध्यान पूर्वक देखो। मर्त्यों में वे ही अमृत ज्योति हैं। देखो, वे जन्मे हैं, ध्रुव रूप में निषण्ण हैं वे — अमर्त्य रूप में तनु के साथ उत्तरोत्तर बढ़ते जा रहे हैं। ध्रुव ज्योति के रूप में सब के भीतर निहित हैं वे — दर्शन देने के लिए; उड़नेवालों में मन हैं वे — द्रुततम। सारे विश्व देवता एक मन एक चेतना के साथ सुछन्दित स्वच्छन्दता के साथ एक क्रतु की दिशा में यात्रा-रत हैं। उद्यत रहें मेरे दोनों कान, फड़कते रहें मेरे चक्षु, फरफराती रहे ज्योति — हृदय में जो आहित है, स्थापित है। मेरा मन तो सुदूर की भावना में विचरण कर रहा है; क्या कहूँ, क्या सोचूँ? हे अग्नि! विश्व देवताओं ने तुम्हें प्रणाम किया डरते-डरते, जब तुम तमिस्रा में थे। वैश्वानर हम सब की रक्षा करते रहें कल्याण के लिए, अमर्त्य हम सब की रक्षा करते रहें कल्याण के लिए।'

इस ज्योति का साधन जिस प्रकार बाहर में याग है, उसी प्रकार अन्तर में योग है [११६१]; [१]मनन और ज्योति का प्रज्ञान हृदय द्वारा होता है ... उस समय द्युलोक और भूलोक का सब कुछ दिखाई देता है। [२]मन को धारण कर रखा है जिन सुकर्माओं या सुकृतात्माओं ने, वे ही द्युलोक को रूप देते हैं त्वष्टा की तरह। [३]ज्योति को प्राप्त करते हैं वे, ध्यान द्वारा जब वे उसे रूप देना चाहते हैं। इसलिए हमारे लिए यह आर्ष अनुशासन है; [४]यज्ञ के तन्तु को वितत करके अनुसरण करो (प्राण-)लोक की भाँति अथवा दीप्ति का; ध्यान द्वारा रचा है जो ज्योतिर्मय पथ, उसकी रक्षा के लिए सन्नद्ध रहो। इस तरह बुनो गायकों के कर्म को, कोई गाँठ न पड़े; मनु अर्थात मननशील बनो, जन्म दो दिव्य जनों को। क्योंकि [५](हमारे पितृ पुरुषों ने) ध्यान करते-करते ही विपुल ज्योति को प्राप्त किया था। इसलिए हम कह सकते हैं : [६]हमने सोमपान किया है, हम अमृत, अमर हो गए हैं और प्राप्त किया है देवताओं को।

इस ब्रह्मघोष में ज्योति की एषणा की परिसमाप्ति है [११६२]।

---

विश्वेदेवाः समनसः सकेता एकं क्रतुम् अभिवियन्ति साधु। वि मे कर्णा पतयतो वि चक्षुर् वी.दं ज्योतिर् हृदय आहितं यत्, वि मे मनश् चरति दूर आधीः किं स्विद् वक्ष्यामि किम् उ नू मनिष्ये। विश्वेदेवा अनमस्यन् भियानास् त्वाम् अग्ने तमसि तस्थिवांसम्, वैश्वानरोऽवतू.तये नोऽमर्त्यो अवतू.तये नः, ६।९।४-७। इन कई मंत्रों में वैदिक दर्शन का सार तत्व मर्मस्पर्शी भाषा में व्यक्त हुआ है। साध्य, साधन, साधक और साधना का परिचय अत्यन्त स्पष्ट है। ब्राह्मण और उपनिषद में बहुउल्लिखित ब्रह्म के द्वारपालों में चक्षु, श्रोत्र, मन और हृदय को यहाँ पाते हैं। परमपद का वर्णन 'एक क्रतु' के रूप में किया जा रहा है, जो उपनिषद की भाषा में 'ज्ञानमयं तपः' अथवा ब्रह्म का चिन्मय सृष्टि वीर्य या रचना-सामर्थ्य है (तु. मु. १।१।९)।

[११६१] ऋ. में क्रमानुसार 'यज्ञ' एवं 'धी' अथवा 'धीति'। निघ. में 'धी' कर्म (२।१) एवं प्रज्ञा (३।९) दोनों ही। [१]हृदा मतिं ज्योतिर् अनुप्रजानन् ... आद् इद् द्यावा पृथिवी पर्य् अपश्यत् ३।२६।८ (यज्ञ के फलस्वरूप मन ही ज्योति हो जाता है)। [२]मनोधृतः सुकृतस् तक्षत द्याम् ३।३८।२ (द्युलोक साध्य है, उसका साधन मन की धृति एवं कर्म का सौष्ठव दोनों ही; अव्याकृत को व्याकृत करना तक्षण है, तु. १।१६४।१, १०।१८४।१) [३]विदन्त ज्योतिश् चकृपन्त धीभिः ४।१।१४; [४]तन्तु तन्वन् रजसो भानुम् अन्विहि ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान्, अनुल्बणम् वयत जोगुवाम् अपो मनुर् भव जनया दैव्यं जनम् १०।५३।६ (इस तंतु के तनन से ही परवर्ती काल में तंत्र, द्र. वेमी. ११३६) 'मनु' १।३६।१९, ८०।१६, ११४।२, २।३३।१, ४।२६।१ ...; वे आदि पिता एवं मनुष्य धर्म के प्रवर्तक हैं; देवजन्म ही यज्ञ का लक्ष्य है, द्र. ऐब्रा. ३।१९। [५]उरु ज्योतिर् विविदुर् दीध्यानाः ७।९०।४। [६]अपाम सोमम् अमृता अभूमागन्म ज्योतिर् अविदाम देवान् ८।४८।३ (लक्षणीय. विश्वदेव = ज्योति)। इस प्रसंग में, तु. 'महाँ असुन्वतो वधो भूरि ज्योतींषि सुन्वतः' जो सोमयाजी नहीं, उसकी महती विनष्टि, और सोमयाजी को विपुल ज्योति की प्राप्ति ८।६२।१२।

[११६२] द्र. ऋक् संहिता ९।११३, ११४ सूक्त। प्रकाश और प्रकाश देने के अर्थ में संहिता में इन संज्ञाओं का ही प्रयोग अधिक है — स्वः, हिरण्य, रश्मि, दीधिति, गभस्ति, मरीचि,

देवता का स्वरूप ज्योति है। आकाशस्थ सूर्य उसका प्रतीक है। सूर्य में
जिस प्रकार प्रकाश है, उसी प्रकार ताप भी है। प्रकाश से उजाला होता है और
ताप अथवा तपः से सृष्टि होती है। आध्यात्मिक दृष्टि से एक प्रज्ञा है और एक
शक्ति है। दोनों अभिन्न हैं। दोनों को एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता।
इसके अतिरिक्त सूर्य आदित्य अर्थात अदितिपुत्र हैं। अदिति संज्ञा का अर्थ
है अखण्डिता, अबन्धना। वे आनन्त्य रूपिणी हैं, आकाश उनका प्रतीक है।
उनकी चर्चा आगे चलकर करेंगे। आकाश में आदित्य ज्योति एवं ताप का प्रसा-
रण कर रहे हैं — देवता का यह प्रत्यक्ष दृष्ट वैभव वैदिक अध्यात्म भावना का उद्दीपक
अथवा प्रेरणा स्रोत है। आकाश, ज्योति एवं तप ये तीनों भावनाएँ अभिन्न रूप से
देवभावना की सहचर हैं। ज्योति की चर्चा के बाद अब हम आकाश की चर्चा करेंगे।

ऋक् संहिता में आकाश की दो प्रधान संज्ञाएँ हैं — एक 'दिव' और एक 'व्योमन्'।
पहली में रूप की द्योतना है, दूसरी में नहीं, उसमें केवल व्याप्ति और तुंगता का
संकेत है [११६३]। संहिता में लोक अथवा चेतना की भूमि की साधारण संज्ञा 'रजः' है।
१ व्योम उससे भी परे है अर्थात व्योम लोकोत्तर है। प्राय: सर्वत्र इस शब्द के साथ 'परम'
'विशेष' दिया गया है। तो फिर 'परम व्योम' वह लोकोत्तर शून्यता है जिसके उस पार और
कुछ भी नहीं। इसलिए यह फिर [2] 'प्रथम' व्योम है जो देवताओं का सदन है। जहाँ तीन-
तीन बार सोम के लिए सप्त धेनुएँ सत्य आशीः क्षरण करती हैं, वह [3] 'पूर्व्य' है।
४ परम व्योम प्रत्न पिता का पद अथवा धाम है। ५ वह अक्षर परम व्योम है जहाँ विश्व
देव गण निषण्ण हैं, ऋचाएँ वहाँ ही हैं, उस परम व्योम में ही गौरी वाक् सहस्राक्षरा है।
६ इसी परम व्योम में मित्र वरुण सत्यधर्मा रूप में हैं, यहाँ ही सब से पहले महा-
ज्योति से बृहस्पति का जन्म। ७ इसी परम व्योम में इन्द्र रोदसी को धारण किए हुए
हैं जिस प्रकार भग ने धारण किया है अपनी दोनों पत्नियों को। ८ जो विश्व भुवन के

---

भा, द्योतना, भानु, हरि, गो, तपः, द्युम्न, अर्चिः महः केत, केतु, त्वेष, धाम...; √ मर,
हृ, घृ, अर्च, द्युत, उष्, काश्, दीप्, भा, भ्राज्, रुच्, शुच्... विशेष रूप से प्रणिधान
योग्य।

[११६३] पदपाठ 'वि. ओमन' < √ अव, धातुपाठ में उसके उन्नीस अर्थ हैं। प्रसाद, परिरक्षण
और संवरण — साधारणतः इन तीन अर्थों में संहिता में इस धातु और धातुज का प्रचुर
प्रयोग है। उणादि सूत्र 'व्योम' निपातने सिद्ध < √ व्येञ् संवरणे (४५७)। पद पाठ में ओम के
साथ सुस्पष्ट सम्बन्ध सूचित होता है। ओम् वही गौरी अथवा एकपदी वाक् है जो परम
व्योम में सहस्राक्षरा है (ऋ. १।१६४।४१)। तो फिर अधिदैवत एवं अध्यात्म दोनों दृष्टियों
से ही यह व्योम ब्रह्म है एवं वाक् अथवा ओम् उसका अविनाभूत, अभिन्न परिस्पन्द है (तु.
यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक् १०।११४।८। १ ऋ. ना.सीद् रजो नो व्योमा परो यत् १०।१२९।१
(जो कुछ सत् है, उसकी स्थिति रज में है, उसके ऊपर व्योम अथवा असत् है; किन्तु
आदि अव्याकृत को सत अथवा असत् कुछ भी नहीं कहा जा सकता — 'ना.सद् आसीन्
नो सद् आसीत् तदानीं' १)। तु. इन्द्र 'अस्य पारे रजसो व्योमनः' १।५२।१२। एक जगह
अन्तरिक्ष अर्थ में प्रयुक्त है 'ज्येष्ठासो न पर्वतासो व्योमनि' ५।८७।९। २ ८।१३।२। ३ त्रिर
असौ सप्त धेनवो दुदुह्रे सत्याम् आशिरं पूर्व्ये व्योमनि ९।७०।१ (तु. ८६।२१)। अप की
सात धेनुएँ अथवा प्राण की ऊर्ध्वस्रोता सात धाराएँ, तु. ५।४३।१, ९।८६।२५, ६६।८।
सोम में जो मिलाया जाता है, वह 'आशीः' है — जौ का सत्तू, दूध और दही मिलाने से
सोम यवाशीः, गवाशीः एवं दध्याशीः अर्थात क्रमानुसार तारुण्य, ज्योति एवं प्रज्ञानघनता
का वाहन है। ४ ९।८६।१४, १५। 'प्रत्न पिता' द्यौः; द्यावा-पृथिवी आदि जनक-जननी हैं।
तु. विष्णु का परमपद १।२२।२०, २१, १५४।५, ६। ५ १।१६४।३९; ४१, इसी वाक् से सृष्टि,
तु. ४२। ६ ५।६३।१, ४।५०।४, ३।३२।१०, ७।५।७ (१।१४३।२ अग्नि का जन्म)। ७ भगो न मेने
परमे व्योमन्न् अधारयद् रोदसी सुदंसाः १।६२।७ (रोदसी, द्यौः एवं पृथिवी; ऋ. संहिता में
द्यौः स्त्री लिंग भी है, इसलिए दो पत्नी की उपमा; भग एक आदित्य की संज्ञा है और
संहिता के सुप्राचीन देवता हैं — ये ही भागवतों के भगवान हैं। शब्रा. के पुरुषमेध यज्ञ
के वे 'नारायण' हैं १३।६।१।१-२; उनकी दो पत्नी — श्री और लक्ष्मी, वा. ३१।२२, अध्यात्म दृष्टि
से चित् और आनन्द; तु. पौराणिकों के अनुसार दो विष्णुपत्नी — श्री एवं भू; तंत्र में एक

अध्यक्ष हैं, वे हैं इसी परमव्योम में; यहाँ ही विश्वदेव गण स्वराट् इन्द्र और सम्राट् वरुण में ओज और बल का आधान कर रहे हैं। अप्सरा तरुणी हँस-हँस कर बन्धु या प्रिय को परमव्योम में ले जाती है।[१०] परम व्योम में ही यज्ञ की शक्ति अथवा सार्थक परिणाम, इष्टापूर्त का भी; जो यज्ञ भुवन की नाभि है उसके अधिष्ठाता तो ब्रह्मा हैं, वे ही वाक् के परम व्योम हैं। संक्षेप में [११] असत और सत दोनों ही इसी परम व्योम में हैं— जो दक्ष का जन्म-स्थान है, अदिति का उपस्थ है योनि है।

अध्यात्म दृष्टि से परम व्योम चेतना की सर्वोच्च भूमि है। ऋक् संहिता में उसका और भी परिचय हमें प्राप्त होता है 'अनिबाध', 'उरुलोक' एवं बृहत् की भावना में। विश्वदेव गण को लक्ष्य करते हुए अत्रि की आकूति: 'हे देवगण हम विपुल (उरौ) अनिबाध में रह सकें [११६४]।' अनिबाध के विपरीत एक संज्ञा 'सबाध' है, साधारणत: उससे ऋत्विक का बोध होता है: व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है, जिसमें 'बाध', या चेतना का संकोच है।[१] बाध से अनिबाध अथवा चेतना की विपुलता में उत्तीर्ण होना ही उपासक का परम पुरुषार्थ है।...[२] 'ऋत की योनि में अथवा परम अव्यक्त में (शिशुरूप में) सोए हैं जो अग्नि (इस) धा को प्यार करते हैं, वे महान् होकर विपुल अनिबाध में बढ़ते जा रहे हैं।' पृथिवी की अग्नि की तरह आकाशस्थ सूर्य भी [३] 'अनिरुद्ध, अनिबद्ध— किस तरह वे अधोमुख नीचे की ओर नहीं आ रहे हैं, किसने देखा है कि किस स्वप्रतिष्ठा में वे चलते हैं, द्युलोक के संहत स्तम्भ होकर रक्षा कर रहे हैं उससे भी ऊपर लोक की।' इन तीनों मंत्रों में ही महाव्योम में चेतना की व्याप्ति, विस्फारण (प्रसारण) और स्वच्छन्द संचरण की व्यंजना है।

अबाधित चेतना में 'लोक' अर्थात् आलोक का भुवन स्फुरित होता है [११६५]।

---

नील सरस्वतीधारा, और एक गजलक्ष्मी, अथवा कमला; विशेष विवरण द्रष्टव्य 'भग')। ८१०।१२७।६; ७।८२।२ (तु. सप्तशती के मध्य चरित्र में देवी का आविर्भाव)। अप्सरा जारम् उपसिष्मियाणा योषा बिभर्ति परमे व्योमन् १०।१२३।५ (बन्धु = वेन, यहाँ सूर्य अथवा सोम, चित् अथवा आनन्द; 'योषा' उषा या वाक् अथवा अप्)। [१०] ५।१५।२, १०।१४।८; अयं यज्ञो भुवनस्य नाभि: ··· ब्रह्मा.यं वाच: परमं व्योम १।१६४।३५ (वाक् वहाँ सहस्राक्षरा ४१, ब्रह्मा का बृहत् अथवा परिव्याप्त चेतना भी तंत्र की भाषा में सहस्रदल)। [११] असच्च च सच्च परमे व्योमन् दक्षस्य जन्मन् अदितेर् उपस्थे १०।५।७ ('अदिति' आनन्त्य चेतना, दक्ष उनका प्रज्ञावीर्य, तु. अदितेर् दक्षो अजायत दक्षाद् व. दिति: परि ७२।४, अर्थात अनुलोम और विलोम क्रम में एक से दूसरे का आविर्भाव— जिस प्रकार सिद्ध और साधक के मध्य। 'दक्ष' एक आदित्य २।२७।१। पुराण में वे प्रजापति, सती अथवा आद्याशक्ति उनकी कन्या)।

[११६४] ऋ. उरौ देवा अनिबाधे स्याम ५।४२।१७ (४३।१६) [१] तु. १।१६४।८, ३।२७।६, ४।१७।१८, २३।४, ७।८।१, २६।२, ५३।१, ६१।६, ९४।५, ८।६७।१, ६४।६, १२, १०।१०१।१२, ५।१०।६। तीन रूप सबाध, सबाध, सबाधस्। निघ. 'सबाध' ऋत्विक ३।१८, बाध अथवा चेतना का संकोच जिसमें है, वह प्रवर्त साधक है। इस बाध का एक और नाम है 'अंह:'— योग का 'क्लेश', अथवा वेदान्त की 'अविद्या', जिसने 'अनिबाध' अथवा बृहत् की विपुल प्रगाढ़ चेतना से जीव को वंचित कर रखा है। इसलिए देवता के निकट प्रार्थना: 'भिन्धि विश्वा अप द्विष: परिबाधो जही मृध:,' ८।४५।४०; साह्वा इन्द्रो परिबाधो अपद्रयुम् ९।१०५।६— छिन्न-भिन्न करो (वृत्रशक्ति का) सारा विद्वेष, चारों ओर की बाधाओं को दूर करो, हनन करो उसकी समस्त अवज्ञा का; दलनकारी रूप में हे इन्द्र; दूर करो चारों ओर की बाधा का दबाव, और सारी द्विधाएँ। [२] उरौ महाँ अनिबाधे ववर्ध··· ऋतस्य योनाव अशयद् दमूना: ३।१।११। [३] अनायतो अनिबद्ध: कथायं न्यङ्ङ् उत्तानो अव पद्यते न, कया याति स्वधया को ददर्श दिव: स्कम्भ: समृत: पाति नाकम् ४।१३।५ (१४।५; शौ. संहिता में ये सर्वाधार 'स्कम्भ', १०।७ सूक्त)। आधार की चिद्भूमि उसी ऊर्ध्व के अनिबाध वैपुल्य में निरन्तर वृद्धि पर है। उपनिषद् में वही जीव-ब्रह्म का ऐक्य है।

[११६५] लोक = रोक (तु. ऋ. ६।६६।६; दिवश् चिद् आ ते रुचयन्त रोका: ३।६।७)॥ रोचन (मौलिक अर्थ 'दीप्ति' उससे 'आलोक का भुवन' अथवा 'ज्योतिर्लोक'; यह ज्योतिर्लोक द्युलोक में अथवा उसके भी उस पार, संख्या में तीन हैं १।१०२।८, २।२७।९, ५।२९।१, ४।५३।५, ९।१७।५, १।१४९।४, ५।६९।१, ८।१।४, २।५६।८ ···; उनमें देवताओं का वास है १।१९।६, ३।६।८, १।१०५।५,

स्वभावत: वह लोक परिव्याप्त अथवा विपुल है क्योंकि विच्छुरण या प्रकीर्णन आलोक का धर्म है। अतएव उसकी पारिभाषिक संज्ञा 'उरुलोक' है। [११८६] जो कल्याण कृत, अग्नि उसके लिए रचते हैं आनन्दन (आनन्दप्रद) उरुलोक; बृहत् की चेतना में वर्द्धित होकर उनके साथ उसे रचते हैं सोम भी — यज्ञ के लिए।[1] जो इन्द्र हमारे सखा, पिता, पितृगणों में पितृतम, तारुण्य के विधाता हैं जो, यह उरुलोक रचते हैं वे उद्विग्न, उत्कंठित (यजमान) के लिए — सुसवनकृत वीर के लिए, जो उन्हें ही चाहता है उसके लिए, सहजता से जो प्रदान करता है प्रशंसा उसके लिए, तृत्सुओं के लिए। वृत्र अथवा अन्धकार का आवरण विदीर्ण करके वे रचते हैं यह आलोक का भुवन, अमित्रशील जनों को खदेड़ कर रचते हैं देवताओं के लिए। उनकी (सोम्य) मत्तता जो वीर्यवर्षी है, और स्पर्द्धा की विजयेच्छा, इस उरुलोक की रचयित्री है। फिर[2] इन्द्र विष्णु को, सोम को एवं वरुण को लेकर भी इस भुवन की रचना करते हैं।[3] देवता को पुकारने पर जो बृहस्पति हमारे जैसे लोगों के लिए भी आलोक के भुवन की रचना करते हैं वे वृत्र का हनन करके, विदीर्ण करते हैं उसकी पुरी, शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हैं।[4] पवमान सोम दिन के लिए प्रस्फुटित करते हैं ज्योति और लोक का वैपुल्य।[5] मैं यही उरुलोक चाहता हूँ जीवन में, वही प्राप्त करूँ मरण में भी [११८७]।

---

८।६९।३; वहाँ अमृत निगूढ़ है; उसका पता पाना कठिन है २।२४।८)। और भी तु. ९।११३।७, उरुक्षेत्रम् ९।१६।

[११८६] ऋ. ५।४।११ आन्यं दिवो मातरिश्वा जभारा मथनादन्यं परि श्येनो अद्रेः, अग्नीषोमा ब्रह्मणा वावृधानो. रुं यज्ञाय चक्रथुर् उ लोकम् १।९३।६ (आध्यात्मिक दृष्टि से अग्नि ऊर्ध्वशिखा अभीप्सा, जो आदित्य चेतना की अभिसारिका होकर भूलोक से द्युलोक की ओर जा रही है और सोम दिव्य आनन्द की धारा है जो द्युलोक से भूलोक की ओर निर्झरित होती है; दोनों एक दूसरे से सम्पृक्त हैं, यह समझाने के लिए उत्स को विपर्यस्त अथवा विलोम क्रम में दिखाया गया है; चेतना 'उरु' अथवा बृहत् न होने पर उत्सर्गसाधना निरन्तर और सार्थक नहीं होती; अतएव यज्ञ के लिए उरुलोक की रचना करना)।[1] ४।१८।१८ — ६।२३।३, ७, ७।२०।२, ३३।५ ('सुदास' एवं 'तृत्सु' यद्यपि संज्ञा शब्द हैं तब भी निरुक्ति की दृष्टि से जो भीतर घुसना चाहता है वह तृत्सु (< √तृद्, तु० क. २।११।१, 'प्रतर्दन' कौउ. ३।१; इस प्रकार नाम को आध्यात्मिक संकेत का वाहन करना एक प्राचीन रीति)। १०।१०४।१०, अपानुदो जनम् अमित्रयन्तम् उरु देवेभ्यो अकृणोर् उ लोकम् १८०।३ (देवेभ्य: — बहुवचन विश्वदेवगण अथवा परिव्याप्त विश्वचैतन्य का बोधक है)। मदं ... वृषणं पृत्सु सासहिम् उ लोककृत्नुम् ८।१५।४ (उ लोक < उरु लोक॥ उरुलोक, साम्य हेतु अक्षरच्युति का निदर्शन; अन्त में 'उ लोक' एक पदगुच्छ के रूप में रूढ़ हो गया, इसलिए कहीं-कहीं उसमें फिर 'उरु' विशेषण जोड़ा गया है। ऋक्पाद के आरम्भ में प्रयोग भी द्रष्टव्य ५।४।११, ८।१५।४, २।३६।११)।[2] उरु यज्ञाय चक्रथुर् उ लोकं जनयन्ता सूर्यम् उषा सम् अग्निम् ७।९९।४ (अग्नि, उषा एवं सूर्य क्रमश: अभीप्सा, प्रातिभ संवित् या चेतना एवं विज्ञान के प्रतीक हैं, तु. ३।३१।१५), इन्द्रासोमा युवम् अस्माँ अविष्टम् अस्मिन् भयस्थे कृणुतम् उ लोकम् २।३०।६ (भय वहाँ है जहाँ 'अंह:' अथवा चेतना की क्लिष्टता एवं 'बाधा' है; तु. तैउ. यदाह्य एवैष एतस्मिन् उदरम् अन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति २।७, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन २।९), युवो राष्ट्रं बृहद् इन्वति द्यौर् यौ सेतृभिर् अरज्जुभि: सिनीथ:, परि नो हेलो वरुणस्य वृज्या उरुं न इन्द्र: कृणवद् उ लोकम् — हे बृहत् तुम्हारी राज महिमा द्युलोक तक विस्तारित है, प्रेम की डोर के बन्धन से सब को बाँधो, वरुण की अवहेलना हमें छू न पाए, इन्द्र हमारे लिए उरुलोक की रचना करें (देवता की अध्यक्षता एवं प्रसाद का बन्धन; तु. छा. अथ य आत्मा स सेतुर् विधृतिर् एषां लोकानाम् असंभेदाय ८।४।१, बृ. ४।४।२२) ७।८४।२।[3] ६।७३।२ बृहस्पति, वाक् या मंत्र की चेतना।[4] ९।९२।५ (तु. ८।४८।३; अहन्, अथवा दिन का प्रकाश सम्बुद्ध चैतन्य का प्रतीक, तु. 'अहर्विद' १।२।२, १५६।४, ८।५।२१)।[5] तु. ममान्तरिक्षम् उरुलोकम् अस्तु १०।१२८।२; इसके अतिरिक्त मृत्यु के पश्चात् : अजो भागस् तपसा तं तपस्व ... यास् ते शिवास् तन्वो जातवेदस् ताभिर् वहैनं सुकृताम् उ लोकम् १०।१६।४।

[११८७] एक और समानार्थक संज्ञा 'वरिव:' है, ऋ. संहिता में अधिक प्रयुक्त है। तु. 'अंहो राजन् वरिव: पूरवे क:' १।६३।७ (क्लिष्टता से विपुलता में साधक की मुक्ति)।

चेतना की आकाशवत अनिबाध विपुलता की एक और संज्ञा बृहत् है। इस शब्द का प्रयोग क्लीब लिंग में किया जाता है। 'ऋतं बृहत्' ऋक् संहिता में एक पारिभाषिक पदगुच्छ है। जिससे एक साथ छन्द और वैपुल्य का बोध होता है। यह परमतत्त्व की व्यंजना का वाहक है [११७८] [1]<u>अग्नि</u> जिस देवगण का यजन करते हैं वह इस 'ऋतं बृहत्' का ही यजन है अथवा वे स्वयं ही 'ऋतं बृहत्' हैं। [2] सूर्य भी वही हैं और [3] सोम भी वही हैं। यह पवमान सोम जिस शुक्र ज्योति को जन्म देते हैं, वह 'ऋतं बृहत्' है; उसके द्वारा ही वे कृष्ण तमिस्रा का हनन करते हैं। समुद्र पार कर वे चलते हैं लहर-लहर में — ज्योतिर्मय राजा 'ऋतं बृहत्' हैं; वेग से दौड़ते चलते हैं मित्र और वरुण का धर्म मानकर — जब प्रचोदित होते हैं वे 'ऋतं बृहत्'। वे सहस्रधार वीर्यवर्षी हैं, पयोवर्द्धक हैं, देवजाति के प्रिय हैं; ऋत से उत्पन्न वे, ऋत में ही बढ़ते चल रहे हैं — ज्योतिर्मय राजा वे 'ऋतं बृहत्'। [4] एक स्थान पर विश्वदेवगण के पृथक उल्लेख के साथ वैसा ही उल्लेख हुआ है 'ऋतं महत् ··· स्वर बृहत' का।

इस प्रसंग में एक और संज्ञा द्रष्टव्य है; 'बृहद्दिन्' अथवा 'बृहद्दिव' (स्त्रीलिंग में 'बृहद्दिवा') जो सहज ही आलोकदीप्त आकाश के वैपुल्य की याद दिलाता है। लोक अथवा भुवन के अर्थ में इस संज्ञा का कोई भी प्रयोग नहीं प्राप्त होता [११७९]। इसके अलावा [1] अग्नि और इन्द्र 'बृहद्दिव' हैं, सरस्वती 'बृहद्दिवा' हैं और उर्वशी भी वही। [2] एक अज्ञातनामा देवी बृहद्दिवा हैं जो अन्यत्र केवल माता के रूप में उल्लिखित हुई हैं। साथ ही 'पिता' त्वष्टा का उल्लेख होने के कारण लगता है बृहद्दिवा आदि जननी की ही एक संज्ञा है। [3] फिर विश्वदेवगण बृहद्दिव हैं। यह संज्ञा इतनी अर्थवह है कि अन्त में वह [4] ऋषि के नाम में पर्यवसित हो गई। देवता का सायुज्य बोध ही जिस साधना का चरम लक्ष्य है — उसका यह श्रेष्ठ प्रमाण है। देवता भी बृहत्, द्युलोक भी बृहत् और मनुष्य भी बृहत्। बृहत् की इस भावना का निष्कर्ष हम उपनिषद् के ब्रह्मवाद में देखते हैं।

आकाश की तरह अनिबाध वैपुल्य में जो बृहत् हैं, वे सर्वत्र व्याप्त हैं। इसे समझाने के लिए देवता का एक विशेषण विश्वमिन्व है [११८०]। [1] अग्नि विश्वमिन्व हैं जिसे वे

---

[११७८] तु. ऋतं सत्यम् (ऋ. १०।१९०।१)। [1] ११७५।२। [2] ४।४०।५। [3] ९।८६।१। पवमान ऋतं बृहच् छुक्रं ज्योतिर् अजीजनत्, कृष्णा तमांसि जङ्घनत् ९।६६।२४। तरत् समुद्रं पवमान ऊर्मिणा राजा देव ऋतं बृहत्, अर्षन् मित्रस्य वरुणस्य धर्मणा प्र हिन्वान ऋतं बृहत् १०७।१५। सहस्रधारं वृषभं पयोवृधं प्रियं देवाय जन्मने, ऋतेन य ऋतजातो विवावृधे राजा देव ऋतं बृहत् १०८।८ ('पयः' आप्यायनी शक्ति, शुभ्र होने के कारण सत्वगुण का प्रतीक, तु. 'पयः कृष्णासु रुशद् रोहिणीषु' तीनों गुणों की स्पष्ट ध्वनि १।६२।९; ४।३।९)। [4] अदितिर् द्यावापृथिवी ऋतं महद् इन्द्राविष्णू मरुतः स्वर् बृहत्, देवाँ आदित्याँ अवसे हवामहे वसून् रुद्रान्त् सवितारं सुदंससम् १०।६६।४ (अनेक देवताओं में एक परम अद्वय तत्व की अभिव्यंजना; तु. १।१६४।४६, ३।५५ सूक्त)।

[११७९] किन्तु असमस्त प्रयोग द्र. ऋ. ६।२।४, ८।१।१८, १०।३।५ ···। मध्योदात्त एवं अन्तोदात्त दो रूप हैं, अन्तवाले में लोक और देवता एक। [1] ५।४३।१३ (= बृहस्पति), ४।२९।५, ५।४२।१२ (तु. 'बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, वाचस्पति' वाक् उस समय बृहती; वाक् और ब्रह्म का सहचार १०।११४।८) ५।४१।१९ ('उरु' अथवा वैपुल्य पर जिन्होंने अधिकार कर रखा है वे 'उर्वशी')। [2] २।३१।४; उत माता बृहद्दिवा शृणोतु नस् त्वष्टा देवेभिर् जनिभिः पिता वचः १०।६४।१० (तु. अनुरूप देव मिथुन अदिति-वरुण)। [3] १।१६७।२, २।२।९, ४।३७।३, ९।७९।१, १०।६६।८। [4] १०।१२०।८, 'एवा महान् बृहद्दिवो अथर्वा. वोचत् स्वां तन्वम् इन्द्रम् एव' — स्वयं को ही उन्होंने इन्द्र के रूप में घोषित किया था १०।१२०।९।

[११८०] < √इन्व (व्याप्तौ) < √इ+नु (गतौ), विश्वव्याप्त, विश्वगत; अतएव अन्तर्यामी प्रचोदक, प्रेरक। [1] ऋ. ३।२०।३, विश्वं स धत्ते द्रविणं यम् इन्वसि २।२८।२ (द्रविण < √द्रु

वे आच्छादित किए रहते हैं वह होता है निखिल (अग्नि-) स्रोत: – सम्पद का आधार।[2] मरुद्गण, इन्द्र, उषा, सविता, पूषा, ज्योति के द्वार,[3] द्यावा-पृथिवी[4] विश्वदेवगण सभी विश्वमिन्व हैं। वे अन्तर्यामी रूप में सभी मनुष्यों के भीतर ही हैं, इसलिए देवता 'विश्वानर' हैं [११८१]।

जो सर्व व्याप्त, सर्वगत, सर्व नियन्ता हैं, वे ही सब कुछ हुए हैं — वे विश्वरूप हैं [११८२] इन्द्र रूप-रूप में प्रतिरूप हुए हैं, सब में उनका प्रतिबिम्ब है, उनका यह रूप दर्शनीय है, वे अपनी विचित्र माया से अनेक रूपों में प्रकट हो रहे हैं। अधिष्ठाता को घेरे हुए हैं सभी; विचित्र श्री का वस्त्र पहिने चल रहे हैं वे स्वयंप्रभ; वीर्यवर्षी असुर का वह नाम जो महत; विश्वरूप होकर वे अमृत समूह में अधिष्ठित हैं। रूप-रूप में विचित्र हुए हैं मघवा (इन्द्र) — माया उनको अनेक रूपों में रचती-सिरजती है। वे विश्व भू हैं अर्थात वे ही यह विश्व हुए हैं।[1] विशेष रूप से त्वष्टा विश्वरूप हैं; एवं उनके पुत्र भी (त्वाष्ट्र) विश्वरूप हैं। अर्थात विश्व को देवता की आत्मसम्भूति अथवा विसृष्टि दोनों रूपों में ही देखा जा सकता है।[2] विश्व की उत्पत्ति अग्नि स्वरूप वृषभ-धेनु के एक मिथुन या युग्म से हुई — यो: वृषभ 'विश्वरूप' हैं — उनके तीन वक्ष या हृदय, तीन स्तन (थन), तीन मुख हैं, वे शक्तिमान हैं; सब के अधिपति हैं, समस्त धेनुओं के रेतोधा हैं, वे अनेक प्रकार से प्रजावान हैं,

'भागना [द्रुत गति से] गल जाना'; 'अग्नि द्रविणोदा:', योगाग्निमय शरीर की शिरा-शिरा में प्रवाहित होने के कारण)।[2] ५।६०।८ (तु. १।१०।८ 'विश्वव्यचसम अवतं मतीनाम' — आच्छादित किए हुए हैं सब कुछ मनन के गहरे कुएँ के रूप में ३।४६।४) बृहद्रथा बृहती विश्वमिन्वोषा ज्योतिर् यच्छत्य् अग्रे अह्नाम् ५।८०।२ (विज्ञान की दीप्ति प्रस्फुटित करने के पूर्व प्रातिभ संवित के उन्मेष का सुन्दर वर्णन), त्रिर् अन्तरिक्षं सविता महित्वना त्री रजांसि परिभूस् त्रीणि रोचना, तिस्रो दिव: पृथिवीस् तिस्र इन्वति ४।५३।५ (भूलोक, अन्तरिक्ष और द्युलोक अनुक्षण सावित्री दीप्ति से जगमग) 'धियं पूषा जिन्वतु विश्वमिन्व:' सब कुछ तो आच्छादित किए हुए हैं पूषा, वे धी अथवा ध्यान चेतना को स्फुरित करें २।४०।६, व्यचस्व उर्विया वि श्रयन्तां... देवीर् द्वारो बृहतीर् विश्वमिन्वा: १०।११०।५ (प्रत्येक पद में व्याप्ति की भावना, भूलोक से द्युलोक तक एक के बाद एक ज्योति के द्वार, द्र. आप्री देवगण)।[3] १।७६।२, ३।३८।८, ६।८१।५, १०।६६।११,[4] ३।४।५।

[११८१] सविता ऋ. १।१२६।१, ७।७६।१; इन्द्र १०।५०।१ (उसके बाद ही है, वे 'विश्व भू' अर्थात जो सब हुए हैं, तु. १०।५०।२)। अग्नि 'वैश्वानर'।

[११८२] ऋ. रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तद् अस्य रूपं प्रतिचक्षणाय, इन्द्रो मायाभि: पुरुरूप ईयते ६।४७।१८। आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषञ् छ्रियो वसानश् चरति स्वरोचि:, महत् तद् वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ ३।३८।४ ('असुर' देवता की महत्तम प्राचीन संज्ञा द्र. 'असुर', 'अमृतानि', प्रत्येक मर्त्य में निहित अज एवं अमृत ज्योतिर्भाग ६।९।४, १०।१६।४, इस अमृत को प्राप्त करना ही सब की दिव्य नियति – तु. भजन्त विश्वे देवत्वं नाम ... अमृतम् १।६८।४, ८।४८।३; इस मंत्र का देवता अनिरुक्त है किन्तु इस सूक्त के देवता इन्द्र हैं; Geldner के कथन के अनुसार सूर्य अथवा द्यौ:, वह एक ही बात है)। रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायां कृण्वानस् तन्वं परि स्वाम् ३।५३।८ ('माया' उनकी प्रज्ञा, सृष्टिवीर्य, तु. निघ. ३।९, <√मा निर्माणे > 'माता', तु. ऋ. ते मायिनो ममिरे सुप्रचेतस: १।१५९।४; आलोक फैला कर प्रकाश देता है, वही सृष्टि – धात्वर्थ में यही अनुषंग है; 'स्वा तनु' स्वरूप; तु. क. १।२।२३)। १०।५०।१।[1] १।१३।१०, देवस् त्वष्टा सविता विश्वरूप: पुपोष प्रजा: पुरुधा जजान ३।५५।१९ (सर्वभूत का जनन, पोषण एवं सविता रूप में प्रचोदन अथवा प्रेरणा उनका ही कार्य है, तु. १०।१०।५; २।११।१९ (तु. १०।८।९; यही 'त्वाष्ट्र' वृत्र, नि. २।१६ रहस्यार्थ के लिए द्रष्टव्य 'त्वष्टा')।[2] अग्निर् हि न: प्रथमजा ऋतस्य पूर्व आयुनि वृषभश् च धेनु: १०।५।७ (अग्नि एक साथ पिता माता एवं जातक, अदिति भी वही, तु. १।८९।१०; पिता ही पुत्र होकर जन्मते हैं अतएव स्रष्टा और सृष्टि एक १०।५०।२; धेनु-वृषभ की उपमा १।१४१।२, १६०।३, ३।३८।७, ५६।३, ४।३।१०;

यह धेनु 'विश्वरूपा' दक्षिणा (उषा के) (रथ की) धुरी में युक्त माता, उनका भ्रूण[२] था आवर्तों के मध्य, तीन योजन दूर से उन्हें देखकर बछड़ा रँभाया।[३] वृष रूप में बृहस्पति भी 'विश्वरूप'; सोम भी वही।[४] तात्पर्य यह कि वे एक ही सब कुछ हुए हैं।[५] उनकी इस विभूति का वर्णन पुरुष सूक्त में है — वे सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष, सहस्रपात विश्वरूप पुरुष हैं क्योंकि विश्व में जितने शिर, जितनी आँखें और जितने पाँव हैं, सभी उनके हैं, वे ही भूत-भविष्य यह सब कुछ हुए हैं, यह विश्वभूत उनका एक पाद है, उनका त्रिपाद द्युलोक में अमृत रूप में है।[६] देवता जब कहते हैं कि 'मैं ही सब कुछ हुआ हूँ' तब उनके साथ एक होकर मनुष्य भी कह सकता है कि मैं ही सब हुआ हूँ; **अतएव अंगिरागण** भी विश्वरूप हैं।

यहाँ हम देखते हैं कि ज्योतिर्मय बृहत्व ही देवता का स्वरूप है — यही वैदिक देववाद की मूल विषय-वस्तु है। ये देवता सर्वत्र हैं क्योंकि वे ही सब कुछ हुए हैं — जिस प्रकार बाहर, उसी प्रकार भीतर। बाहर में हम उन्हें वस्तुपरक दृष्टि से देवता रूप में देखते हैं। और अन्तर में आत्मपरक दृष्टि से आत्मरूप में देखते हैं। इन्द्रिय प्रत्यक्ष में जो अधिभूत है, वही चिन्मय प्रत्यक्ष में अधिदैवत एवं अध्यात्म है [११८३]। जिस प्रकार बाहर में सूर्य देखता हूँ; यह दृष्टि व्यावहारिक है। इसमें रूप ही देखता हूँ किन्तु रूप में किसी महिमा का आविष्कार नहीं करता हूँ, उसके पीछे कोई भाव नहीं देखता हूँ। पुनः देखता हूँ कि[१] यह सूर्य उसी विश्वतश्चक्षु का ही चक्षु है अथवा यह सूर्य वे ही हैं, जो स्थावर-जंगम या जड़-चेतन के आत्मा हैं; यह दृष्टि पारमार्थिक एवं अधिदैवत है, यह कवि की दृष्टि है। देखता हूँ कि वही तो प्रथम प्रकाश है, वही आविष्ट हुआ है मेरी दृष्टि में, उसी आँख से ही मेरी आँखें; उसी से अन्तर में भी देखता हूँ सूर्य का जन्म। यह दृष्टि भी पारमार्थिक है किन्तु यह ऋषि की अध्यात्म दृष्टि है। इस प्रकार बाहर-भीतर एक चिन्मय महिमा की जो प्रत्यक्षता है, वही वैदिक देववाद की भित्ति है।

---

शौ. ९।४।२, ११।१।३४); त्रिपाजस्यो वृषभो विश्वरूप उत त्र्युधा पुरुध प्रजावान् त्र्यनीकः पत्यते माहिनावान्त्स रेतोधा वृषभः शश्वतीनाम् ३।५६।३ ('उरः' वक्ष पुंचिन्ह और 'उधः' अथवा थन स्त्री चिन्ह — अर्थात वे अर्द्धनारीश्वर; उनकी प्रजासृष्टि का भी यही मिथुन भाव; लक्षणीय सूक्त के ऋषि 'प्रजापति', विश्वामित्र उनके पिता एवं वाक् माता; फिर तो उपनिषद की भाषा में विश्वामित्र ब्रह्मभूत); १।१६४।९ (एक प्रहेलिका : 'माता' = दिव्या धेनु अदिति, तु. गाम् अनागाम् अदितिम् ८।१०१।१५, १६; 'वत्स' अथवा गर्भ आधार में निहित चिदग्नि, अनेक स्थानों पर शिशु रूप में उल्लिखित १।९६।५, ३।१।४...; 'दक्षिणा' उषा देवतागण उनके रथ में १।१२३।१, ५, और उसके अगले हिस्से में यह माता; तो फिर माता पृथिवी के निकट स्थित अन्धकार, उसके उस पार अन्तरिक्ष-चारिणी उषा, उसके भी उस पार द्युलोक की शुभ्र द्युति; सूर्योदय के पहले का चित्र — धूसर, लोहित और शुक्ल अथवा तमः, रजः एवं सत्त्व क्रमशः तीन रंग अथवा गुण; यहाँ के आवर्त में अवरुद्ध शिशु क्रन्दन करने लगा आलोक के लिए अथवा मा के लिए जो जिस प्रकार यहाँ है उसी प्रकार भुवन के उस पार परम व्योम में है)। [३] ३।६२।६; ६।४१।३। [४] एकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ८।५८।२। [५] १०।९०।१, २, ३, ८१।३। (इस क्षेत्र में यूरोपीय पण्डितों की PRIMEVAL GIANT की कल्पना हास्यास्पद है। तु. अदितिर् द्यौर् अदितिर् अन्तरिक्षम् अदितिर् माता स पिता स पुत्रः, विश्वे देवा अदितिः पंचजना अदितिर् जातम् अदितिर् जनित्वम् १।८९।१०। [६] अयं अस्मि सर्वः १०।६१।१९ (अग्नि की उक्ति) ७।५।५ अंगिरा अग्नि के ऋषि।

[११८३] 'अधिदैवत' और 'अध्यात्म' इन दो संज्ञाओं का आस-पास प्रयोग उपनिषदों में प्रचुर है जो बाह्य एवं आन्तर दृष्टि के समन्वय का निदर्शन है। ब्राह्मण में प्राचीनतम प्रयोग ऐ. ९।२।१ ऋ. १०।९०।१३; १।११५।१। [२] प्रथमच्छद अवराँ आ विवेश १०।८१।१; तु. सूर्यं चक्षुर् गच्छतु ...१६।३; अन्तर्दर्शन तु. 'पतंगम् अक्तम् असुरस्य मायया हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः, समुद्रे अन्तः कवयो वि चक्षते मरीचीनां पदम् इच्छन्ति वेधसः' — असुर की (परम पुरुष की) माया द्वारा

## २. देवता के रूप, गुण और कर्म

देवताओं के स्वरूप के बाद उनके रूप, गुण एवं कर्म के प्रसंग में सर्वप्रथम रूप का वर्णन।

आपातत: वेद में अनेक देवता हैं। किन्तु तब भी हम देखते हैं कि देवताओं में परस्पर वैषम्य की अपेक्षा साम्य की दृष्टि ही अधिक विकसित है। जहाँ अनेक का मेला है, वहाँ रूप में भेद दिखाई पड़ता है और भाव में अभेद का संकेत मिलता है। जिस प्रकार सारे मनुष्य ही मनुष्य हैं — यह भाव की दृष्टि है किन्तु रूप की दृष्टि से दो में से कोई भी समान नहीं। भाव एक है, उसका ही बहुधा रूपायन — यही विसृष्टि का नियम है। देवताओं के सम्बन्ध में भी इसी नियम का प्रयोग करते हुए ऋषि कहते हैं 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' अर्थात विप्रगण एक सत स्वरूप की ही अनेक प्रकार से घोषणा करते हैं।[११८४]। वेद का तथाकथित बहुदेववाद वस्तुत: अद्वैतवाद की ही उपसृष्टि है। देवता चाहे जिस रूप में ही दिखाई दें लेकिन ऋषि उनके स्वरूप को कभी भी नहीं भूलते। चेतना के स्वोत्तरण द्वारा देवता का सायुज्य लाभ जहाँ परम पुरुषार्थ है [११८५] वहाँ ऐसा होना ही स्वाभाविक है और उस कारण, देवता के स्वरूप का प्रज्ञान सबसमय अग्रस्त या पकड़ से बाहर रहने के कारण वैदिक देवताओं में रूप भेद अधिक तीक्ष्णता के साथ व्यक्त नहीं हुआ [११८६]।

देवताओं के स्वरूप के सम्बन्ध में अब तक हमने जो बतलाया है उससे इसके कारण का अनुमान करना बहुत मुश्किल नहीं लगता। स्पष्टत:, देवता नित्य प्रत्यक्ष हैं; आँखों के सामने उन्हें आकाश रूप में देखता हूँ, आदित्य रूप में देखता हूँ, देखकर मेरी चेतना कवि-चेतना की तरह बृहत् हो रही है, उद्दीप्त हो रही है। चेतना के इस विस्फारण या विस्तार एवं उद्दीपन में मैं जिस सायुज्य [११८७] का अनुभव करता हूँ, वही मेरा पुरुषार्थ है। मैं उस समय बृहत अथवा ब्रह्म होता हूँ

---

अभिव्यक्त पक्षी को (सूर्य को) मर्मवेत्ता हृदय द्वारा, मन द्वारा देखते हैं; (हृदय-) समुद्र की गहराई में रश्मियों के धाम को चाहते हैं मेधावीगण १०।१७७।१; समस्त सूक्त ही द्रष्टव्य; और भी तु. ११६४।१, ३।३८।६, ५।६२।१, ८।४७।६ ...। लक्षणीय, वेद में 'अत्र' अधियज्ञ दृष्टि से वेदि में, अध्यात्म दृष्टि से हृदय में।

[११८४] ऋ. १।१६४।४६। देवता जब एकदेव तब वे 'दिव्य सुपर्ण' अर्थात द्युलोक के आलोकपाखी अथवा आदित्य; जब वे अरूप अद्वैत तत्व, तब 'एकं सत्'। इस ऋक् में परम भूमि में पहुँचने के दो क्रमों का उल्लेख है: एक क्रम है:— अग्नि — इन्द्र — मित्र — वरुण (आकाश, शून्यता), दूसरा क्रम है — अग्नि — मातरिश्वा — आदित्य — यम। पहले क्रम की दृष्टि बाह्य या वस्तुनिष्ठ है और दूसरे क्रम की आभ्यन्तर या आत्मनिष्ठ है। कठोपनिषद में दूसरा क्रम आभासित; वैवस्वत मृत्यु या यम वहाँ प्रवक्ता हैं, वे उसी अनिरुक्त लोक के सम्बन्ध में बतलाते हैं जहाँ कुछ भी नहीं पहुँच पाता २।२।१५। वहाँ अपने भीतर पैठकर पहुँचा जा सकता है और वरुण की शून्यता में स्वयं को विकीर्ण करके पहुँचना पड़ता है। तैत्तिरीयोपनिषद में 'भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता' ३।६। संहिता के अनुसार 'यमं पश्यासि वरुणं च देवम्' अर्थात् मृत्यु के बाद कोई देखता है देवता यम को या फिर कोई वरुण को (ऋ. १०।१४।७)। वस्तुत: एक को देखना ही दूसरे को देखना है।

[११८५] संहिता में प्रतीकी भाषा में वही है पृथिवी स्थानीय अग्नि की ऊर्ध्व शिखा का आश्रय लेकर द्युस्थानीय सूर्य में पहुँचना। वही है अन्धकार के उस पार उत्तर ज्योति को देखते देखते उत्तम ज्योति अथवा सूर्य में जाना (ऋ. १।५०।१०; सामवेद में आरण्यकगान के परिशिष्ट में महानाम्नी पर्व में यह उद्याम साम की योनि; इससे ही इसके महत्व का बोध होगा) ब्राह्मण में यही लोकान्तरण, उपनिषद में उत्क्रान्ति। देवता के जितने रूप ही क्यों न हों, आँखों के सामने हम एक सूर्य को देखते हैं। एक का दर्शन ही वैदिक अद्वैतवाद का मूलाधार है।

[११८६] द्र. नि. २।८; शाकपूणि ने संकल्प किया, 'सभी देवताओं को मैं जानूँगा।' उनके निकट देवता उभयलिंग होकर प्रकट हुए। शाकपूणि ने उन्हें न पहचान पाने पर पूछा,

मेरा प्रज्ञान ब्रह्म है, मेरा यह आत्मा ब्रह्म है तथा उस आदित्य में जो पुरुष है और मुझ में जो पुरुष है, दोनों एक हैं [११८८]। देवता की जिस किसी विभूति को हम इष्ट रूप में ग्रहण क्यों न करें, उसका पर्यवसान उसी आदित्यद्योतना में होता है क्योंकि सभी आदित्य हैं अर्थात अदितिपुत्र हैं [११८९]। इष्ट देवता की प्राप्ति का अर्थ है उस परम ज्योति को प्राप्त करना [११९०]।

इस प्रकार देवता की उपासना और ज्योति की उपासना दोनों के एक हो जाने का एक परिणाम यह हुआ कि वैदिक साधना में देवता की मूर्ति का विशेष प्राधान्य नहीं रहा। संहिता की स्पष्ट उक्ति है कि सारे देवता 'अमूर' अर्थात अमूर्त अथवा चिन्मय हैं [११९१]। यह संज्ञा विशेष रूप से अग्नि का विशेषण है [११९२] उसका तात्पर्य कुछ इस तरह हो सकता है: यज्ञ भूमि में देवता को कोई देख नहीं पाता, इसके अलावा जो अग्नि देवताओं को यहाँ ले आते हैं अथवा उनके निकट हव्य वहन करते हैं उन्हें आँख से देखा जा सकता है, किन्तु जानना होगा कि भौतिक अग्नि देवता नहीं, देवता का प्रतीक मात्र है; देवता अग्नि अमूर्त हैं। उनका 'अमूर' विशेषण उसका ही स्मरण दिलाता है [११९३]।

---

'तुम कौन? जानना चाहता हूँ।' तु. ऋ. 'सा चित्तिभिर् नि हि चकार मर्त्यं विद्युद् भवन्ती प्रति वव्रिम् औहत' — देवता ने झलक-झलक कर जब मर्त्य को चौंधिया दिया विद्युत बनकर तभी उसने प्रकाश का आवरण सामने से हटा लिया १।१६४।२९। केनोपनिषद में वही ब्रह्म का आदेश, वे मानो विद्युत के उन्मेष और निमेष हैं (४।४)। देवता का स्वरूप प्रकाश अथवा ज्योति होने के कारण ही रूपरेखा की तीक्ष्णता उनके मध्य गौण है।

[११८७] सायुज्य देवता के साथ नित्ययोग, भेदाभेद भाव : तु. १।१६४।२० (= मु. ३।१।१, श्वे. ४।६ एक ही देहवृक्ष पर दो पक्षी)। इस अनुभव की मधुर अभिव्यक्ति : 'त्वयेद् इन्द्र युजा वयं प्रति ब्रुवीमहि स्पृधः, त्वम् अस्माकं तव स्मसि' — तुम्हारे संग ही युक्त रहकर हे इन्द्र, हम प्रतिस्पर्द्धियों को जवाब देंगे, तुम हमारे हो, हम तुम्हारे हैं (ऋ. ८।९२।३२)। और भी तुलनीय, 'त्वया युजा वनेम तत्' — तुम्हारे संग युक्त रहकर हम तत्स्वरूप को अवश्य प्राप्त करें (८।९२।३१)।

[११८८] द्र. ऐउ. २।३ मा. २, तैउ. २।८।

[११८९] अदिति अखण्डिता अबन्धना वही आद्याशक्ति हैं, जो सब कुछ हुई हैं। ऋ. अदितिर् द्यौर् अदितिर् अन्तरिक्षम् अदितिर् माता स पिता स पुत्रः, विश्वे देवा अदितिः पंचजना अदितिर् जातम् अदितिर् जनित्वम् १।८९।१०। सारे देवता अदिति के पुत्र रूप में आदित्य हैं : तु. १०।७२।४,५,८,९। यज्ञ का लक्ष्य है आदित्य अथवा सूर्य को प्राप्त करना : तु. महाव्रत में शूद्र को पराजित करके ब्राह्मण द्वारा एक गोल सादा चमड़ा छीन लेना— वह सूर्य का प्रतीक (तैब्रा. के मतानुसार : दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मणः, असुर्यः शूद्रः १।२।६)

[११९०] तु. ऋ. ८।४८।३, १।५०।१०, १६४।४६ जहाँ दिव्य सुपर्ण सूर्य ही सब देवता हैं; हंसवती ऋक् ४।४०।५; ५।६२।१ अनिरुक्त भूमि का वर्णन है जहाँ सूर्योदय एवं सूर्यास्त में सूर्य के अश्व मुक्त होते हैं, सूर्य की सहस्र किरणें जहाँ एक साथ संहत या घनीभूत हैं; जहाँ देवता के समस्त आश्चर्य के श्रेष्ठ आश्चर्य वही एक हैं; यत्र ज्योतिर् अजस्रम् ९।११३।७ (तु. १०।१२९।१); श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिः १०।१७०।३ ...। संहिता में सूर्यजय की चर्चा अनेक स्थलों पर है।

[११९१] तु. ऋ. १।६८।४, ७२।२, अप्रमूराः ९०।२, ४।५४।२, ७।४४।५, 'ये स्था निचेतारो अमूराः' — जो अन्तश्चेतन हैं अमूर्त रूप में १०।६१।२७। मित्र-वरुण भी वही ७।६१।५ वरुण के चर या दूत भी ६।६७।५।

[११९२] ऋ. १।१४१।१२, ३।१९।१, २५।३, ४।४।१२, ६।२, ११।५, ६।१५।१७, ७।९।३, ८।७४।७, १०।४।४, ४६।५। 'पुरन्धि' भी अमूर ४।२६।७; साधारणतः ये स्त्री देवता एवं भग के साथ युक्त नाम का अर्थ है, 'जो पूर्णता को आहित या प्रतिष्ठित करती हैं' (तु. 'लक्ष्मी'); यहाँ यह शब्द पुंलिंग है, इससे इन्द्र का बोध होता है — क्योंकि यह सूक्त इन्द्र का है।

[११९३] अमूर यास्क के मतानुसार 'अमूढ' नि. ६।८। उदाहरण : ऋ. मूरा अमूरा न वयं

देवता अमूर्त हैं, किन्तु अरूप अथवा निराकार नहीं। यास्क के प्रसंग से इसके अर्थ का परिष्करण अथवा स्पष्टीकरण होगा।

निरुक्त के सप्तम अध्याय में देवताओं के आकार के सम्बन्ध में एक विचार है। प्रारम्भ में ही मान लिया गया है कि देवताओं का आकार है किन्तु प्रश्न है कि वह आकार मनुष्य जैसा है कि नहीं। एक पक्ष का कथन है, हाँ, आकार है क्योंकि उनका स्तवन किया जाता है, उनका आवाहन किया जाता है, ठीक उसी तरह जैसे सचेतन सत्ता का। मनुष्य की तरह ही मंत्र में उनके अंग, अनुषंग एवं कर्म का वर्णन किया जाता है। दूसरे पक्ष का कथन है, नहीं, ऐसा नहीं है; अग्नि, वायु, आदित्य ये देवता हैं किन्तु इनका आकार तो मनुष्य की तरह नहीं है हालाँकि मंत्र में उनका वर्णन सचेतन सत्ता अथवा मनुष्य की ही तरह है। यास्क ने दोनों पक्षों के मत को स्वीकार करते हुए कहा कि जिन देवताओं को हम प्रत्यक्ष देखते हैं वे वस्तुतः अपुरुषविध हैं अर्थात वे मनुष्य जैसे नहीं हैं; किन्तु पुरुषविध होकर वे ही अपुरुषविध के कर्मात्मा अथवा अन्तर्यामी हैं। इस सिद्धान्त को मानकर ही देवताओं के आख्यानों की रचना की गई है [११√४]।

---

चिकित्वो महित्वम् अग्ने त्वम् अंग वित्से १०।४।४; व्याख्या करते हुए कहते हैं 'मूदा वयं स्मः अमूदस् त्वम् असि, न वयं विद्मो महत्वम् अग्ने त्वं तु वेत्थ।' मंत्र में चिति एवं विद्या का प्रसंग है, इसलिए यह अर्थ यहाँ अधिक उपयुक्त है। Geldner ने सर्वत्र यास्क द्वारा किए गए अर्थ को ही ग्रहण किया है। तो फिर 'मूर' < √मुह्। किन्तु घोषवत् महाप्राण वर्ण का अघोष अल्प प्राण होना स्वाभाविक नहीं। अतएव कोई-कोई विद्वान कहते हैं कि यहाँ व्यतिक्रम औपभाषिक है। कोई-कोई 'मूर' अर्थ 'मर्त्य' बतलाते हैं < √मृ ॥ मृ. तु. ऋ. अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि ७।१०४।१५। फिर 'मूर' ॥ 'मूल' तु. ऋ. अनु दह सहमूरान क्रव्याद: १०।८७।१९। किन्तु मूढ़, मर्त्य अथवा मूल इनमें कोई अर्थ ही 'मूरदेव' के पक्ष में सुसंगत नहीं। मोह और मृत्यु दोनों का लक्षण ही जड़त्व है। चित या चेतन एवं जड़ का अन्तर यही है कि एक हवा और रोशनी की तरह हलका एवं व्याप्तिधर्मा है और एक स्थूल एवं घनीभूत, संकुचित। इसी घनीभाव के बोधक के रूप में एक धातु है √मूर्। स्क > च्छ विकरण युक्त होने पर उससे हमें पाते हैं √मूर्च्छ, उससे हमारा परिचित शब्द 'मूर्च्छा', जिसका लक्षण वही जड़त्व एवं घनीभाव है। 'च्छ' यह विकरण अत्यन्त दुर्लभ नहीं: तु. √गम् ॥ गच्छ, यम् ॥ यच्छ, वस ॥ उच्छ (वैदिक), अस् ॥ अच्छ (प्राकृत अच्छइ है), हृ ॥ हूर्छ (छा. २।१७।२), ऋ ॥ ऋच्छ ...। इसके अलावा इस √मूर' से ही 'मूर्ख' (उणादि ५।२२) अथवा जड़बुद्धि, 'मूर्ख'। तु. GK mōrós stupid। अतएव 'मूर' शब्द का यौगिक अर्थ घनीभूत, जड़, स्थूल, मूर्त। इसी अनुषंग में ही यास्क का 'मूढ़' अर्थ रूढ़ है। इस रूप में स्वीकार करने पर ही सर्वत्र संगति बैठती है। देवता अमूर' इसका यौगिक अर्थ होता है — वे अविग्रह हैं, अमूर्त हैं और रूढ़ अर्थ होता है — इसी कारण चिन्मय, प्रज्ञानमय। 'मानुष मूर' यहाँ रूढ़ अर्थ जड़बुद्धि' (तु. ४।२६।७, ८।२१।१५, ४५।२३, १०।४६।५, ७५।१३)। मनुष्य प्रत्यक्षतः सविग्रह है, इसकारण उसके पक्ष में रूढ़ि का प्रयोग ही सार्थक है और देवता के पक्ष में अविग्रह होने के कारण यौगिक अर्थ की सार्थकता है। ऋक्संहिता ३।४३।६ में सुमार्जित इन्द्राश्वों को 'मूराः' कहा गया है। यहाँ 'मूढ़' अर्थ बिल्कुल ही अनुपयुक्त है क्योंकि देवाश्वों का साधारण लक्षण है कि वे 'मनोजव', 'मनोयुज', 'वचोयुज' हैं जिससे उनकी क्षिप्रता एवं निपुणता का ही बोध होता है 'मूढ़ता' का नहीं। यहाँ ऋषि अश्वों को मानो आँखों से देख पा रहे हैं इसलिए वे 'मूराः' (तु. दर्शं नु विश्वदर्शतं दर्शं रथम् अधि क्षमि १।२५।१८); अथवा 'मूर' का अर्थ स्थूलकाय (तु. पीवो अश्वाः ४।३७।४)। शौ. संहिता में 'मूर' मूर्च्छा १।२८।२ (४।७।३)। तु. ता. 'जार्यया मूरः' जरा या वार्द्धक्य में जड़ या अथर्व २५।१७।३। मूर > मूल, वहाँ भी स्थूलत्व एवं घनीभाव की व्यंजना है।

[११√४] नि. ७।६-७।

स्पष्ट दिखाई देता है कि अपुरुषविध-वादियों की दृष्टि में सचेतन और अचेतन सब स्व-रूप ही देवता हैं, उन पर विग्रहवत्ता आरोपित करने की कोई आवश्यकता नहीं। और पुरुषविधवादियों की दृष्टि में ये सब के अधिष्ठातृचैतन्य अथवा अधिष्ठाता हैं किन्तु पुरुषविग्रह हैं [११५५]। अर्थात देवता की अधिभूत आकृति और उनके स्वरूप के बीच ये एक भावमूर्ति स्वीकार करते हैं। किन्तु उपासना के समय उस भाव-विग्रह को कोई मूर्त रूप देने की आवश्यकता वे लोग भी महसूस नहीं करते हैं। जिस प्रकार अग्नि की उपासना के समय प्रत्यक्ष अग्नि का आश्रय ग्रहण करके अपुरुषविधवादी का अनुभव सीधे विशुद्ध चैतन्य में उत्तीर्ण होगा, और पुरुषविधवादी का अनुभव दोनों के बीचोबीच अग्नि के एक पुरुष-विग्रह की कल्पना करेगा। किन्तु कोई भी, प्रत्यक्ष अग्नि की जगह अग्नि का कोई अधिभूत विग्रह स्थापित नहीं करेगा। दोनों के ही देवता वस्तुतः 'अमूर' अथवा अमूर्त हैं। यास्क ने दोनों मतों को मिलाकर अध्यात्म चेतना के सम्बन्ध में गहरे ज्ञान का परिचय दिया है। जो कुछ इन्द्रियग्राह्य है उसके माध्यम से उद्बुद्ध एवं उद्दीप्त चेतना यदि अरूप में उत्तीर्ण होकर वहाँ से रूप का उत्सारण देखती है तो निश्चय ही उसका दर्शन तात्विक हो सकता है। उस समय हम भाव से वस्तु में उतर आते हैं और वस्तुरूप के भीतर भाव का स्फुरण देखते हैं। वैदिक ऋषि-कवि का देवदर्शन इसी प्रकार का है।

व्यक्ति जिस रूप में ही देवता की उपासना करे, उसमें पुरुषविधता की छाप पड़ेगी ही। वैदिक ऋषियों ने इसे सहज भाव से स्वीकार कर लिया है। संहिता में परमदेवता की एक संज्ञा 'पुरुष' है। आरम्भ में पुरुष मनुष्य को ही समझा जाता, उसके बाद यह संज्ञा परमदेवता में प्रयुक्त हुई। संहिता के पुरुष सूक्त के आधार पर जिस पुरुषमेधयज्ञ का विवरण शतपथ ब्राह्मण में है [११५६], उसके द्रष्टा 'पुरुष नारायण' और देवता आदित्य हैं। सर्वानुक्रमणी में पुरुष सूक्त के ऋषि हैं नारायण और देवता पुरुष। पुरुषमेध के फलस्वरूप मर्त्य यजमान आजान-देवत्व प्राप्त करते हैं अर्थात सूर्य हो जाते हैं।[1] उनके कंठ से उस समय उच्चारित होता है यह ब्रह्मघोष; [2] 'मैंने इस महान् पुरुष को जान लिया है, तमिस्रा के उस पार आदित्य वर्ण हैं जो; उन्हें जानकर ही मनुष्य मृत्यु को पार करता है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है।' यहाँ हम देखते हैं कि परमदेवता एवं आदित्य सब की ही संज्ञा पुरुष है।

---

[११५५] द्र. नि. अपि वा अपुरुषविधानाम् एव सत्यं कर्मात्मान एते स्युः ७।७। वहाँ दुर्ग के अनुसार 'अपि वा अपुरुषविधानाम् एव सत्यम्' पृथिव्यादीनां 'कर्मात्मान एते स्युः' — अपुरुषविधाः क्षितिजलादयः, परे तु अधिष्ठातारः पुरुषविग्रहाः। एवम् उभयोः प्रत्यक्षागमयोर् अप्यानुग्रहः कृतो भविष्यति।

[११५६] १३।६।१-२; वा. ३०, ३१। [1] वा. तस्य त्वष्टा विदधद् रूपम् एति, तन् मर्तस्य देवत्वम् आजानम् ३१।१७। त्वष्टा रूपकार, यहाँ आदित्य का विशेषण (तु. ऋ. ३।५४।१५ १०।८४।१)। द्र. महीधर: 'अग्रे' प्रथमं 'मर्तस्य' मनुष्यस्य सतस् तस्य पुरुषमेधयाजिनः 'आजानदेवत्वम्' मुख्यं देवत्वं सूर्यरूपेण। द्विविधाः देवाः, कर्मदेवा आजानदेवाश्च। कर्मणा उत्कृष्टेन देवत्वं प्राप्ताः कर्मदेवाः। सृष्ट्यादौ उत्पन्नाः आजानदेवाः। ते कर्मदेवेभ्यः श्रेष्ठाः 'ये शतं कर्मदेवानाम् आनन्दाः स एक आजानदेवानाम् आनन्दः' (बृ. ४।३।३३) इति श्रुतेः सूर्यादय आजान देवाः। किन्तु प्रति तुलनीय. तै.उ. ते ये शतम् आजानजानां देवानाम् आनन्दाः, स एको देवानाम् आनन्दः २।८। वहाँ स्वाभाविक देवत्व की अपेक्षा कर्म अथवा तपस्या के फलस्वरूप देवत्वलाभ को श्रेष्ठ बतलाया गया है। (तु. ऋ. १०।१५४ सूक्त)। [2] वा. वेदाहम् एतं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् तम् एव विदित्वा इति मृत्युम् एति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय ३१।१८। यह 'महापुरुष' आदित्य मण्डलस्थ। 'आदित्यवर्ण' स्वप्रकाशम् (उव्वट) आदित्यस्येव वर्णो यस्य तम्, उपमान्तराभावात् स्वोपमम् (महीधर)।

उपनिषदों में इस पुरुष का अमूर्त एवं मूर्त दो रूपों में ही परिचय प्राप्त होता है। जिस प्रकार कहीं बतलाया गया है [११५७] कि यह दिव्य पुरुष अमना, अप्राण, और अमूर्त है, उनका रूप किसी की भी दृष्टि के समक्ष नहीं रहता अथवा उन्हें कोई आँख से नहीं देख सकता। फिर उसी प्रकार बतलाया गया है, [1] वे आदित्य में हिरण्मय, हिरण्यश्मश्रु, हिरण्यकेश, आनख सुवर्ण पुरुष, उनका रूप कल्याणतम है। पुन: वह पुरुष ही [2] हृदय में अंगुष्ठमात्र अधूमक ज्योति, [3] रवितुल्य रूप है [4] आदित्य में जो पुरुष है और यह पुरुष एक है।

पुरुष की मूर्तता और अमूर्तता का एक स्पष्ट विवरण बृहदारण्यकोपनिषद् में है। वहाँ ब्रह्म के मूर्त एवं अमूर्त दो रूप बतलाए गए हैं। जो मूर्त, वह मर्त्य, स्थावर एवं सत् है; जो अमूर्त, वह अमृत, जंगम एवं त्यत् है। अधिदैवत दृष्टि से मूर्त का रस या सार तपन, आदित्य है और अध्यात्म दृष्टि से चक्षु है; उसी प्रकार अमूर्तका रस क्रमश: आदित्य मण्डलस्थ पुरुष एवं अक्षिपुरुष; इस पुरुष का रूप बिजली की कौंध जैसा, कमल जैसा, अग्निशिखा जैसा, इन्द्रगोप कीट जैसा, पाण्डु वर्ण मेषलोम जैसा अथवा हल्दी-रंगे वस्त्र जैसा है; जिसके सम्बन्ध में 'नेति नेति' आदेश है। स्पष्ट है कि अमूर्त पुरुष की मूर्ति यह प्रत्यक्ष दृष्ट आदित्य है; तथा पुरुष के अमूर्त होने पर भी उनका रूप है किन्तु उस रूप का संकेत अरूप की ओर है अर्थात वह रूप अपुरुषविध है। किन्तु छान्दोग्योपनिषद् में आदित्य-पुरुष का रूप पुरुषविध है [११५८]

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि वेदपंथी आर्य देवताओं की उपासना करने पर भी आरम्भ में मूर्ति की उपासना नहीं करते थे। देवता की मूर्ति नहीं इसलिए उपासना के लिए स्थायी देवायतन नहीं था। श्रौतयज्ञ के लिए अस्थायी यज्ञशाला तैयार की जाती, जहाँ देवता की कोई मूर्ति नहीं रहती थी; किन्तु उनका ध्यान किया जाता,— यह पहले ही हमने बतलाया है।

जो देवता को नहीं मानते थे, उनके प्रति देववादी समुदाय स्वाभाविक कारणों से ही विरूप भाव रखता था; उन सब की निन्दासूचक संज्ञा है 'अदेव' अनिन्द्र 'देवनिद' और 'अयज्ञ'। एक और वर्ग के प्रति विरूपता थी, जो 'अनृतदेव' अर्थात मिथ्या देवता के उपासक थे। जो 'मूरदेव' अथवा 'शिश्नदेव'- वही इन अनृतदेवों के अन्तर्गत आते हैं। इन दो संज्ञाओं को लेकर वितर्क की गुंजाइश है।

देव विरोधी 'अदेव' कुल तीन प्रकार के हैं। [११५९] एक प्रकार के अदेव मनुष्य, जो देवता को मानते नहीं, उन्हें लेकर तर्क करते हैं; संभवत: वे देवव्रत नहीं, बल्कि अन्यव्रत एवं अयाज्ञिक हैं; वे जिस प्रकार आर्येतर दास हो सकते हैं उसी प्रकार आर्य भी हो सकते हैं। ये ही [1] देवनिद अथवा देवनिन्दक, यज्ञविरोधी-

---

[११५७] मु. २।१।२, श्वे. ४।२०; [1] छा. १।६।६ (बृ. ४।३।११), ई. १६। [2] क. २।१।१२, १३, ३।१६, श्वे. ३।१३ (तैउ. १।६।१), [3] श्वे. ५।८। [4] तैउ. २।८, ई. १६।

[११५८] द्र. बृ. २।७, तु. छा. १।६।६ लक्षणीय. औपनिषद पुरुष के स्वरूप ज्ञान के दो महावाक्य : याज्ञवल्क्य का 'नेति नेति' (बृ. ४।२।४; तु. २।३।६ जिसका संकेत विश्वातीत अक्षर पुरुष की ओर है और शाण्डिल्य का 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा. ३।१४) जिसका संकेत विश्वात्मक सर्वमय पुरुष की ओर है। शाण्डिल्य से ही वेदान्त में परिणामवाद, भक्तिवाद, भागवतों का पुरुषोत्तमवाद।

[११५९] ऋ. अदेवो यद् अभ्यौहिष्ट देवान ६।१७।८ (तु. मोघं वा देवाँ अप्यूहे अग्ने ७।१०४।१४; ८।७०।११; दास आर्यो वा...अदेव: १०।३८।३। उनकी एषणा सफल नहीं होती ८।७०।७। [1] १।१५२।२; २।२३।८, ६।६१।३ (क्रमानुसार बृहस्पति एवं सरस्वती को कहा जा रहा है उनका विनाश करने के लिए; दोनों ही वाक् के देवता हैं; तु. तंत्र की बगलामुखी, असुर की जीभ खींच कर बाहर निकाल रही है)।

अयज्ञ', 'अयज्यु', अथवा 'अयज्वा' हैं। ये सब [२]'अनिन्द्र' — ऐन्द्र को देवता नहीं कहते, स्पर्द्धापूर्वक प्रश्न करते हैं कि 'कहाँ है वह? देवता को मान कर भी जो 'देवहेलन' — देव की अवज्ञा का अपराध करते हैं वे भी इसी दल के हैं।

किन्तु, वास्तविक अदेव [१२००] वृत्र अथवा अज्ञान की आच्छादक शक्ति एवं उसके अनुचर हैं। [२] हम जिसे देवद्रोही, अयाज्ञिक एवं अन्यव्रत के रूप में जानते हैं, यह 'अमानुष' वृत्र उसका प्ररोचक है। आधार की पर्वत कन्दरा में वह छिपा रहता है; दस्यु की तरह आक्रमण करने के लिए — उस समय पर्वत मानो उसका सखा हो। किन्तु, एक दिन यह पर्वत ही उसे दूर फेंक देता है उसके विनाश को अनायास करने के लिए। जिस प्रकार [३]वरुण की दैवी, या ज्योतिर्मयी माया है, [४]उसी प्रकार वृत्र की 'अदेवी माया' है; [५]उससे उसके अनुचर कभी देवता की तरह कान्तियुक्त रूप में दिखाई देते हैं। [६] आधार की गहराई में ये कुण्डली मार कर रहते हैं; [७]उस अदिव्य अन्धकार से देवता लुक-छिप कर आगे बढ़ते जाते हुए आँख खोल कर देखते हैं और अमृतत्व प्राप्त करते हैं।

---

२ अयज्ञ : 'न्य अक्रतून् ग्रथिनो मृध्रवाचः पणीँर् अश्रद्धाँ अवृधाँ अयज्ञान्, प्रप्र तान् दस्यूँर् अग्निर् विवाय पूर्वश् चकारापराँ अयज्यून्' — जिनमें संकल्प नहीं, श्रद्धा नहीं, वृद्धि नहीं, यज्ञ नहीं, वाणी जिनकी विद्वेषपूर्ण है, जो ग्रन्थिल (कृपण) हैं उन पणियों को तुमने दबा रखा है, उन दस्युओं को वैश्वानर ने दूर कर दिया है, आदिम होकर अंतिम कर दिया है अयाज्ञिकों को (अर्थात उनको पीछे छोड़कर पुरोधा हुए हैं) ७।६।३, १०।१३८।६। अयज्यु : १।१२१।१३, १३१।४, अयज्वा : १।३३।४, ५ (अयज्वानो यज्वभिः स्पर्धमानाः, ये सब अव्रत), १०३।६, २।२६।१ ('देवयन्न् इद् अदेवयन्तम् अभ्य् असत् ··· यज्वेद् अयज्योर् वि भजाति भोजनम्'), ८।३१।१५-१८ (यजमानः ··· अभीद् अयज्वनो भुवत्, अयाज्ञिक का अधःपतन), १०।४९।१ ३८।१-८।१६, १०।२७।६, ४८।७, ५।२।३ ('अनुक्थ', मंत्रहीन) — नेन्द्रं देवम् अमंसत १०।८६।१, २।१२।५ (समस्त सूक्त इस प्रश्न का उत्तर)। [४] ७।६०।८, १०।१००।७, वाक् अथवा मन द्वारा देवहेलन १०।३७।१२ देवहेलन और छलना ६।४८।१० देवविमुखीनता २।२३।१२, देवता का व्रतलंघन १।२५।१ अयाज्ञिकों के दिन कटते हैं वीर्यहीन होकर ७।६१।४, यः ··· सस्त्य् अव्रतो अनुष्वापम् अदेवयुः (व्रतहीन जो देवता को चाहता नहीं, उसे नींद ही नींद आती है) ८।९७।३।

[१२००] तु. ऋ. ३।२२।६ (वृत्र अदेव अथवा आदिव्य शक्ति, वह दिव्य अप् या प्राण की धाराओं को घेर कर आधार में सोया हुआ है, अतः जीवन मरुभूमि की तरह अनुर्वर)। तु. १।१७४।८ (२।२९।७), १०।१११।६। ऐसे लोग या समुदाय जो देवता को नहीं चाहते हैं ५।६३।२४, अदेवीः विशः ८।९६।१५, अनायुधासो (अतएव हतवीर्य) असुरा अदेवा ८।९६।९। [२] अन्यव्रतम् अमानुषम् अयाज्वानम् अदेवयुम् अव स्वः सखा दुधुवीत पर्वतः सुघ्नाय दस्युं पर्वतः ८।७०।११ (इस वृत्र का नाम 'शम्बर' है; वह पर्वतवासी है, तु. २।१२।११, ३।५३।१, इसकी चर्चा बाद में करेंगे। [३] तु. 'माया वां मित्रावरुणा दिवि श्रिता सूर्यो ज्योतिश् चरति चित्रम् आयुधम्' — हे मित्रवरुण द्युलोकाश्रित तुम दोनों की माया है वह सूर्यज्योति जो विचरण करती है चमचमाते आयुध के रूप में ५।६३।४। यहाँ देव माया प्रज्ञा ज्योति है। [४] तु. ५।२।९, ७।१।१०, ९।८।५, १०।१११।६। 'वरुण' और वृत्र दोनों ही <√वृ ढँकना, घेर कर रखना; पुरुष सूक्त के पुरुष भी 'भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्य् अतिष्ठद् दशाङ्गुलम्' १०।९०।१)। [५] अदेवयून् तन्वा शुशुजानान् १०।२७।२। उपनिषद् में देवराज इन्द्र और असुरराज 'विरोचन' दोनों कान्तियुक्त हैं, दोनों झिलमिलाते हैं (छा. ८।७।२); तु. सप्तशती में एक ही अर्थ में शुम्भ-निशुम्भ। यही शुभ्र वृत्र है जिसका रजतमय पुर अन्तरिक्ष में और हिरण्मय पुर द्युलोक में है (ऐब्रा. १।२३)। अध्यात्म दृष्टि से विद्या का तमः (तु. ई. ९)। [६] तु. निधारि अदेवान् १०।१३८।४। [७] अग्नि की उक्ति : अदेवाद् देवः प्रचता गुहा यन् प्रपश्यमानो अमृतत्वम् एमि १०।१२४।२।

इसके अतिरिक्त अध्यात्म दृष्टि से अदेव हैं हमारे ही चित्त की [१२०१]: क्लिष्टता, द्विधा, कार्पण्य, बाधा, द्रोह, स्पर्द्धा अथवा वे सब रन्ध्र जिनके भीतर से आदिव्य शक्ति आधार में आकर डेरा डाल देती है। इनके साथ युद्ध करना ही हमारा पुरुषार्थ है।[1] परिणामतः उस युद्ध में देव शक्ति की ही विजय होती है।

इस अदिव्य शक्ति की प्ररोचना या प्रोत्साहन से ही मनुष्य 'अनृतदेव' होता है। ऋषि वसिष्ठ की शपथोक्ति में उसका उल्लेख है [१२०२] एवं उसी प्रसंग में 'मूरदेवों' का भी उल्लेख है। ऋषि कहते हैं, [१२०३] 'हे इन्द्र, पुरुष जादूगर को मारो तुम, और मारो उस स्त्री जादूगरनी को, जो अपनी माया की बड़ाई करते हैं; गर्दन मरोड़कर विनाश करो मूरदेवों का, सूरज को उगते हुए वे देख न पाएँ।' और एक स्थल पर है:[1] 'हे अग्नि नष्ट कर दो अपने ताप से जादूगरों को, रक्षः (ब्रह्मद्वेषी) को नष्ट कर दो अपने तेज से, अपनी शिखाओं से नष्ट कर दो मूरदेवों को, प्राणों की तृप्ति चाहते हैं जो उनको भस्म कर दो प्रज्वल होकर।' फिर इसी सूक्त में ही है कि[2] 'लोहे के दाँत हैं तुम्हारे हे जातवेदा; प्रज्वलित होकर लपटों द्वारा चाट जाओ जादूगरों को; जीभ द्वारा लपेट लो मूरदेवों को, क्रव्यादों अथवा मांसभोजियों को पकड़कर मुँह में भर लो।' समस्त सूक्त रक्षोहा अग्नि के उपलक्ष्य में 'यातुधान' अथवा जादूगरों के विरुद्ध आक्रोश है।

प्रश्न उठता है कि ये मूरदेव हैं कौन? ब्राह्मणग्रन्थों में उनका कोई भी उल्लेख नहीं, निरुक्त में कोई व्याख्या नहीं। वेंकटमाधव अर्थ करते हैं 'मरणक्रीड़ राक्षस' और सायण बतलाते हैं 'मारणक्रीण'। यास्क द्वारा दिया गया 'मूर' शब्द का अर्थ किसी ने ग्रहण नहीं किया। आधुनिक पण्डितों में अनेक ही 'मूर्ति-उपासक' अर्थ करते हैं। निरुक्ति की दृष्टि से यही अर्थ उपयुक्त प्रतीत होता है [१२०४]। जिन दो सूक्तों में इस शब्द का उल्लेख है, वे दोनों ही 'राक्षोघ्न' अथवा रक्षोविनाशन सूक्त हैं। जिसमें मूरदेवों के साथ यातुधान, क्रव्याद, ब्रह्मद्विष और किमीदिनों का उल्लेख है। यातुधानों का उल्लेख ही अधिक है। ये

---

[१२०१] तु. ऋ. अंहः ७।१०४।६, द्वयुः वही (तु. १०५।६), अराति: ८।११।३, परिबाध ५।२।१०, ७।१०५।५, द्रुह् ३।३११८ (तु. अनिन्द्रा द्रुहः १।१३३।१, ४।२३।७), स्पृध् ६।२५।८, ४७।१५ 'पुरो न भिन्धो अदेवीः' १।१७४।८ ...। [1] तु. २।१।१५, ७।८३।५ ...। [2] तु. २।२२।४, २६।१, ६।१८।११, २२।११, ८।५७।१२, ७।१८, १०।३७।३ ...। वेद-पुराण इस देवासुर-संग्राम के प्रसंग से भरे पड़े हैं। अध्यात्म दृष्टि से 'देवासुरम् अभूद् युद्धं पूर्णम् अब्द-शतं पुरा' (सप्तशती २।२) अर्थात् मनुष्य के पूरे जीवन में प्रकाश और अन्धकार का युद्ध जारी है।

[१२०२] ऋ. 'यदि वा.हम् अनृतदेव आस मोघं वा देवाँ अप्यूहे अग्ने' — यदि मैं अनृत देव हूँ या झूठे देवताओं को मानता हूँ अथवा झूठमूठ तर्क द्वारा देवताओं का खण्डन करता हूँ, तो अपराधी हूँ अग्ने। (७।४।१४, अर्थात् मैं वैसा नहीं हूँ)। तु. दर्शन का 'अपोह', अपरपक्ष का खण्डन करने के लिए उद्भावित तर्क (तु. गीता. मत्तः स्मृतिर् ज्ञानम् अपोहनं च १५।१५)। तु. अदेवो यद् अभ्यौहिष्ट देवान् ६।१७।८। अप्यूह, अभ्यूह, अपोह सभी समानार्थक हैं।

[१२०३] ऋ. इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानम् उत स्त्रियः मायया शाशदानाम्, विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु मा ते दृशन् सूर्यम् उच्चरन्तम् ७।१०४।२४। [1] परा शृणीहि तपसा यातुधानान् परा.ग्ने रक्षो हरसा शृणीहि, परा.र्चिषा मूरदेवाञ्छृणीहि परा.सुतृपो शोशुचानः १०।८७।१४ इन असुतृपों के साथ. तु. 'न तं विदाथ य इमा जजाना, अन्यद् युष्माकम् अन्तरं बभूव, नीहारेण प्रावृता जल्प्या चा.ऽसुतृप उक्थशासश् चरन्ति' — उन्हें तुम सब जानते नहीं, जिन्होंने यह सब कुछ उत्पन्न किया है और कुछ होकर तुम्हारे भीतर स्थित हैं। कुहरे से ढँके हुए अथवा मोहान्धकार से आच्छादित बकवास करते फिरते हैं वे मंत्रोच्चार करते वाले जो केवल प्राण की तृप्ति चाहते हैं (१०।८२।७; Geldner ने इस शब्द अर्थ

सभी ब्रह्मद्वेषी हैं एवं इनकी एक साधारण संज्ञा है 'रक्षः'।[1] एक ही मंत्र में मूरदेव एवं यातुधानों का उल्लेख होने पर भी दोनों संज्ञाओं का पृथक होना ही सम्भव है। मूरदेवों का कोई विशिष्ट परिचय नहीं किन्तु एक स्थान पर कहा जा रहा है कि 'वे सूर्योदय न देख पाएँ।' वैदिक वाग्धारा में सूर्योदय न देख पाने का एक सामान्य अर्थ होता है मृत्यु। किन्तु उसका मार्मिक अर्थ है आदित्य द्युति को प्राप्त न करना। जो आदित्य की उपासना नहीं करते वे अपने भीतर सूर्योदय भी नहीं देखते। ऋक् संहिता में एक स्थान पर[2] तीन प्रजाओं के नष्ट होने का प्रसंग है क्योंकि वे अर्क अथवा आदित्य में निविष्ट नहीं हैं यानी आदित्य के प्रति उनके चित्त में एकाग्रता नहीं है। स्पष्टतः ये अवैदिक जन हैं। मूरदेव उनके अन्तर्गत हो भी सकते हैं, क्योंकि वे वेदपंथ के अनुसार आदित्य की उपासना नहीं करते।[3]

शास्त्रिकों द्वारा मूर्तिपूजा का विरोध करने के बावजूद [१२०५] वैदिक जनों में किसी प्रकार की देवमूर्ति का प्रचलन होना असम्भव नहीं। ऋक् संहिता के

---

'प्राणहारी' किया है किन्तु यह अर्थ केवल यम के कुत्तों के सम्बन्ध में ही उपयुक्त हो सकता है (१०।१४।१२)।[2] अयो दंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानान् उपस्पृश जातवेदः समिद्धः, आ जिह्वया मूरदेवान् रभस्व क्रव्यादो वृक्त्व्य अपि धत्स्वासन् १०।८७।२।

[१२०४] तु० अनुरूप 'अनृतदेव शिश्नदेव'; 'मातृदेव, पितृदेव, आचार्यदेव, अतिथिदेव'; (तैउ० १।११), सर्वत्र बहुव्रीहि।[1] तु. शौनक संहिता १।८, ११२८, ६।३२।[2] ८।१०१।१४। शब्र. में 'अर्क' अग्नि; तु. ऋ. २।२६।७; तैब्रा. 'अर्क' आदित्य ३।८।७।८। शौनक संहिता में 'कृत्या कृत् मूरी' का उल्लेख है (५।३१।१२)। 'कृत्या' जादू-टोना; 'मूरी' मूली वृक्ष के मूल को लेकर जादूगरी करते हैं, यहाँ यह अर्थ ही सम्भव है। किन्तु मूरी और मूरदेव अलग हैं वह शौनक संहिता के उस सूक्त से ही समझा जा सकता है। मूरदेवों के साथ 'किमीदिनों' का उल्लेख द्रष्टव्य (ऋ. ७।१०४।२, २३; और भी तुलनीय. १०।८७।२४; शौनक संहिता. १।७।१, २।२४।२) यास्क व्याख्या 'किम इदानीम इदं किम इदं इति वा चरति, पिशुनः' (नि. ६।११)। छिद्रान्वेषी। . . . इस प्रसंग में द्रष्टव्य 'कीकट' यास्क का मन्तव्य 'कीकटा नाम देशो अनार्यनिवासः कीकटाः किंकृताः किं क्रियाभिर् इति प्रेप्सा वा' (नि. ६।३२)। द्र. ऋ. 'किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुहे न तपन्ति घर्मम् ३।५३।१४। इसी कीकट में 'अंजनासुत' (मायासुत; अर्थात मायावादी?) बुद्ध का जन्म (भा. १।३।२४)। 'किमीदिन' और 'कीकट' दोनों संज्ञाओं का अभिप्रेत क्रमशः अदेव एवं अयज्ञ।

[१२०५] आर्य संस्कृति सामान्यतः **मूर्तिपूजा** की विरोधी है। भारत के पड़ोसी ईरान में विरोध सर्वाधिक प्रबल था। ईसापूर्व पंचम शताब्दी में HERODOTUS, प्रथम शताब्दी में STRABO, ईसा की द्वितीय शताब्दी में CLEMENS ALEXANDRINUS, तृतीय शताब्दी में ORIGEN एवं DIOGENES LAERTIUS इत्यादि सब ने एक स्वर से ईरानियों के इस विद्वेष का साक्ष्य प्रस्तुत किया है। प्राचीन ईरानी साहित्य में भी उसका परिचय सुस्पष्ट है: 'दएवयज्ञ' (=देवयज्ञ) 'यातु' 'अज़्देस्त-बुतपरस्ती' (पहलवी 'मूर्ति और प्रतिकृति की उपासना') निन्दित है। अवेस्ता का 'दएव' ऋक् संहिता का रक्षः स्थानीय है। संभवतः यह विद्वेष पुरुषविधता के विरोध में था जो हमें इस देश के मुनिपंथ में भी देखने को मिलता है। किन्तु यह सब वैदिक युग के बहुत बाद की बातें हैं। संक्षेप में कह सकते हैं कि मूर्तिपूजा को लेकर भारत की तरह ईरान में भी एक विरोध का स्वर मुखर था। इस दिशा में शायद जरथुस्त्र के प्रभाव से वहाँ विरोध का स्वर और भी तीव्र था। आर्यों में मूर्ति पूजा के प्रति यूनानी सर्वापेक्षा आग्रही थे, यह एक अप्रत्याशित घटना है। पंडितों का अनुमान है कि यूनानियों के पूर्व की MINOAN और MYCENAEAN संस्कृति के प्रभाव का परिणाम था। किन्तु ध्यान देने योग्य है कि जिस प्रकार यूनानियों ने देवमूर्ति को बिलकुल मनुष्य बनाकर रख दिया, उस प्रकार भारत में नहीं हुआ। इस देश में - यहाँ तक कि मिस्र और बैबिलॅन में भी देवमूर्ति प्रतीकधर्मी रही है। आखिरकार यूनान के प्रभाव से रोमनों में भी मूर्ति उपासना का प्रवेश हो गया था। आर्यों की अन्यान्य शाखाओं में मूर्तिपूजा का प्रचलन प्राचीन काल में नहीं था - यह बाद में दिखाई पड़ा है। आर्येतर जातियों में शुरू से ही बैबिलॅन और मिस्र में उसका प्रचलन था। जान पड़ता है छान्दोग्योपनिषद में वर्णित 'आसुरी उपनिषद' में इन सब देशों

दो मंत्रों में [१२०६] कई एक विद्वान यह मानते हैं कि देवमूर्ति का उल्लेख है। एक मंत्र है — 'दश धेनु देकर कौन मेरे इन्द्र को खरीदेगा ? जब वृत्रों का वध हो जाएगा तब फिर मुझे वापस दे जाएगा।' अधिक मूल्य मिलने पर भी तुम्हें छोड़ूंगा नहीं वज्रधर — सौ में भी नहीं, हजार में भी नहीं, दश हज़ार में भी नहीं।' किन्तु दोनों मंत्रों में मूर्ति खरीदने-बेचने की बात नहीं जान पड़ती। पहले मंत्र का इन्द्र ऋषि की साधना द्वारा अर्जित इन्द्रबल हो सकता है जिसका प्रयोग वे दश धेनु पाने पर यजमान के अनुकूल करने के लिए राजी हैं। यह मंत्र जिस प्रसंग में प्राप्त होता है, उससे इस व्याख्या का समर्थन प्राप्त होता है।[1] दूसरे मंत्र में क्रय-विक्रय का प्रसंग केवल उपमा है अर्थात 'देवता मेरे ही रहेंगे, किसी भी मूल्य पर उन्हें नहीं छोड़ूंगा', उसमें यह भाव ही व्यक्त हुआ है।[2] कुल इन दो मंत्रों से संहिता में मूर्तिपूजा का प्रतिपादक कोई भी जोरदार प्रमाण नहीं मिलता।

किन्तु याज्ञिकों की भावना में भी हम जहाँ देवता की पुरुषविधता का इतना विपर्यय देखते हैं, वहाँ जन साधारण के बीच वह अवश्य विग्रह का आकार लेगा, यह कुछ असम्भव नहीं। षड्विंश ब्राह्मण में 'देवतायतन', और 'दैवत प्रतिमा' का उल्लेख प्राप्त होता है [१२०७], हालांकि यह ब्राह्मण अधिक प्राचीन नहीं है। गृह्यसूत्र एवं धर्मसूत्र में इन सब का अनेक उल्लेख है।[1] पाणिनि के सूत्र में 'अर्चा' अथवा देवता की 'प्रतिकृति' का उल्लेख लक्षणीय है। देखने में आता है कि देवताओं की मूर्तिपूजा किसी-किसी की जीविका है, इसके अतिरिक्त देव मूर्तियाँ बिकती भी हैं।[2] किन्तु जान पड़ता है कि मूर्तिपूजा के प्रति विपरीत भाव तब भी था। मनुस्मृति में हम देखते हैं कि मूर्तिपूजक 'देवलक' ब्राह्मण

---

के आचार-व्यवहार को लक्ष्य किया गया है (८।८।५) इसके अलावा हीब्रू (यहूदी) धर्म में ईरान के धर्म जैसा ही विद्वेष का भाव रहा है और वही ईसाई एवं इस्लाम धर्म में संक्रमित हुआ। भारत में बौद्ध धर्म में बुद्धमूर्ति की उपासना आरम्भ में नहीं थी बल्कि यूनानी प्रभाव के कारण वह पहले गान्धार में दिखाई देती है। उसके बाद बौद्ध देव-देवियों की मूर्तियाँ देश में छा जाती हैं। जैनी भी बौद्धों ही जैसे। आधुनिक भारत में प्राय: सभी हिन्दू मूर्ति-उपासक हैं। भारतीय मूर्ति उपासना की पद्धति अत्यन्त ही प्राचीन जान पड़ती है क्योंकि सिन्धु घाटी की सभ्यता में भी उसका निदर्शन प्राप्त हुआ है। मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में संक्षिप्त सारगर्भित आलोचना के लिए द्रष्टव्य HERE Images & Idols।

[१२०६] 'क इमं दशभिर ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभि:, यदा वृत्राणि जङ्घनद् अथैनं मे पुनर् ददत् ४।२४।१०। महे चन त्वाम् अद्रिव: परा शुल्काय देयाम्, न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ ८।१।५।[1] इसके पूर्व के मंत्र में ही इन्द्र का कथन है कि 'भूयसा वस्नम् अचरत् कनीयो अविक्रीतो अकानिषं पुनर्यन्, स भूयसा कनीयो नारिरे-चीद् दीना दक्षा वि दुहन्ति प्र वाणम् — बड़े के लिए कम मूल्य दिया! प्रसन्न हुआ; मैं बिना बिके ही फिर चला जा रहा हूँ। अधिक मूल्य देकर वह कम मूल्य से आगे नहीं गया। चतुर बुद्ध ऐसा करके ही व्यवसाय को नष्ट कर देते हैं।' 'दीना दक्षा' तु. ७।५।७। तु. ४।५४।२, १०।२।५; 'वाण' ॥ वणिज्; 'विदुह' दुहकर भी कुछ न पाना मंत्र का तात्पर्य है — देवता को सब देना होगा, 'पणि' अथवा बनिया होने से काम नहीं चलेगा। देवता को देना एवं उनसे पाना (गीता की भाषा में 'परस्पर भावन' ३।११।१२) क्रय विक्रय के साथ तुलना द्र. वा. ३।४९। सायण ने इस प्रसंग में सम्प्रदाय विशेष के कुछ श्लोकों का उल्लेख किया है। द्र. Geldner। मूल सूक्त के साथ दोनों मंत्रों की संगति नहीं अस्तु संभवत: संयोजन (Grassmann)। [2] अस्माकं अस्तु केवल: १।७।१०, १३।१०।

[१२०७] देवतायतनानि कम्पन्ते, दैवत प्रतिमा हसन्ति रुदन्ति नृत्यन्ति स्फुटन्ति स्विद्यन्त्य उन्मीलन्ति निमीलन्ति ५।१०। [1] द्र. मानव गृह्य सूत्र. 'यद्य अर्चा (प्रतिमा) दहयेद वा नश्येद् वा प्रपतेद् वा प्रभजेद् वा प्रहसेद् वा प्रचलेद् वा ... एताभिर् जुहुयात् ... इति दशाहुतय: २।१५।६; बौधायन गृह्य सूत्र. अथो. पनिष्क्रम्य बाह्यानि 'चित्रियाणि' अभ्यर्च्य ... स्वान् गृहान् आयाति

को देव-पितृ कार्य में वर्जन करने का विधान है।[3] श्रौत सूत्र में मूर्ति उपासना का प्रसंग नहीं है किन्तु गृह्य सूत्र में है — यह प्रणिधान योग्य है। श्रौत सूत्र का कार्य परलोक से सम्बन्धित है और गृह्य सूत्र का इहलोक से। उसका अधिकार एवं प्रभाव समग्र समाज में व्याप्त है। इसी समाज का एक बहुत बड़ा भाग स्त्रियों, शूद्रों एवं द्विज-बन्धुओं का है जिनको त्रयी श्रुति गोचर नहीं।[4] इनके बीच ही मूर्तिपूजा विकसित होकर धीरे-धीरे अभिजात वर्ग की भी स्वीकृति प्राप्त करती है। पहले ही हमने बतलाया है कि बहुत कुछ को ही आत्मसात करके अपना बना लेना ब्राह्मण्य धर्म की एक विशेषता है। इस प्रसंग में भक्तिधर्म, अवतारवाद, और देवमानव की पूजा-ये सभी स्मरणीय हैं। इनके साथ विग्रह अथवा मूर्ति का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। उपनिषद में हम देखते हैं कि मनुष्य देवता हो रहा है और इतिहास-पुराण में देवता मनुष्य के मध्य अवतरित हो रहे हैं। पहला जिस प्रकार दुःसाध्य है, दूसरा उसी प्रकार सहज है। मूर्तिपूजा का मूल भी यही है।

उसके बाद का मामला 'शिश्नदेवों' को लेकर है। ये सब भी निश्चय ही अनृत देवों के अन्तर्गत हैं। ऋक् संहिता के दो स्थलों पर इनका उल्लेख है। एक मंत्र वसिष्ठ का है, मूरदेवों के प्रति जिनकी विपरीत भावना का परिचय हमें पहले ही प्राप्त हुआ है। ऋषि कहते हैं, 'हे इन्द्र, जादू विद्या कहीं हमें प्ररोचित न करे या वे सब घोषणाएँ जिनमें है विद्या का अभिमान, हे प्रबलतम; वे अभिभूत करें उसी जीव को जो हमारे विकट अरि (शत्रु) हैं, ये शिश्नदेव कहीं हमारे ऋत में प्रवेश न कर पाएँ [१२०८]।' अन्त की उक्ति में ऋत के साथ अनृत का विरोध स्पष्ट ही संकेत दे रहा है कि शिश्नदेवों को ही अनृतदेव की संज्ञा दी गई है। जान पड़ता है, ऋक् के चारों चरण में चार प्रकार के देवविरोधियों की चर्चा की जा रही है। एक प्रकार के विरोधी वे यातुधान अथवा जादूगर हैं जिनका पेशा जादू-टोना और अपदेवताओं का लोक है। पूर्वोल्लिखित रक्षोघ्न-सूक्त में[?] इनके प्रति वसिष्ठ की विरक्ति तीव्रता के साथ व्यक्त हुई है। अन्यत्र वे स्पष्ट ही कहते हैं, 'हे अग्नि मैं देवताओं का आह्वान करता हूँ — जादू द्वारा नहीं; ऋतसिद्ध करके

(देवकुल या देवमन्दिर के बाहर; सम्भवतः सार्वजनिक) २।२।१२। देवायतन का उल्लेख : लौगाक्षि गृह्य सूत्र. १८।२, गौतम गृ. ९।६६, कौषीतकि गृ. १।१८।४, काठक गृ. १८।२; वासिष्ठ धर्मसूत्र. ११।३१, विष्णु ध. ९१।१९, शांखायन गृ. ४।१२।१५, वैखानस गृ. ४।११ : ११, १२ : १३...। देवकुल (=देवमंदिर) : कौषीतकि गृ. २।७।२१, शांखायन गृ. २।१२।६, काठक गृ. १९।२) देवकुलायतन : कौषीतकि गृ. ३।११।१५। देवता की अर्चा : विष्णु ध. २३।२४, ६३।३६, (वासुदेव की) ६५।१। देवालय : अग्निवेश्य गृ. २।५।४ : २, वैखानस ध. ३।२।८, ६।६, विष्णु ध. ९१।०८...। [2] 'अर्चा' : ५।२।१०१, मूर्तिपूजक 'आर्च'। 'प्रतिकृति' : इवे प्रतिकृतौ ५।३।९६, जीविकार्थे चा. पण्ये ९९। तत्र पतंजलि का महाभाष्य : अपण्य इति उच्यते। तत्रेदं न सिद्ध्यति शिवः स्कन्दः विशाख इति। किं कारणम्। मौर्यैर् हिरण्यार्थिभिर् अर्चाः प्रकल्पिताः। भवेत तासु न स्यात। यास त्वे.ता सम्प्रति पूजार्थास तासु भविष्यति। वासुदेव शरण अग्रवाल इससे निर्धारित करते हैं कि पाँच प्रकार की देवमूर्तियाँ थीं : सार्वजनिक, देवायतन की, देवलक ब्राह्मणों की, विक्री के लिए, मौर्यों की, पतंजलि के समय में प्रचलित (द्र. पाणिनि कालीन भारतवर्ष, चौखम्बा सिरीज़, वाराणसी, पृ. ३५६-५८।) ए. पी. बनर्जी-शास्त्री कहते हैं कि मौर्य के अर्थ में राजवंश का नहीं बल्कि 'मूर' अथवा मूर्ति से सम्बन्धित कारबार करने वालों का बोध होता है (ICONISM IN INDIA, *Indian Historical Quarterly*, XII pp. 335-41)। यह बात विचारणीय है। [3] ३।१५२। [4] तु. भा. १।४।२५।

[१२०८] न यातव इन्द्र जूजुवुर्नो न वन्दना शविष्ठ वेद्याभिः, स शर्धद् अर्यो विषुणस्य जन्तोर् मा शिश्नदेवा अपि गुर् ऋतं नः ७।२१।५। 'वन्दना' < √वद॥ वन्द्, घोषणा करना (तु. ऋ. तवाहं शूर रातिभिः प्रत्यायं सिन्धुम् 'आवदन्' १।११।६), बृहद् 'वदेम' विदथे सुवीराः २।१।१६ अनेक सूक्तों की टेक) उससे 'वाद, उद्य' जैसे ब्रह्मवाद, ब्रह्मोद्य। उसका ही विकार है 'जल्पि', जल्पना, कुतर्क (तु. न्याय के वाद, जल्प एवं वितण्डा) ऋ. में जो निन्दित; तु. 'मा नो निद्रा ईशत मो. त जल्पिः' — निद्रा कहीं मुझे वश में न करे, न करे कहीं

ही धी को निहित करता हूँ (उनमें)।' दूसरे प्रकार के देवविरोधियों में देवनिन्दक तार्किक हैं, शत्रोघ्न-सूक्त में इनके प्रति भी कटाक्ष है। तीसरे प्रकार के वे हैं जिनकी संज्ञा 'अरि' — देवताओं को देने में जिनमें कुण्ठा का भाव है जो 'विषुण' अथवा 'द्वयावी' — कभी भले कभी बुरे, अतएव द्विधाग्रस्त। और चौथी अन्तिम श्रेणी इन शिश्नदेवों की है।

दूसरा मंत्र है : [१२०८] 'वे (इन्द्र) पंगु नहीं ऐसे घोड़े पर चढ़कर जाते हैं वज्रजय के लिए; सूर्य को छीनकर अपना बनाने के फेर में घेर लिया (असुरको) जब अगम देवताने शतदुवारी के वित्त को अभिभूत किया [2] चित्ररूप द्वारा, मारा शिश्न देवों को।' यह समस्या जटिल है, पृष्ठभूमि में वृत्रवध की कहानी है। वृत्र आवरणकारी अविद्या शक्ति की साधारण संज्ञा है। एक वृत्र शम्बर है, जो शतदुवारी दुर्ग में रहता है। हमारा यह आधार वही शतदुवारी दुर्ग है जिसके भीतर दैवी सम्पद असुर की पकड़ में अवरुद्ध है। इन्द्र अपनी वज्रशक्ति से इस अवरोध को तोड़कर उस आलोकवित्त का उद्धार करते हैं। उस समय चिदाकाश में सूर्य के प्रकाशित होने पर देवता की अनुपम अनिर्वचनीय ज्योतिर्मूर्ति दिखाई पड़ती है। यहाँ मूल असुर शम्बर है और शिश्नदेव अनुचर हैं।

शिश्न अथवा जननेन्द्रिय जिनका देवता है, इस अर्थमें यास्क का कथन है 'शिश्नदेवा अब्रह्मचर्याः' [१२१०]। द्वितीय मंत्र में यह अर्थ उपयुक्त हो सकता है क्योंकि आध्यात्मिक दृष्टि से शिश्नदेव वहाँ हमारे ही आधार की आसुरी वृत्तियाँ हैं जिनका लक्ष्य भोग एवं ऐश्वर्य है किन्तु प्रथम मंत्र के शिश्नदेवों से स्पष्टतः अवैदिक उपासक सम्प्रदाय का बोध होता है। क्योंकि वहाँ का प्रसंग अदेवों से जुड़ा है और विरोध का विषय 'ऋत' अथवा धर्मानुष्ठान है। आधुनिक पण्डितों ने दोनों क्षेत्रों में ही शिश्नदेवों को लिंगोपासक बतलाया है। लिंग प्रतिमा नहीं, प्रतीक है। सम्प्रति वह शिव के साथ जुड़ा है। इस प्रसंगमें स्मरणीय है कि पुराणानुसार **शिव यज्ञभागी नहीं**; क्योंकि वे व्रात्यों के परम देवता एकव्रात्य हैं — महादेव, ईशान, नीललोहित उनके नाम हैं;

---

जल्पना ८।४८।१४; कुहरे और जल्पना से जिनका चित्त आच्छादित १०।८२।७। 'वेद्या'॥ विद्या, तु. तु. ३।५६।१; किन्तु यहाँ बाद का मत ही निन्दा के अर्थ में; तु. सत और असत् को लेकर 'वचसी पस्पृधाते' — बातों की लड़ाई ७।१०४।१२; इन्द्र 'हन्त्य् आ, सद् वदन्तम्' — असद्वादी का विनाश करते हैं १३। सर्वत्र एक ही अनुषंग। १ द्र. १५, १६, २०, २२, २४...। २ ह्वयामि देवाँ अयातुर् अग्ने साधन्न् ऋतेन धियं दधामि ७।३४।८। [3] ७।१०४।१४ ये सब द्रोघवाचः — इनकी बातों से केवल विद्रोह का स्वर फूटता है। प्रति तु. 'अभि वो देवीं धियं दधिध्वं प्र वो देवत्रा वाचं कृणुध्वम्' — देवताओं के भीतर निहित करो अपनी दिव्य धी को, अपनी वाक् को आगे बढ़ा दो उनकी ओर ७।३४।९

[१२०८] स वाजं याता ऽपदुष्पदा यन्त् स्वर्षाता परि षदत् सनिष्यन्, अनर्वा यच् छतदुरस्य वेदो घ्नञ् छिश्नदेवाँ अभि वर्पसा भूत् १०।९९।३। तु. शतम् अश्मन्मयीनां पुराम्...४।३०।२० असुरों के निन्यानवे पुरों का प्रसंग अनेक स्थलों पर है। पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक इन तीनों लोकों में देवताओं का वास है, संख्या में जो तैंतीस हैं। अप्रबुद्ध लोगों के ~~भीतर~~ वे असुरों के निन्यानवे पुरों में अवरुद्ध हैं। उनसे भी ऊपर होने से वृत्रघाती इन्द्र 'शतक्रतु'। इन्द्र 'अत्रये शतदुरेषु गातुवित्' — शतदुवारी (दुर्ग में अवरुद्ध) अत्रि के लिए मार्ग ढूँढ कर निकालते हैं (१।५१।३)। यहाँ आधार ही वह दुर्ग है (तु. उपनिषद का गुहाग्रन्थि विकिरण मु. २।१।१०, ३।२।९; क. २।३।१५। आधार की गुहा में बन्दी यही अत्रि फिर 'सप्तवध्रिः' उनके सात क्लैब्य अथवा असामर्थ्य, उनके शीर्षण्य प्राण की सातों शिखा ही सीमित (१०।३९।९; तु. 'नचिकेता' अर्थात् जो जानता नहीं')। १ वाज ॥ वज्र ॥ ओजः < √ वज् 'शक्ति का उच्छलन, या छलकजाना' (तु. Gk. auxo 'I increase', Lat. augere 'to increase',) अश्व 'वाजी', ओजः शक्ति का प्रतीक (तु. १०।७०।१०)। २ 'वपुः' ५।१२।११
[१२१०] नि. ४।१९। १ शौ. १५।१; शौनक संहिता में देखते हैं कि मागध-पुंश्चली

रुद्र की तरह धनुष उनका विशिष्ट प्रहरण है; विष्णु का अवतार असुरों के वध के लिए होता है किन्तु असुर शिवोपासक हैं;[2] संहिता में देखते हैं कि वज्र त्रिशूल को विनष्ट करता है, उससे देवनिन्दकों का नाश होता है। पुरातत्व के मत से सिन्धुघाटी में लिंगोपासना का प्रचलन था। इससे वैदिक और अवैदिक दोनों धाराओं में विरोध का एक आभास मिलता है। सम्प्रति वह समन्वय में पर्यवसित हुआ है। लिंगोपासना मूलतः अवैदिक है तब भी लगता है उसकी छाया वैदिक परम देवता विष्णु पर भी पड़ी थी।[3]

देवताओं के विग्रहवत्व को लेकर वितर्क को वस्तुतः दर्शन में भी स्थान प्राप्त है। किन्तु आश्चर्य की बात है कि जो पूर्व मीमांसा कर्म की भूमिका में विशेष रूप से देववादी है, वही देवता का विग्रहादि पंचक स्वीकार नहीं करती किन्तु उनका विग्रहवत्व प्रतिष्ठित करने में ब्रह्मवादी उत्तरमीमांसा का ही आग्रह अधिक है [1211]।

संहिता, ब्राह्मण एवं उपनिषद में देखते हैं कि देवता का रूप है किन्तु सुस्पष्ट विग्रह नहीं। स्त्री पुरुष के भेद से अलग सारे देवता ही एक। [1212]। देवता वस्तुतः मनुष्य की तरह ही हैं, उनका वृषभ, वाजी, सुपर्ण, हंस इत्यादि सम्बोधन उपमा मात्र है, इसकी अपेक्षा उनका 'नर' सम्बोधन ही अधिक है। देवता का वाहन होने से पशु भी देवता की मर्यादा प्राप्त करते हैं किन्तु उस कारण उनकी उपासना नहीं होती [1213]। अनेक देवता रथ वाले हैं। कभी-कभी प्रहरण या अस्त्र से देवता का वैशिष्ट्य सूचित होता है और कहीं-कहीं नैसर्गिक मूल अधिक स्पष्ट है एवं वह भी देवता भेद का सूचक है।

---

व्रात्य के सहचर हैं, 'अब्रह्मचर्याः' होने से तब यास्क का कटाक्ष याद पड़ता है। इस प्रसंग में 'कितव-क्लीव' भी स्मरणीय। तु. तंत्र का वामाचार एवं दक्षिणाचार; शिव महाभोगी एवं महायोगी दोनों ही। [2] 'त्रिरश्रिं हन्ति चतुरश्रिर् उग्रो, देवनिदो ह प्रथमा अजूर्यन्' — अर्थात त्रिकोण को मारता है चतुष्कोण वज्रतेजा होकर, देवनिन्दक ही पहले जीर्ण हो गए 1।152।2। वज्र 'चतुरश्रि' अथवा चतुष्कोण (चौकोना) 4।22।2 (तु. शौ. 10।2।10), वही इन्द्र का प्रहरण, और शिव त्रिशूलधारी। [3] विष्णु 'शिपिविष्ट' 7।100।5-6; द्र. 'विष्णु' तु. पौराणिक शालग्राम शिला। इस प्रसंग में तु. स्कम्भ, खंभा, थामन; 'दिवः स्कम्भः समृतः पाति नाकम' — द्युलोक के स्तम्भ (अग्नि अथवा सूर्य) संहत होकर रक्षा करते हैं ऊर्ध्वलोक की 4।13।5 (14।5); सोम 'दिवो यः स्कम्भो धरुणः स्वातत आपूर्णो अंशुः पर्येति विश्वतः' — द्युलोक के स्तम्भ हैं, जो धारण किए हुए हैं सुप्रसारित होकर, उनका ही आपूर्ण एक अंश (अंशु) फैला हुआ है चारों ओर 9।74।2 (सुषुम्णा तंतु के ऊपरी सिरे पर सहस्रार का स्मरण दिला देता है 8।46); 'आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे' — प्राण का स्तम्भ ऊर्ध्वतम के नीड़ में 10।5।6 (विश्व का आदि कारण; उसके बाद ही दक्ष और अदिति का उल्लेख है: शिव, दक्ष और दाक्षायणी सती का प्रसंग याद आता है); वरुण अपने स्तम्भ द्वारा द्युलोक, अन्तरिक्ष और भूलोक को धारण किए हैं 8।41।10 (वरुण और शिव दोनों ही महाकाश के देवता); द्र. शौ. स्कम्भ ब्रह्मसूक्त 10।7-8। स्कम्भ और शिवलिंग का सादृश्य लक्षणीय। इसके अतिरिक्त देखते हैं यज्ञ का पशुबन्धन 'यूप', जिसमें पशु अथवा प्राण का 'संज्ञपन' अर्थात इस चेतना का प्रविलय सम्यक चेतना में: और फिर मृत्युंजय शिव भी पशुपति। महाव्रत में अब्रह्मचर्यानुष्ठान भी स्मरणीय।

[1211] द्र. पूर्वमीमांसा 9।1।6 शाबर भाष्य, ब्रह्मसूत्र 1।3।26-30। विग्रहादि पंचक: 'विग्रहो हविषां भोग ऐश्वर्यं च प्रसन्नता फलप्रदानम् इत्य एतत् पंचकं विग्रहादिकम्।' आज यदि वैदिक ऋषि लौटकर आते तो देखते कि मूर्ति एवं लिंग की उपासना में देश लीन है। एक की प्रेरणा आई विष्णु से और दूसरे की प्रेरणा शिव से। एक में प्रधान प्रतिमा है और एक में प्रतीक, एक में रूप और एक में अरूप।

अब हम देवताओं के गुण और कर्म का विवरण प्रस्तुत करेंगे। इस दृष्टि से देवताओं का सादृश्य और भी अधिक है। संहिता के प्रधान-प्रधान देवता के गुण-बोधक विशेषणों की सूची से स्पष्ट है कि अनेक विशेषण सभी देवताओं के पक्ष में ही लागू होते हैं। कर्म के सम्बन्ध में कुछ वैचित्र्य की स्थिति स्वाभाविक है किन्तु उसके बावजूद अनेक कर्म सभी देवताओं के पक्ष में साधारण हैं। उनके गुण एवं कर्मबोधक इन साधारण विशेषणों के आलोचन अनुशीलन से वैदिक ऋषियों की दैवत भावना का एक स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है। यास्क ने अपनी निरुक्ति अथवा निर्वचन में देवता के जिस वैशिष्ट्य का उल्लेख किया है — 'देवता का धर्म है, दान, दीपन एवं द्योतन' अर्थात उपासक को समृद्ध करना दीप्त करना एवं स्वप्रकाश रूप में उसके निकट आविर्भूत होना — वही सब देवता का साधारण लक्षण है। और गुण-कर्म का यह साधारण्य या साधारणता जो एक मूल अद्वैतबोध से अनुप्राणित है जिसे निःसंकोच कहा जा सकता है।

देवताओं के सामान्य विशेषणों को गुण कर्म एवं सम्बन्ध इन तीन दृष्टियों से देखा जा सकता है। पहले गुण की चर्चा करेंगे।

देवता **अजर एवं अमृत** हैं, यह उनका प्रधान लक्षण है। मनुष्य का भी परम पुरुषार्थ है 'विजरो विमृत्यु:' होना [१२१४]। जरा-मृत्यु प्रकृति-परिणाम का फल है। देवता उसके ऊपर हैं, वे सत्-स्वरूप अथवा सत्य हैं। उनकी सत्ता से ही जगत में जो कुछ भूत अर्थात हुआ या हो चुका है, वह सत् है क्योंकि यह सभी उनकी विसृष्टि है; वे सर्वभूतपति हैं अतएव **सत्-पति** हैं। उनके इस सत्य अथवा सत्ता के उस पार काल की गति नहीं; इसलिए देवता **प्रथमज** अथवा **पूर्व्य** हैं। इस अनादि स्थिति में [1] वे अपने आप में अवस्थित हैं वही उनकी स्वधा है; अतएव वे **स्वधावान** हैं। यह उनके स्थाणुत्व का पक्ष है, फिर इससे ही ऋत के छन्द में अथवा सत्य एवं सुव्यवस्थित शाश्वत विधान के छन्द में उनकी विसृष्टि अथवा उच्छलन, जैसे निसर्ग या प्रकृति में 'ऋतु'-चक्र के आवर्तन में देखते हैं; अतएव वे **ऋतवान** हैं। उनके भीतर स्थाणुत्व एवं चरिष्णुता के एकाकार होने के कारण वे [2] **असुर** हैं। वे चिन्मय हैं, उनकी चेतना प्रकाश की तरह सर्वत्र छिटकी हुई है, अतएव वे **प्रचेता:** हैं। हमारी दृष्टि अचित्ति अथवा अविवेक से आच्छन्न है, हम 'अचिकिता:' हैं; किन्तु देवता **चिकित्वान** हैं, सब कुछ स्पष्ट रूप में देखते हैं, जानते हैं। इसलिए वे **विद्वान**, **विश्ववेदा:** हैं। **निखिल धी अथवा** विज्ञान के उत्स के [3] रूप में वे **धीर** हैं। उनकी दृष्टि सृष्टि की आकृति में प्रसर्पित-प्रसृत है, अतएव वे **कवि** हैं, यह जगत उनका काव्य है। वे **शिव**, **श्रीमान**, **सुम्न** अथवा आनन्द के निलय हैं। वे [5] **विप्र** अथवा भाव-प्रवण हैं। वैपुल्य में, दीप्ति में एवं शक्ति में वे [4] **महान** हैं, वे **बृहत्** हैं।

---

[१२१२] तु. शाकपूणि की समस्या
[१२१३] प्रतितुलनीय, पश्वाकृति देवता : अज एकपात्, अहि बुध्न्य, पृश्नि, सरमा। किन्तु वहाँ भी उपमा का भाव ही प्रबल।
[१२१४] तु. छा. ८।१।५, ७।१,२; श्वे. २।१२। यह ऋषि- और मुनि- दोनों धाराओं का ही लक्ष्य है। तु. जरा, व्याधि और मृत्युजय का संकल्प लेकर बुद्ध का गृहत्याग। जराजय में जीवनोल्लास का परिचय। सूर्योपासना के मूल में यही तत्व है — विष्णु के जिस परम पद में मधु अथवा अमृतचेतना का उत्स है (ऋ. १।१५४।६) जिस माध्यन्दिन महिमा में वे 'युवा अकुमार:' अथवा नित्यतरुण है (१।१५५।६), उससे तनिक भी स्खलित न होना।
[1] आनीद् अवातं स्वधया तद् एकम् १०।१२९।२। [2] असु (<√ अस् 'निक्षेप करना, विकिरण करना; √ अस् 'रहने' की व्यंजना भी है) + अस्ति के अर्थ की। जिस प्रकार सूर्यमंडल से ताप और ज्योति का विकिरण, छान्दोग्योपनिषद में जिसे 'ब्रह्मक्षोभ' कहा गया है (३।५।३)। ऋक् संहिता में सूर्य 'जीव असु:' (१।११३।१६)। 'असुर' देवता की जाति प्राचीन एक संज्ञा है (तु. महद् देवानाम् असुरत्वम् एकम् ऋ. ३।५५ सूक्त की टेक) अवे. में 'अहुर'। [3] श्वे. अन्ति सन्तं न जहात्य् अन्ति सन्तं न पश्यति, देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति १०।८।३२। [4] <√ मह 'प्रकाश देना, फैल जाना, समर्थ होना'। उससे 'मह:' आदित्य रूप में चतुर्थ व्याहृति (तैउ. १।५), जिसमें दीप्ति, व्याप्ति एवं शक्ति का संगम है। [5] <√ बृह् 'बढ़ते रहना'। इसी से उपनिषद् का 'ब्रह्म'।

उसके बाद देवता सूर्य की तरह हैं अर्थात उनमें प्रकाश है, ताप भी है। यही ताप अथवा **तपः** उनकी चितशक्ति है, उनकी सिसृक्षा अथवा **क्रतु** है। उनकी क्रान्तदर्शी कविचेतना इस क्रतु अथवा सृजनेच्छा का स्रोत है जिसके कारण वे **कविक्रतु**, **सुक्रतु** हैं। अन्धकार के आवरण से आलोक छीन कर लाते हैं वे हमारे लिए, इसलिए वे **स्वर्विद्** हैं, **स्वर्षाः** हैं। वे **वीर** हैं समस्त बाधाओं को दूर करने के कारण वे **सहस्वान्** हैं। उनमें **वाज** अथवा **वज्रतेज** है और **शव**, **शुष्म** अथवा प्रबल प्राणोच्छ्वास है। उसी से वे **विचर्षणि** अथवा सर्वसंचर हैं। निरन्तर निर्झरित होती रहती है उनकी शक्ति, इसलिए वे **वृषा** हैं। वे निखिल के या सब के **पति** एवं **ईशान** हैं। परम ममता द्वारा हमारी रक्षा के प्रति सतर्क दृष्टि रखने के कारण **अविता** एवं **गोपा** हैं। यही उनकी शक्ति एवं कर्म का परिचय है।

उनके साथ हमारे समस्त सम्बन्ध ही अत्यन्त स्वच्छन्द एवं सुमंगल हैं। वे **यजत्र** हैं, हमारे उत्सर्ग एवं उपासना के लक्ष्य हैं। उस समय वे हमारे **राजा**, **पिता**, **माता**, **सखा** — यहाँ तक कि **सूनु** या पुत्र हैं क्योंकि अपनी तपःशक्ति से हम ही तो उन्हें इस आधार में जन्म देते हैं। वे सर्वदा हम लोगों के **प्रिय** हैं। वे **सुमति** हैं, हमने उनका मन पाया है। उन्होंने अपनी समस्त सम्पदा हम सब के लिए उँड़ेल दी है, इसलिए वे **सुदानु** हैं।

जिसके जो भी देवता इष्ट क्यों न हों, उनके प्रति ये सभी विशेषण अनायास प्रयुक्त हो सकते हैं। देवताओं के सम्बन्ध में विशेषण का यह साम्य ऋषियों की अद्वितीय भावना का ही परिचायक है। नाम एवं रूप की भिन्नता के बावजूद सारे देवता उसी एक की ही विभूति हैं। आरम्भ में वे अनेक हैं किन्तु उनका अन्त एक में है। सूर्यमण्डल से सूर्य किरण की तरह एक से ही अनेक की विसृष्टि होती है। अनेक एवं एक दोनों ही सत्य हैं एवं **युगपत** सत्य हैं।

## ३. देवताओं की संख्या

देवताओं के स्वरूप, रूप, गुण और कर्म की चर्चा के बाद अब हम उनकी संख्या के बारे में बात करेंगे। देवता एक नहीं अनेक हैं। इसके सम्बन्ध में सूत्र रूप में हमने प्रथम अध्याय में कुछ प्रकाश डाला है।[१२५] वर्तमान प्रसंग उसकी ही अनुवृत्ति एवं प्रपंचन या विस्तार है।

वेद में अनेक देवताओं का उल्लेख एक नज़र में ही सब को दिखाई देता है। रूप की बात के अतिरिक्त देवता के स्वरूप, गुण और कर्म की दृष्टि से विचार करने पर यह अनेकत्व की भावना आद्योपान्त एकत्व की भावना द्वारा विधृत है तथा रूप की दृष्टि से भी देवता का अमूर्तत्व एकत्व भावना का पोषक है क्योंकि अनेक का मेला रूप और इन्द्रिय बोध के जगत में है किन्तु जो अरूप एवं अतीन्द्रिय है उसकी प्रवणता स्वभावतः एकरस प्रत्यय की ओर है। अनेक और एक के बीच आर्यभावना किसी प्रकार का विरोध नहीं देखती, इस बात का उल्लेख बार-बार करना पड़ रहा है इसलिए कि इस देश के बहुदेववाद के प्रति भिन्न धर्मवालों के उन्नासिक कटाक्षपात ने कुछ हीनमन्यता की सृष्टि की है। अध्यात्म विज्ञान की दृष्टि से वह आधारहीन है इसलिए ही उसका दूरीकरण नितान्त वांछनीय है।

---

[१२५] द्रष्टव्य. प्रथम अध्याय।

बृहदारण्यकोपनिषद में देवताओं की संख्या को लेकर शाकल्य के साथ याज्ञवल्क्य के प्रश्नोत्तर का एक रोचक विवरण है। शाकल्य ने याज्ञवल्क्य से पूछा- 'देवता कितने हैं?' याज्ञवल्क्य ने पहले उत्तर दिया, 'तीन सौ तीन और तीन हज़ार तीन।' उसके बाद धीरे-धीरे उस संख्या को कम करते हुए कहा- "देवता एक ही है और वह देवता है प्राण। जिसे तत्वविदों ने ब्रह्म अथवा त्यत की संज्ञा दी है। यह प्राण ब्रह्म ही विभिन्न लोकों में अर्थात मनोज्योति से आलोकित चेतना के विभिन्न स्तरों पर शारीर-पुरुष से आदित्य पुरुष अथवा छायापुरुष के रूप में अभिव्यक्त हुए हैं। पुनः वे ही सारी दिशाओं में भिन्न-भिन्न दिशा के अधिष्ठात्री देवता के रूप में अवस्थित हैं। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण एवं ऊर्ध्व- इन पाँच दिशाओं से पाँच देवता जीव के हृदय में शलाका की तरह जुड़े हुए हैं। हृदय की प्रतिष्ठा पंचवृत्ति प्राण में है। प्राण की प्रतिष्ठा 'नेति-नेति' वाद लभ्य असंग आत्मा में है। वे ही औपनिषद पुरुष हैं। बाहर का जो कुछ है, सब जिस प्रकार उनके द्वारा विसृष्ट या प्रेरित है उसी प्रकार फिर उनमें ही निहित है। इसके अतिरिक्त सब कुछ के परे भी वे ही विद्यमान हैं। वे ही 'विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म' हैं। वे ही एक देवता हैं [१२१६]।"

याज्ञवल्क्य ने यहाँ जो स्थापित किया, वह एकदेववाद (MONOTHEISM) और अद्वैतवाद का समन्वय है। देववाद पराक् (Objective) अथवा वस्तुनिष्ठ दृष्टि का परिणाम है। तब इष्ट ज्ञेय। और इष्ट जब ज्ञान होता है तब प्रत्यक् (Subjective) अनुभव से अद्वैतवाद की सृष्टि होती है। एकदेववाद उसके अन्तर्गत होता है। किन्तु इससे ही सब शेष नहीं हो जाता। प्रत्यक् अथवा आत्मनिष्ठ अनुभव के अन्तिम छोर पर कोई कुछ ऐसा रहता है जो पकड़-पहुँच के बाहर है। याज्ञवल्क्य उसे 'त्यत्' की संज्ञा देते हैं। उसका आदेश 'नेति-नेति' है।

इस देश के एकदेववाद की दृष्टि कभी भी ऐसी नहीं रही कि एक देवता ही हैं इसलिए अन्य देवता नहीं। अनेक को अलग करके एक नहीं बल्कि अनेक को लेकर एक है। अवश्य, एक की ओर जाने पर 'नेति नेति' के रूप में एक समय हमें अनेक को अपने मतलब से ही छोड़ देना पड़ता है। किन्तु मूल में देखते हैं कि वहाँ से एक ही विविध रूपों में उत्पन्न हो रहे हैं। उस समय हम फिर कहते हैं, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। तब अनेक देवता एक देवता की ही महिमा हैं। शाकल्य ब्राह्मण के आरम्भ में ही याज्ञवल्क्य ने इस महिमा का उल्लेख किया है। जिसे गीता में 'विभूति' [१२१७] कहा गया है। पहले ही हमने बतलाया है कि इस विभूतिवाद को समझे बिना इस देश के एकदेववाद को नहीं समझा जा सकता और न तो यह समझ में आएगा कि

[१२१६] द्र० बृ० ३।८। प्रतितु० ऋ० ३।५।५।

[१२१७] 'भूति' होना, *becoming* (तु० GK. *phusis* 'Nature')। उससे होने के वैचित्र्य के बोध के लिए 'वि-भूति' (तु० ऋ० एकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ८।५८।२; १।८।५, ३०।५, ६।२१।१, १७।४... 'विचित्र रूप में प्रकाशमान'), और समाहार के बोध लिए 'सम्-भूति' (तु० एतावती महिना सं-बभूव १०।१२८।८; ई० १२, १४)। वैदिक भावना में विसृष्टि देवता की विभूति अथवा एक से रूप-रूप में प्रतिरूप अथवा अनेक 'होना' है। जहाँ कुछ भी नहीं होता वहाँ असम्भूति, विनाश अथवा असत (तु० ई० १२-१४; ऋ० १०।५।७, ७२।२, ३, ८, ९; १२९।१, ४)। तो फिर विसृष्टि की धारा कुछ इस प्रकार है, असम्भूति > सम्भूति > विभूति। उपनिषद की भाषा में यह सम्भूति 'सर्वेश्वरः... सर्वज्ञः... अन्तर्यामी... योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्, मा० ६। तु० गीता १० 'विभूतियोग'।

अद्वैतवादी शंकर को अनेक देवताओं के स्तुतिकार के रूप में कल्पना करने में हमें कोई आपत्ति क्यों नहीं और वैनाशिक बौद्धों के महाशून्य में क्यों हजारों देव-देवियाँ उतरते हैं? यह सब अवक्षय का संकेत नहीं बल्कि पूर्णता का निदर्शन है। आदि से अन्त तक इस देश के अध्यात्म मानस की संरचना ऐसी ही है।

इस मानसिकता के मूल में जो भावना क्रियाशील रही है उसका रूप इस प्रकार है— मैं और मेरा जगत इन दोनों को जिस परमतत्व ने अपने भीतर समेट रखा है वह तीन में एक और एक में तीन है। आत्मा, जगत और ब्रह्म एक। यही अद्वैतवाद का रहस्य-बिन्दु है। उसके अनुभव के स्फुरण का एक स्वाभाविक नियम है। पहले मनुष्य परमतत्व को वस्तुनिष्ठ दृष्टि से देखता है। उस समय तत्व देवता एवं विश्व का निर्माता और विधाता होता है। तब मुझमें, विश्व में एवं देवता में भेदभाव प्रबल होता है। उस समय दर्शन का साधन मन है जिसके भेद का संस्कार स्वाभाविक होता है। किन्तु 'दीधिति' [१२१८] अन्तर्मुखी एकाग्रता की प्रेरणा[1] से यह मन ही मनीषा में उत्तीर्ण होता है और हृदय की अथाह गहराई में उतर जाता है। और तब देवता के साथ मेरा सायुज्य बोध आविर्भूत होता है।[2] अपने भीतर उनका आविर्भाव अनुभव करता हूँ और अनुभव की प्रगाढ़ता में देखता हूँ कि वे मेरे सभी कुछ हैं, मैं उनका प्रतिरूप हूँ। अन्त में देखता हूँ कि वे केवल मैं होकर ही नहीं बल्कि वे ही सब कुछ हुए हैं— 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते', 'श्रियो वसानश्चरति स्वरोचिः'। तब फिर वे जगत के निर्माता नहीं बल्कि जगत उनकी 'विसृष्टि' अर्थात आत्मोत्सारण है, आत्मोत्सर्ग है। उस समय जगत को देखने पर उन्हें ही देखता हूँ— 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात'— सहस्र सिर के साथ सहस्र चक्षुओं से देखते हुए सहस्र चरणों से वे ही विचरण कर रहे हैं, फिर चारों ओर से इस भूमि को घेर कर उससे दश अंगुल ऊपर स्थित हैं।'

यह दृष्टि जब खुलती है तब जो कुछ भी है उसके निषेध का प्रश्न ही नहीं उठता। सब को लेकर ही तब एक। एक की संज्ञा है सत्। संहिता की भाषा में देवता तब 'एक सत्'।

यह अद्वैतभावना का एक पक्ष है जिसे इतिवाद कहते हैं। फिर इस सत से भी परे है असत। तब हम नेतिवाद में अद्वैत भावना के दूसरे पक्ष का परिचय प्राप्त करते हैं। ऊपर की ओर उठते समय शुरू में ही नेतिवाद का बोध हो सकता है। पहले हम कहते हैं, वे न यह हैं, न वह हैं; उसके बाद कहते हैं वे ही सब हैं। वैदिक ऋषि ने पहले की उपमा रात के साथ दी है जिसके देवता वरुण हैं। दूसरे की उपमा दिन से दी गई है, जिसके देवता मित्र हैं। सत्य का सूर्य उससे भी ऊपर प्रकाशमान है। वहाँ दिन भी नहीं, रात भी नहीं, सत् भी नहीं, असत् भी नहीं।

[१२१८] 'दीधिति' (<√धी 'चिन्तन करना, ध्यान करना', निघ. 'रश्मि' १।५) ध्यानतन्मयता तु. ऋ. 'इयं सा वो अस्मे दीधितिर् यजत्रा अपिप्राणी सदनी च भूयाः, नि या देवेषु यतते वसूयुः' तुम लोगों के उद्देश्य के प्रति हे यजनीय गण, हमारी दीधिति हो सब की आपूरक एवं तुम सब की प्रतिष्ठात्री, देवताओं को लक्ष्य करके जिसका प्रयत्न निविड हो आलोक की कामना में १।१८६।११। ध्यानचेतना की एकतानता, आवेश एवं व्याप्ति ये तीनों लक्षण ही यहाँ व्यक्त हुए हैं। [1] तु. ऋ. 'इन्द्राय हृदा मनसा मनीषा प्रत्नाय पत्ये धियो मर्जयन्त'— जो आदि पति हैं, उस इन्द्र के उपलक्ष्य में ध्यानचेतना को मार्जित करते हैं, मन, मनीषा और हृदय द्वारा १।१६१।२ (तु. क. २।३।५) मन द्वारा खोजना, मनीषा द्वारा समझना और हृदय द्वारा प्राप्त करना। [2] ऋक्संहिता में इसी से आत्मस्तुति वाचक मंत्रों की उत्पत्ति। तु. एना महान् बृहद्दिवो अथर्वाऽवोचत् स्वां तन्वम् इन्द्रम् एव १०।१२०।९।

पूर्णाद्वैत की यह त्रिपुटी — सत्, असत्, न सत् ना.सत् ये तीनों संज्ञाएँ संहिता की हैं। वही उपनिषद् में याज्ञवल्क्य की भाषा में प्राण, ब्रह्म एवं त्यत् हैं। प्राण सत् है, त्यत् अनिर्वचनीय है। ब्रह्म अतिष्ठा होकर प्राण की प्रतिष्ठा है और त्यत् होता है। आत्मचैतन्य में ही इस परम त्रिपुटी अथवा त्रिक का अनुभव होता है। हृदय उस अनुभव का स्थान है — इसका उल्लेख याज्ञवल्क्य ने बार-बार किया है।

अनेक, एक और शून्य, इन तीनों में विरोध नहीं, यह हम अपने चित्त की क्रिया में भी देखते हैं। चित्त की बहिर्मुखी वृत्ति अनेक की भीड़ में कभी मूढ़ कभी क्षिप्त और कभी विक्षिप्त होती है। यह उसकी अयुक्त प्राकृत दशा है। वही चित्त अन्तर्मुख होने पर एकाग्र होता है। तभी योग शुरू होता है। उसके बाद एकाग्र वृत्ति के निरुद्ध होने पर चित्त शून्य हो जाता है। उस शून्यता की भूमि पर फिर एकाग्र ज्योति के बिम्ब से अनेक की रश्मि विकीर्ण होती है। वैदिक ऋषि की भाषा में यह रात्रि के अव्यक्त अथवा अगोचर से उषा के जन्म जैसा है [१२१९]। निरोधप्रतिष्ठ एकाग्र चित्त का विक्षेप सम्भूति अथवा शुद्ध सत्त्व का उल्लास है। तब अनेक, एक सत्य की ही सत्यविभूति है।

असत्, सत और देवता परमतत्व के ये तीन विभाव ही 'एकम् एवा.द्वितीयम्' हैं। ये तीनों विभाव, एक ही तत्व को चेतना की तीन भूमियों से देखने का परिणाम हैं। जब उपास्य-उपासक का सम्बन्ध रहता है तब हम तत्व को देवता कहते हैं। जब संबंध से परे सम्बन्धी को लक्ष्य करते हैं तब 'सत्' कहते हैं और उससे ऊपर जाने पर जब कुछ ही नहीं रहता तब 'असत्' कहते हैं। फिर सब मिलाकर 'न सत् ना.सत्' कहते हैं। संहिता की भाषा में इन अनुभवों की संज्ञा क्रमानुसार 'एको देव:', 'एकं सत', 'एकं तत्', 'न सन् ना.सत्' है। इस चतुष्कोटिक एक के आश्रय में भूलोक, अन्तरिक्ष और द्युलोक में सर्वत्र एक का ही आलोक है, एक की ही द्योतना है अर्थात सर्वत्र देवता हैं और सभी देवता हैं। देवविभूति की जिस किसी भी एक धारा को पकड़ कर अनेक की भीड़ से एक की ओर उठ जा सकते हैं। वह विशिष्ट देवविभूति तब मेरे अपने इष्ट देवता का रूप ले लेती है और अनुभव के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच कर देखता हूँ कि मेरे देवता ही अन्य सब देवता हुए हैं। यह एक प्रकार का ऐसा एकदेववाद है जो दीर्घकाल से इस देश की अध्यात्म भावना का अद्वितीय वैशिष्ट्य रहा है [१२२०]। यूरोपीय विद्वानों ने अपने Monotheism के साथ इसकी तुलना न कर पाने पर अन्तत: इसे एक नाम Henotheism भर दे रखा है। किन्तु उनका अध्यात्म संस्कार वस्तुत: इस अनुभव के अनुकूल नहीं। इसके अलावा इस देश के कट्टर एकदेववादी जो एकान्ती वैष्णव हैं वे भी एक को मानने के कारण अनेक को खदेड़ नहीं देते।

इस देश के अद्वैत को समझने के लिए इन बातों को ध्यान में रखना ज़रूरी है। POLITHEISM से MONOTHEISM एवं उससे MONISM इस देश में क्रमश: अभिव्यक्त हुआ यह बात प्रकल्प की दृष्टि से सुनने में अच्छी लगती है किन्तु वस्तुत: यह कथन निराधार है [१२२१]। विभूति, देवता और तत्व के बीच चेतना के यातायात का रास्ता हमारे लिए सब समय खुला है। वस्तु की संख्या का अद्वैत बड़ी बात नहीं बल्कि बड़ा होता है भाव का अद्वैत। वह भाव का एक ही परम सत्य है जिसके अन्तर्गत स्वच्छन्दता पूर्वक अनेक का डॉव हो सकता है।

---

[१२१९] तु. ऋ. १।११३।१। रात्रि एवं उषा दोनों ही 'अमृता'।

[१२२०] द्र. दीभू. ८५।

[१२२१] इस सन्दर्भ में प्रख्यात आधुनिक नृतत्वविद् Hoabel की पुस्तक (The Man in the Primitive World. New York. 1958) से उद्धृत कुछ बातें —

'आदि मानव का मन परमपुरुष अथवा आदि देव की धारणा नहीं कर सकता — इस

चिन्मय प्रत्यक्ष के बारे में हमने पहले भी बतलाया है कि वह केवल आँख मूँद कर अन्तर में देवता का अनुभव करना नहीं बल्कि आँख खोल कर बाहर भी उन्हें देखना अर्थात ज्योति रूप में देखना, वायु रूप में उनका स्पर्श पाना और वाक् रूप में उन्हें सुनना है [1222]। मंत्र-संहिता में जो देव विज्ञान है वह इसी रूप में है। देवाविष्ट इन्द्रिय द्वारा देवता की प्रत्यक्षता का परिणाम चेतना का विस्फारण या प्रसारण है, उसकी ही अभिव्यक्ति 'ब्रह्म' में अथवा मंत्र में है। मंत्र में देवता बाहर-भीतर उभयत्र प्रत्यक्ष हैं और उपनिषद में 'निषत्ति' के फलस्वरूप विशेष रूप से उनका आन्तर प्रत्यक्ष होता है। इस नियम के अनुसार

संस्कारसैन्चिमटे. चिपके रहने के दिन पार हो गए। Tylor (Primitive Culture, New York. 1874) का अनुमान था कि आदि देव की धारणा या बोध मनुष्य के दीर्घयुगीन बौद्धिक परिणाम का शेष फल है — जिसके मूल में आत्मा की धारणा, उससे भूत और पितृ-पुरुषों की उपासना, फिर निसर्गोपासना या प्रकृति-पूजा का आश्रय लेकर बहुदेववाद एवं अन्त में एकदेववाद का अवधारण। किन्तु यही उनकी सब से बड़ी भूल है।

'Lang ने उसी शताब्दी के अन्त में (The Making of Religion, LONDAN, 1898), प्रमाणित किया कि ऑस्ट्रेलियन, पॉलिनेशियन, अफ्रीकन और आदिम अमरीकनों के आदि देव की धारणा क्रिश्चियन धर्म से नहीं आई। ऑस्ट्रिया के अक्लान्त कर्मी नृतत्ववेत्ता Schmidt ने चार खण्डों में रचित अपने बृहदाकार ग्रन्थ DER URSPRUNG DER GOTTESIDEE (अंग्रेजी में संक्षिप्त सार The origin and Growth of Religion, NEWYORK 1935) में इस मत को सुप्रतिष्ठित किया। ... Lang का अनुमान था कि आदिदेव की धारणा कल्पित हुई है मनुष्य की धार्मिक भावना के अन्तर्मुखी होने के फलस्वरूप। आदि मानव का चित्त जब ऊँचे ग्राम अथवा स्तर पर टिका होता तब न्यायसम्मत दार्शनिक धारणा उसके पक्ष में असम्भव नहीं होती किन्तु उसी चित्त ने फिर निचले स्तर पर आकर स्वार्थ-बुद्धि की प्रोचना से भूत, प्रेत और उपदेवताओं की भीड़ जुटा रखी है।...

'Lang के बाद Radin (Monotheism in Primitive Religion, New york. 1927, 2nd ed. 1956) ने Lang के विचारों को जिस रूप में संशोधित किया वह लक्षणीय है। आदि देव की विशुद्ध भावना आगे चलकर अशुद्ध हो गई — यह न कहकर उन्होंने कहा कि एक ही समय में मनुष्य के मन में आदर्शोन्मुख और यथार्थोन्मुख दो विपरीत धाराएँ रह सकती हैं। आदर्शवादी बुद्धिप्रधान एवं मननशील होते हैं। अनुसन्धान करके देखा गया है कि इनका कोई न कोई भाई-बन्धु हर समाज में ही है। जीवन और जगत की समस्याओं को लेकर उन्हें दार्शनिक रूप देना उनका स्वभाव है। विश्व-रहस्य समझने की दिशा में उनकी भावना एक ऋजु, सुसंहत एवं एकमुखी धारा में चलती है। आदिदेव की कल्पना उसका ही परिणाम है। आदर्शवादी होने के कारण ही उन्हें स्थूल पार्थिव कामनाएँ आकर्षित नहीं करतीं। अतएव उनके देवता मनुष्य की छोटी-छोटी माँगों के प्रति निरपेक्ष हैं किन्तु अधिकांश लोग ही जड़वादी हैं। उनके लिए पेट की चिन्ता शारीरिक स्वास्थ्य, धन-जन, प्रतिपत्ति या सम्मान-प्रतिष्ठा ये सब ही श्रेष्ठ हैं। इन सब का अभाव-पूर्ति का सामर्थ्य जिनके पास है ऐसे देवताओं और उपदेवताओं द्वारा आस-पास वे एक और धर्म गढ़ लेते हैं।... (PP. 552-54)

Hoebel; Radin इसके साथ मोटे तौर पर एकमत हैं। लेकिन वे कहना चाहते हैं कि — धर्मबोध का उत्स केवल दार्शनिकता ही नहीं - बल्कि, 'आत्मा में विश्वास, भूत का भय, भय का भय, पितृपूजा, उपदेवता को लेकर कारोबार, निसर्गपूजा, दार्शनिक भावना सब कुछ ही उसके मूल में है। हरेक संस्कृति हर एक के ऊपर अधिक ज़ोर देती है, बस इतना ही। दरअसल धर्मबोध एक ऐसा वृक्ष है जिसकी बहुत जड़ें हैं, बहुत फल हैं।'

वस्तुतः धर्मबोध का मूल महिमबोध है जिसका अधिदैवत एवं बहिर्मुख रूप नृतत्वविदों का Animism (जीववाद, सर्वात्मवाद) है और अध्यात्म एवं अन्तर्मुख रूप Mana है। इसके सम्बन्ध में विस्तृत आलोचना आगे चल कर करेंगे।

[1222] दर्शन या देखना प्रधानतः सूर्य रूप में; किन्तु वायु भी 'दर्शत' (तु. ऋ. 1।2।1; तै.उ. शान्तिपाठ; वायो त्वम् एव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि ...)

मंत्र ही वस्तुतः उपनिषद भावना का बीज है। मंत्र में चिन्मय बाह्य प्रत्यक्ष की जो उदात्त गाथा है, उसका उत्स सिद्ध चेतना है; उसे ही उपनिषद में साधक चित्त के लिए बुद्धिग्राह्य किया गया है। अतएव उपनिषद का अद्वैतवाद बुद्धि की परिपक्वता के फलस्वरूप अनेक से एक की धारणा में पहुँचना नहीं बल्कि बोधिज अद्वैत प्रत्यक्ष से बुद्धि में उतर आना है।

श्रद्धा के आवेश में जब बाह्य प्रत्यक्ष चिन्मय हो उठता है तब इस बोधि का आविर्भाव होता है। उस समय देवता आँखों के सामने होते हैं और इस इन्द्रिय द्वारा उनका प्रत्यक्ष होता है। यह प्रत्यक्ष दो प्रकार का है। उसके निदर्शन के रूप में रामकृष्ण देव के दो अनुभव ग्रहण किये जा सकते हैं। एक दिन समाधि से व्युत्थित होने पर उन्होंने कहा — 'यह क्या! लगता है आँखों में पीलिया हो गया। देखता हूँ, सब कुछ तो वे ही हैं।' और एक दिन का अनुभव है— 'सवेरे पूजा के लिए बगीचे में फूल लेने गया। चारों ओर फूल ही फूल खिले हैं', ना, विराट की पूजा तो हो चुकी है। सब कुछ ही तो वे हैं! फिर पागल की तरह फूलों को फेंकने लगा।'— पहला अनुभव है, भीतर के आलोक में बाहर को आलोकमय देखना; यह उपनिषद की धारा है। दूसरा अनुभव है बाहर के अलख की ज्योति में ही बाहर को आलोकमय देखना; यह संहिता की धारा है। अलख उस समय अरोरा (aurora) अथवा ध्रुवीय ज्योति या भोर के उजाले की तरह झलक उठते हैं और इसे हृदय में आविष्ट होते हैं। तब व्यक्ति मर्मज्ञ अथवा कवि होता है।

ऋषि कवि का अद्वैत अत्यन्त सहजता के साथ दो प्रकार के चिन्मय प्रत्यक्ष से उत्सारित हुआ है। आँखों के सामने देखते हैं कि सब कुछ एक व्योम या आकाश से आवृत है और उस आकाश विवस्वान् एक सूर्य है। एक आकाश, उसकी दैवत संज्ञा है 'द्यौःपिता', 'वरुण', अथवा 'माता अदिति'। एक सूर्य, उसकी दैवत संज्ञा है 'मित्र', 'सविता', 'आदित्य'। एक छाया है; एक आतप है; एक रात का अँधेरा है, एक दिन का प्रकाश है; दोनों मिलकर एक छायातप अथवा उषासानक्त का युग्म है [1223]। मनुष्य के हृदय में ज्योति की पिपासा है, उसकी साक्षात चरितार्थता उस सूर्य के सायुज्य में है और प्रशम का संकर्षण, जिसकी चरितार्थता उस आकाश की शून्यता में है। दोनों में अद्वैत बोध के दो विभाव हैं। संहिता में प्रशम का बीज-मंत्र 'शम्' है और उससे सर्वतोभास्वर सर्वयोनि ज्योति के विच्छुरण का बीज 'योः' है। दोनों शिव-शक्ति की तरह युगनद्ध हैं [1224]। आकाश में ज्योति के उन्मेष और निमेष अर्थात देवता की इस नित्यप्रत्यक्ष महिमा से ही वैदिक ऋषि का अद्वैतबोध अनायास उत्सारित हुआ है। इस बोध का आधार तर्क नहीं बल्कि सर्वसाधारण [1225] अति सहज एवँ आदिम एक प्रत्यक्ष है।

[1223] ब्रह्मसूत्र में नहीं, आकाश एवँ प्राण का युग्म हुआ (1।1।22-23)। प्राण का अधिदैवत रूप सूर्य है (तु. प्रश्नोपनिषद. 'प्राणः प्रजानाम् उदयत्य् एष सूर्यः' 1।8)।

[1224] ऋक् संहिता में दोनों बीजों का एक साथ अनेक स्थलों पर उल्लेख : 1।93।7, 2।33।13, 3।17।3, 4।12।5, 5।47।7, 6।50।7, 7।35।1 (यह पूरा सूक्त 'शम्' की प्रार्थना), 8।39।4, 10।182।1-3...। योः < √यु ॥ 'योषा' 'योनिः'।

[1125] वह प्रत्यक्ष, सूर्य का। तु. ऋ. साधारणः सूर्यो मानुषाणाम् 7।63।1

अब हम इस अद्वैतवाद के परिपोषक कुछ वेदमंत्रों को लेकर चर्चा करेंगे। मंत्रों को ऋक् संहिता से लिया गया है क्योंकि संहिताओं में यही सर्व प्राचीन एवं सर्वभावयोनि है। हम यहाँ स्पष्टलिंगक अद्वैतबोध का ही परिचय दे रहे हैं, नहीं तो अस्पष्टलिंगक अद्वैतबोध वेदों में सर्वत्र बिखरा पड़ा है; किन्तु वह सेमिटिक एकदेववाद की तरह केवल नीतिभावना की संगीन ताने हुए नहीं — हमने पहले ही इसका उल्लेख किया है।

संहिता में अद्वैतबोध की चार भूमियों की सूचना क्रमशः देवभावना के चार सूत्रों में मिलती है [१२२६]। प्रथम भूमि पर 'एकोदेवः' — जब देवता का विशेषण है। द्वितीय भूमि पर देवता 'एकं सत्' — जब वे अरूप सन्मात्र; तृतीय पर 'एकं तत्' — जब उन्हें अन्य सत्ता द्वारा भी विशेषित न किया जा सके। तब वे असत्कल्प; चतुर्थ भूमि पर वे सर्वोपाधिविनिर्मुक्त, अतएव 'न सत् ना सत्'। यहाँ एक-एक भूमि को लेकर मंत्रों की समीक्षा कर रहे हैं। एक के साथ अनेक जुड़ा हुआ है; अतएव एकदेव के प्रसंग में अनेक देवों का प्रसंग अपने आप उपस्थित हो जाएगा। उनका भी परिचय हम सूत्र रूप में देते जाएँगे। उसका विस्तार आगे चलकर होगा।

अद्वैतबोध की प्रथम भूमि का आधार देववाद है, जिसका सूत्र है 'एकोदेवः'। तब हम एक को देवता रूप में, पुरुषविध रूप में जानते हैं। फिर कहते हैं, ये अपने इष्ट देवता अथवा परम उपास्य हैं; अन्यान्य देवता उनकी ही विभूति हैं। ऋक् संहिता के द्वितीय मण्डल के आरम्भ में इस प्रकार के एकदेववाद का एक सुन्दर उदाहरण है [१२२७] ऋषि गृत्समद अग्नि को सम्बोधित करते हुए कहते हैं, 'तुम इन्द्र, तुम विष्णु, तुम ब्रह्मणस्पति, तुम मित्र, वरुण और अर्यमा हो, तुम तुम त्वष्टा, रुद्र, मरुद्गण हो, तुम पूषा, सविता एवं भग' इत्यादि हो। पंचम मण्डल के तृतीय सूक्त में वसुश्रुत आत्रेय की अग्नि-स्तुति भी इसी प्रकार की है। इसी रूप में संहिता के विभिन्न मण्डलों के वैश्वानर सूक्तों में देवता का आदिदेवत्व एवं सर्वमयत्व वर्णित हुआ है — विशेषतया बार्हस्पत्य भरद्वाज के तीन सूक्तों में[1] एवं आंगिरस मूर्धन्वान के सूक्त में।[2] चतुर्थ मण्डल में वामदेव इन्द्र की भी वर्णना इसी प्रकार करते हैं।[3] गोतम राहूगण कहते हैं, अदिति ही सब देवता हुई हैं।[4] वाक् भी सर्वदेवमयी, सर्वसम्भूति।[5] 'विश्वदेव' यह विशेषण इन्द्र, सूर्य, सविता, वायु, बृहस्पति एवं सोम के लिए प्रयुक्त हुआ है।[6] इसके अतिरिक्त एकदेववाद की सुस्पष्ट एवं पूर्ण विवृति दो विश्वकर्म सूक्तों एवं हिरण्यगर्भ सूक्त में है।[7] विश्वकर्मा एवं हिरण्यगर्भ दोनों ही एकदेव के परिचायक विशेषण हैं। प्रथम विशेषण का प्रयोग इन्द्र एवं सूर्य के लिए है। हिरण्यगर्भ की एक और संज्ञा प्रजापति है। यही सविता एवं सोम की भी संज्ञा है।[8] ब्राह्मण

---

[१२२६] 'एकोदेवः' ऋ. में भी है: १०।५१।१; तु. तैस. ५।६।१।२; शौ. १०।२।१४, ३।१२।४, १०।८।२८। ऋक् संहिता में साधारणतः एकदेव की संज्ञा दी गई है: जैसे, इन्द्र 'एक ईशान ओजसा' ८।६।४१, 'एको वसूनि पत्यते' ६।४५।२०; एकः सुपर्णः १०।११४।४; एक पुरुष १०।९०, एक विष्णु १।१५४।४। अथवा विशेषण जुड़ने पर एकदेव का उल्लेख, जैसे 'देवो नेता' ५।५० सूक्त एक वशी' १०।१९०।२...। (तु. तैस. 'एक एव रुद्रः' १।८।६।१, श्वे. ३।२)।[1] सत् एक इतिवाचक संज्ञा है। किन्तु अनुभव की चरमभूमि पर उसके द्वारा भी जब परमदेवता का अवधारण संभव नहीं होता तब उन्हें 'असत्' अथच सत् का प्रभव या स्रोत कहना पड़ता है (तु. ऋ. सतो बन्धुम् असति निर् अविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा १०।१२९।४)। संहिता में यह उनका 'तत्'-स्वरूप है।

[१२२७] ऋ. २।१।३-७।[1] ६।७-९ सूक्त।[2] १०।८८ सूक्त।[3] ४।२६।१।[4] अदितिर् द्यौर् अदितिर् अन्तरिक्षम् अदितिर् माता स पिता स पुत्रः, विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना अदितिर् जातम् (जो हुआ है) अदितिर् जनित्वम् (जो होगा) १।८९।१०। तु. क. अदितिर् देवतामयी या भूतेभिर् व्यजायत २।१।७।[5] ऋ. १०।१२५ सूक्त।[6] ८।९८।२, द्रष्ट. हो नक्षत्र उत विश्वदेवः (देवता सूर्य रूप में प्रत्यक्ष) ६।६७।६, ५।८२।७, १।१४२।१२, ४।५०।६, ९।८२।३ और १०३।४।[7] १०।८१,...

में एक देव की विशिष्ट संज्ञा प्रजापति है। सारे विशेषण छाँट देने पर उनकी सहज संज्ञा 'पुरुष' [१२२८] है।

यह एकदेववाद की साधारण विवृति है। अब कई मंत्रों की आलोचना से उसका विशेष परिचय प्राप्त करेंगे।

दशम मण्डल के एक मंत्र में हम देखते हैं यह उत्सुक जिज्ञासा : [१२२९] 'कितनी अग्नि, कितने सूर्य, कितनी उषा, या फिर कितने ही जलस्रोत हैं? हे पितृगण, मैं इस बात को आप से रहस्यालाप के रूप में नहीं कह रहा हूँ; हे कविगण, जानने के लिए आप सब से यह जिज्ञासा कर रहा हूँ।' इस प्रश्न का उत्तर अष्टम मण्डल में है : [1] 'एक ही अग्नि अनेक प्रकार से समिद्ध, एक ही सूर्य विश्व में सर्वत्र आविर्भूत, यह जो कुछ है सब को एक ही उषा कर रही है विभासित, एक ही अनेक रूपों में सब कुछ हुआ है।'

आँखों के सामने हम अनेक की लीला देख रहे हैं, जैसे घर-घर में अग्निसमिंधन हर ओर जल का प्रवाह, बार-बार उषा का आविर्भाव, नित्य प्रति सूर्य का उदय। अनेक की यह लीला ही क्या सत्य है? जिसका उत्तर है, नहीं ऐसा नहीं बल्कि इसके भीतर ऋतच्छन्द में उस एक का ही विचित्र अयन है।... उसकी लीला जिस प्रकार बाहर देख रहे हैं, उसी प्रकार फिर अपने भीतर देख रहे हैं। अग्नि-समिन्धन, उषा का प्रकाश और रश्मि का सर्वत्र आवेश—ये तीनों ही आधिभौतिक भाषा में आध्यात्मिक भावना एवं साधना के संकेत हैं। आकाश में उषा का आलोक स्वतः फूटता है। रात के अँधेरे में हम मृत जैसे रहते हैं, उषा आकर हमें जगा देती है [१२३०] यह जागरण हृदय में श्रद्धा का उन्मेष है। उषा का प्रकाश प्रातिभ संवित या अतीन्द्रिय सचेतनता का आलोक है [1] जो बता देता है कि जिसकी उपासना में हम मत्त-मस्त हैं, वही सब नहीं बल्कि उसके भी परे कुछ है।[2] उस समय देह के अरणिमन्थन द्वारा अभीप्सा की आग प्रज्वलित करनी पड़ती है अतएव संहिता में[3] अग्नि 'उषर्भुत': उषा के प्रकाश में अर्थात्[4] श्रद्धा के आवेश में प्रातिभ संवित के स्फुरण से जो जाग उठते हैं।

---

८२; १२९१ [8] विश्वकर्मा विश्वदेवो महाँ असि (इन्द्र) ८।९८।२; येनेमा विश्वा भुवनान्याभृता विश्वकर्मणा विश्वदेव्यावता (सूर्य) १०।१७०।४। [9] १०।१२१।१०। सविता की ४।५३।२, सोम की ९।५४।९।
[१२२८] द्र. ऋ. १०।९० यही संज्ञा आगे चलकर व्यापक रूप में दर्शन में प्रयुक्त हुई है; मीमांसाप्रस्थान में 'औपनिषद पुरुष' और तर्कप्रस्थान में सांख्य का 'निर्विशेष पुरुष' और भागवत प्रस्थान में इससे ही 'पुरुषोत्तम'। किन्तु इस कारण एकदेववाद, बहुदेववाद से क्रमशः विकसित हुआ—यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि सभी देवताओं का ही स्वरूप तो एक ज्योति, एक सूर्य, एक आकाश है—यह भावना हम वैदिक वाङ्मय के आदि से अन्त तक अनुस्यूत देखते हैं। सारे देवता ही 'विश्वभूः', वे ही सब हुए हैं। यहाँ तक कि संहिता में ही पुरुष संज्ञा के ऊपर भी हम 'एकं सत', 'एकं तत्' एवं असत् की भावना पाते हैं। यदि हम अद्वैतबोध को प्रत्यक्-दृष्टि से देखें तो कह सकते हैं कि समग्र वैदिक भावना का ही चरम तात्पर्य चेतना के परम विस्फारण, प्रसारण में है जो ऋषि की भाषा में 'उरुलोकः' अथवा 'उरु का अनिबाध' है जो एक साथ 'सत्यताति', 'देवताति' एवं 'सर्वताति' का बोध उभारता है अर्थात सत्य के साथ, देवता के साथ और सब के साथ तादात्म्य स्थापित करता है।
[१२२९] ऋ. कत्यग्नयः कति सूर्यासः कत्युषासः कत्यु स्विदापः। नोपस्पिजं वः पितरो वदामि पृच्छामि वः कवयो विद्मने कम् १०।८८।१८। [1] एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनुप्रभूतः, एकैवोषाः सर्वमिदं वि भात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ८।५८।२।
[१२३०] ऋ. व्युच्छन्ती जीवमुदीरयन्त्युषा मृतं कं चन बोधयन्ती १।११३।८। [1] तु. १०।८२।७ + केनोपनिषद् १।४-८। [2] तु. ऋ. ३।२९।२ + श्वे. १।१३-१४। [3] ऋ. १।४४।१, ९; ६५।९, १२७।१०, ६।४७।१८, १०।९०।१, २। [4] तु. १०।१५१।१, ४। [5] १।२४।७। [6] तु. १।११५।१, ३।२८।४, ६।४७।१८, १०।९०।१, २। [7] छा. ३।१४।१, ६।८।७... प्रश्न के उत्तर में जल की बात छोड़

उसी से लोकोत्तर का अस्पष्ट किन्तु सुनिश्चित बोध जागता है। धीरे-धीरे यह बोध स्पष्ट होकर मूर्द्धन्य चेतना में माध्यन्दिन सौर महिमा से आलोकित हो उठता है और उसका रश्मिजाल आधार में सर्वत्र अनुप्रविष्ट होता है, मृण्मय जो है वह चिन्मय होता है। उसके बाद यह गहरा सायुज्य बोध विश्व में सर्वत्र परिव्याप्त होता है। तब हम देखते हैं कि इस आधार में देवता की लीला ही विश्व में व्याप्त है, जो एक ही लीला है, एवं एक की ही लीला है। उस समय हम सायुज्य के सघनतम बोध में अनुभव करते हैं कि वह लीला उनकी ही आत्म विसृष्टि है जो परम व्योम में अध्यक्ष के रूप में विश्व की ओर निहार रहे हैं। यह अनुभव ही एक विज्ञान में सर्वविज्ञान है, उपनिषद में जिसका मंत्र है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्', 'एतदात्म्यम् इदं सर्वम्'।

दूसरा मंत्र है : [1231] 'हे अग्नि, हे सोम, तुम्हारे उस शौर्य का परिचय प्राप्त किया, जब पणियों से तुम दोनों ने उनकी पुष्टि का साधन, गोयूथ छीन लिया, वृत्र के अवशेष को निर्जित किया एवं बहुजनहिताय उस एक ज्योति को खोज पाए।' ... अग्नि और सोम युग्म देवता हैं अर्थात आधार में चित्शक्ति अथवा चेतना के उन्मेष में दोनों एक साथ कार्य करते हैं। अग्नि अभीप्सा की शिखा है जिसका उदग्र अभियान मर्त्य के गुहाशयन से द्युलोक की ओर है और सोम दिव्य प्रसाद की आनन्दधारा है जो द्युलोक से मर्त्य आधार पर निर्झरित होती है।[1] शिखा ऊपर उठती है, धारा नीचे उतरती है। संकल्प का संवेग जितना तीव्र होता है, देवता का प्रसाद चेतना को उतना ही सिक्त, स्नात करता है। अभीप्सा और प्रसाद दोनों ही उनकी युग्मशक्ति हैं। दोनों का शौर्य आधार में आलोक के आवरण को तोड़ता है। जिस आवरण या अन्तराल को पणि और वृत्र ने रचा है। पणि हमारी वणिक् वृत्ति अथवा बुभुक्षा है जो सब कुछ अपने लिए सुरक्षित रखता है और यदि कुछ देता भी है तो वैसे ही प्रतिदान भी चाहता है। इस मर्त्य आधार में ही अमृतज्योति छिपी हुई है, वही[2] संहिता के रूपक की भाषा में 'गावः' अथवा गोयूथ है।[3] उसे हमारी आत्मम्भरि अथवा स्वार्थपर बुभुक्षा ने आधार के दुर्गम स्थान में पाषाण की प्राचीरों की आड में बन्दी कर रखा है। किसी प्रकार भी उस अमृत ज्योति को बाहर नहीं आने देगी उसी गूढ़ ज्योति के सहारे वह जीवित है किन्तु उसे मुक्त कर देने में उसका ही कल्याण होगा — यह बात वह कभी किसी तरह भी नहीं समझेगी। यही वृत्र की माया

---

दी गई। उषा में समिद्ध अग्नि की शिखा जब आदित्य में पहुंचती है अर्थात श्रद्धाविष्ट हृदय की अभीप्सा जब आत्म चैतन्य में उत्तीर्ण होती है तब वहाँ से पर्जन्य की मूसलधार वर्षा उतरती है जो पृथिवी के बाँझपन को दूर करती है और अमृत आनन्द के अभिषेक से आधार को ऋद्ध करती है। तु. 'समानम् एतद् उदकम् उच् चैत्य् अव चाहभिः, भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्य् अग्नयः' — यह एक ही जल दिन पर दिन ऊपर की ओर जाता है फिर नीचे की ओर उतर आता है; भूमि को पर्जन्य ऋद्ध करते हैं और द्युलोक को ऋद्ध करती हैं अग्नियाँ 1।164।51। द्र. पर्जन्य सूक्त 5।83 (मूसलधार वर्षण का सुन्दर वर्णन-चित्र) एवं 7।101 (अध्यात्म भावना द्वारा गुम्फित वर्णना) पर्जन्य समस्त ओषधियों का (अध्यात्म दृष्टि से ज्योतिर्वाही नाड़ीजाल का) वीर्याधानकारी वृषभ है; चर-अचर दोनों की ही आत्मा का वास उसी में है 7।101।6) वृत्रहन्ता इन्द्र के द्वारा सप्तसिन्धु अवरोध मोचन के चित्र में भी इस प्रकार की भावना पाई जाती है (1।32।12, 2।12।3, 12, 4।58।1, 5।83।6, 28।1, 8।32।25, 10।89।7...)।

[1231] ऋ. अग्नीषोमा चेति तद् वीर्यं वां यद् अमुष्णीतम् अवसं पणिं गाः, अवातिरतं बृसयस्य शेषो अविन्दतं ज्योतिर् एकं बहुभ्यः 1।93।4। [1] अग्नि: तु. 3।29।2, 1।164।51। सोम : 'वनस्पतिं पवमान मध्वा सम् अङ्ग्धि धारया, सहस्रवल्शं हरितं भ्राजमानं हिरण्ययम्' — हे पवमान सोम अपनी मधुधारा में अनुलिप्त करो वनस्पति को, जिसकी सहस्र शाखाएँ हैं, जो आपीतश्याम है, जो प्रकाशमान है, जो हिरण्मय है 9।5।10। वनस्पति यहाँ अग्नि का प्रतीक है, आधार के नाड़ीजाल में संचरण करने के कारण जो सहस्रशाख है। युक्त अग्नि-सोम का वर्णन।

अथवा चेतना के ऊपर अविद्या का आवरण है। आधार के कितने गहरे उसके प्रभाव की जड़ें पसरी हैं, उसे कौन बतला सकता है? तब भी जीवन में आलोक की मुक्ति चाहिए ही चाहिए। पणि की बाधा, वृत्र का आवरण तोड़ना ही होगा। आधार में अभीप्सा की अग्नि प्रज्वलित करके, प्रसाद की सौम्य सुधा में चेतना को आनन्दित करके प्रकाश के देवता स्वयं ही आकर तोड़ेंगे। वे पणि के चंगुल से आलोकयूथ को छीनकर बाहर लाएँगे और अचिति की अप्रकेत, अस्पष्ट गहराई से वृत्र की अधःप्रसृत शिराजाल समूल नष्ट कर देंगे। तब जीवन में आलोक फूटेगा— ज्योति का स्फुटन, विकसन होगा। बाधा-मुक्त गोयूथ के मध्य सौम्य पुरुष 'गोविन्द' रूप में आकर खड़े होंगे, प्राण-समुद्र की तरंगों में आन्दोलित ज्योतिर्मय देवता अपना 'तुरीय धाम' उद्भासित करेंगे, 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय च' उस एक ज्योति को प्रस्फुरित करेंगे जो आर्य-चेतना की दिग्दर्शक एवं एषणीय दोनों ही है। और तब वही एक ज्योति ही अनेक को अखण्ड सौषम्य के सूत्र में गूँथेगी।

एक मंत्र और है : [1232] 'एक पक्षी; वह आविष्ट हुआ समुद्र में; इस भुवन को टकटकी लगाए, निर्निमेष देख रहा है वह; उसे अपने सहज मन से देखा बहुत निकट; उसे माँ चाट रही है, वह भी चाट रहा है माँ को।' ... ऋषि अन्तरिक्ष की ओर आँख उठाकर देख रहे हैं कि एक अकूल नीले सागर में [1]एक शुभ्र ज्योतिर्मय हंस तैरता जा रहा है। वह केवल ऊपर-ऊपर तैरता नहीं जा रहा है, उसकी ज्योति से आकाश आच्छादित है और वह ज्योति आकाश के अणु-अणु में अनुप्रविष्ट है। यह जैसे रूप-सागर के उस पार रूप और अरूप के मुहाने का चित्र है। वहाँ से वह सुपर्ण इस भुवन को देख रहा है किन्तु उस ज्योति द्वारा देख रहा है— जो ज्योति वह स्वयं ही है। वस्तुतः यह देखना हम लोगों की तरह दृश्य को बाहर रखकर आँखों द्वारा देखना नहीं है बल्कि यह सब के द्वारा देखना अथवा सब कुछ होकर देखना है — जिसे संहिता की भाषा में [2]'विचक्षणता' कहा गया है। उसके इस देखने में अथवा होने में दूर का आकाश दूर नहीं रहता बल्कि हृद्य समुद्र रूप में यहाँ उतर आता है। तब मैं इस हृदय में नये रूप में सूर्य का उदय देखता हूँ। उस समय मेरी चेतना शिशु की चेतना जैसी स्वच्छ और सहज हो गई। अतएव अन्तर के गहरे एकान्त में उसे स्वयं के बहुत ही निकट देखा। उसका नया रूप देखा। द्युलोक में

और भी तु॰ 'वृष्टिं दिवः परि स्रव द्युम्नं पृथिव्या अधि' — हे सोम, द्युलोक से वृष्टि वर्षण करो, जो होगी पृथिवी की महाद्युति 9।8।8; 8।1; 65।22, 24 (आधार में कहाँ-कहाँ सोम का सवन होता है, उसका वर्णन)...। 2 तु॰ 'गवां सर्गा न रश्मयः' 4।52।5 (रश्मि-जाल के साथ गोयूथ की तुलना); 1।92।4, 7।79।2 (वही)। 3 अयं निधिः सरमे अद्रिबुध्नः ... रक्षन्ति तं पणयो ये सुगोपाः — हे सरमा, पाषाण गुहा में यह जो गुप्तधन है उसकी रक्षा पणि करते हैं जो सतर्कता पूर्वक रक्षा करना जानते हैं (पणि-सरमा संवाद 10।108।7, सरमा देवशुनी, दिव्य प्राण की संधानी ज्योति ; समग्र सूक्त ही द्रष्टव्य)। 4 गोविन्दुर् द्रप्सः ... अपाम् ऊर्मिं सचमानः समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति 9।96।19, तु॰ 22।6। 5 7।33।7, 10।43।4।

[1232] ऋ॰ एकः सुपर्णः स समुद्रम् आ विवेश स इदं विश्वं भुवनं वि चष्टे, तं पाकेन मनसा पश्यम् अन्तितस् तं माता रेळ्हि स उ रेळ्हि मातरम् 10।114।4। [1] तु॰ 4।40।5; [2] इस शब्द में हमें इस समय कृतित्व का आभास मिलता है। वह भी मिथ्या नहीं। वस्तुतः आदित्य की दृष्टि ही सृष्टि है। प्राकृत भूमि पर रहकर हम इसे नहीं समझ सकते। जब अपने भीतर पैठकर इष्ट के आविर्भाव को देखते हैं तब हम समझते हैं कि दृष्टि ही सृष्टि है। उसी प्रकार उस विचक्षण के ईक्षण से इस भुवन का उल्लास और रूप का जगत वर्तमान है जहाँ वे ही 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' (6।47।18)। मूल में है 'विचष्टे'।

जो आदित्य है वही पार्थिव आधार में वैश्वानर अग्नि है। अरणि मन्थन द्वारा मेरे भीतर उसका आविर्भाव होता है, यह देहरूपिणी अधरारणि उसकी माता है। सद्यः प्रसूता धेनु की परम ममता के साथ वह इस नवजात देवता को चाट रही है; और देवता भी उसे चाट रहा है। उपनिषद की भाषा में आधार योगाग्नि मय होता जा रहा है। सहज शब्दों में इस ऋक् का तात्पर्य है: 'देवता यहाँ इस आधार में वेदिषत् वैश्वानर रूप में हैं। देवता वहाँ उस द्युलोक में — शुचिषत् अन्तरिक्षसत् हंस रूप में हैं। यह पुरुष और वह पुरुष एक। अगली ऋचा में इस सुपर्ण को और भी स्पष्ट करते हुए कहा जा रहा है 'एकः सन्'।'

उसके बाद त्रित आप्त्य का एक अग्नि मंत्र : [1223] 'एक ही समुद्र जो समस्त प्राण संवेगों का धारक है। विचित्रजन्मा हैं वे, हमारे हृदय से ही देख रहे हैं चारों ओर, दो रहस्यों की गोद में रहकर पकड़े हुए हैं मातृस्तन को। उस में ही निहित है सुपर्ण का पद।' ऋषि के[1] इष्ट देवता अग्नि हैं। प्रगाढ़ रहस्योक्ति के द्वारा वे यहाँ इष्ट का परिचय दे रहे हैं। कहते हैं, अग्नि दो रहस्यों की गोद में हैं वे ही उसके पिता एवं माता हैं।[2] याज्ञिकों की दृष्टि में वे उत्तरारणि एवं अधरारणि हैं और संहिता में अनेक स्थलों पर अग्नि को द्युलोक एवं पृथिवी का पुत्र कहा गया है। पृथिवी आधार-शक्ति है और द्युलोक उत्तर ज्योति है। शक्ति और ज्योति के मिलन से ही आधार में[3] अग्नि का आविर्भाव तपश्चेतना के रूप में होता है, जिसे अध्यात्म दृष्टि से प्राण और प्रज्ञा का मिलन कहा जाता है। आधार में अग्नि के आविर्भाव के बाद[4] उसे पुष्ट करने का दायित्व द्युलोक की सात प्राण-चंचला तरुणियाँ ग्रहण करती हैं। ये सब विश्वप्राण की शक्ति हैं जो संहिता में अप् (जलस्रोत) अथवा नदी रूप में वर्णित हैं। अध्यात्म दृष्टि से प्राणस्रोत प्रत्येक नाड़ी में संचरण करता है अतएव नाड़ी का प्रतीक नदी है।[5] अमृतप्रवाहा एवं ऊर्ध्वस्रोता होकर ये ही आधार में चिदग्नि का पोषण

---

[1223] ऋ. एकः समुद्रो धरुणो रयीणाम् अस्मद् धृदो भूरिजन्मा वि चष्टे सिषक्त्यूधर् निण्योर् उपस्थ उत्सस्य मध्ये निहितं पदं वेः 10।5।1। [1] त्रित ऋषि (नि. 4।6) एवं देवता (= त्रिस्थान इन्द्र नि. 9।25) दोनों ही। ऋक् संहिता के दशम मण्डल के प्रारम्भ में सात अग्नि सूक्तों में ग्रथित एक उपमण्डल उनके द्वारा रचित। इसके अतिरिक्त उनका एक आदित्य सूक्त (8।47), तीन सोम सूक्त (9।33, 34, 102) एवं एक वैश्वदेव सूक्त (1।105) है। अग्नि से आदित्य में एवं आदित्य से ऊपर सोम में एवं अन्त में विश्व-चेतना में घोल जाना — इस क्रम में त्रित की साधना और सिद्धि का एक सुकल्पित रूप देखने को मिलता है। उनके सूक्त रहस्योक्तियों से पूर्ण हैं। [2] तु. 3।29।2; द्यावा-पृथिवी के पुत्र 3।2।2, 3।11, 25।1; 10।1।2, 2।7, 140।2...। [3] तु. कौउ. 3।2 यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः 3।4...। [4] तु. 'अवर्धयन्त् सुभगाः सप्त यह्वीः' — संवर्द्धित किया उन्हें सात प्राणचंचला तरुणियों ने (3।1।4) वे सब द्युलोक की तरुणियाँ हैं जो विवसना हैं, अथच अनग्ना हैं... सात वाणी के रूप में एक शिशु को धारण किया (6)। पुराण में हम देखते हैं कि कुमार की जननी एवं धात्री उमा और छह कृत्तिकाएँ हैं। अध्यात्म दृष्टि से अन्न (जड़) प्राण, मन, विज्ञान (महः) आनन्द (जनः) चित् (तपः) एवं सत्य विश्व के सात मूलतत्त्व हैं। आधार में शिशु चिदग्नि वर्धमान होते हैं (तु. 1।1।8) इनके द्वारा। वाणी = व्याहृति। [5] तु. 'महि त्वाष्ट्रम् ऊर्जयन्तीर् अजुर्यं स्तभूयमानं वहतो वहन्ति' — त्वष्टा के अजर पुत्र जो हैं वे स्तब्ध या जड़ीभूत हैं (आधार में) उन्हें प्रबल वेग से उद्दीप्त करके बहती रहती हैं प्राणप्रवाहा नदियाँ 3।7।4।

करती हैं। इन सात धाराओं का एक संगम है। ऋषि वामदेव की भाषा में यह संगम [6] 'अन्तः समुद्रे हृदि, अन्तर् आयुषि' — हृद्य समुद्र की गहराई में, जीवन के मर्म-मूल में है। शिशु अग्नि का यही मातृस्तन है, इसे ही वह पकड़े हुए है। रूपक तोड़कर योग की भाषा में यदि व्यक्त किया जाए तो सहस्रार से शक्तिपात के फलस्वरूप मूलाधार से चिदग्नि जाग्रत होकर एवं हृदय में निविष्ट होकर नाड़ी-समूह की अमृत धारा में पुष्ट होता है। जो हृदय सौम्य सुधा की सप्तवेणी है उसे इस मंत्र में 'उत्स' कहा गया है। इसी उत्स की गहराई में निहित है 'विः' अथवा [7] दिव्य सुपर्ण का परम पद। यह दिव्य सुपर्ण आदित्य अथवा विष्णु है, जो अधिभूत दृष्टि में माध्यन्दिन सूर्य है। उसका परम पद इस हृदय के ही गहरे निहित है। अर्थात् माध्यन्दिन दीप्ति की महिमा में जो द्युलोक की तुंगता पर है वह ही इस हृदय में सुधा के उत्स में निमज्जित है। और वह उत्स नवजातक चिदग्नि का मातृस्तन है। अग्नि प्रबुद्ध आत्मचैतन्य है और आदित्य नित्य जाग्रत परम चैतन्य है - दोनों ही इस हृदय में युगनद्ध रूप में हैं। इस युगनद्धता के अनुभव में विस्फारित होता है, खुलता है और उत्स समुद्र होता है। वह समुद्र जिस प्रकार आदित्य ज्योति का समुद्र है, उसी प्रकार अग्नि ज्योति का भी समुद्र है। उस समय प्रबुद्ध चिदग्नि मूर्धन्य चेतना में वैश्वानर रूप में आविर्भूत होता है। जो वैश्वानर है, वह ही सूर्य है। [8] यह वैश्वानर रात्रि में भूलोक की मूर्धा में अर्थात् सहस्रार में सोमदीप्ति के रूप में रहता है उसके बाद प्रातः उदयलग्न में सूर्य रूप में उत्पन्न होता है। यहाँ इस सौर ज्योति रूप में अग्नि के आविर्भाव का वर्णन समुद्र रूप में किया गया है। यह समुद्र, ज्योति का समुद्र है - जो एक एवं अद्वितीय है। 'रयि' अथवा विश्व के शक्तिस्रोत का वही धारक है। यही मूर्धन्य ज्योतिः-समुद्र हृदय में प्रतिस्थापित होता है, हृदय भी समुद्रवत होता है। यह जो एक एवं अद्वितीय ज्योतिःसमुद्र रूपी चिदग्नि अथवा आत्मज्योति है, वही 'भूरिजन्मा' अर्थात् विचित्र रूपों में प्रजात है। उपनिषद की भाषा में [9] वही 'एको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च' अर्थात् एक वही रूप रूप में प्रतिरूप होकर है और सब के बाहर भी है। इसके अतिरिक्त स्वयं को विचित्र रूपों में विसृष्ट करके 'विचक्षण' होकर स्वयं ही स्वयं की ओर देख रहा है। इस विचक्षणता का परिचय हम इसके पूर्व आलोचित ऋक् में प्राप्त कर चुके हैं। इस बार वे मूर्धन्य समुद्र से नहीं बल्कि हमारे इस हृद्य समुद्र से देख रहे हैं। हमारी आँखों द्वारा ही उनका देखना या फिर हमारी आँखों से ही क्यों कहें, यह उनकी ही आँखें हैं। वे ही विचित्र, बिलक्षण 'मैं' रूप में देख रहे हैं। यह एक अनुपम सायुज्य का अनुभव है।[10]

---

उसके फलस्वरूप योगाग्निमय शरीर प्राप्त होता है (श्वे. २।१२)। [6] ४।५८।११। [7] तु. विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः १।१५४।५। [8] द्र. १०।८८ जिसके ऋषि हैं आंगिरस 'मूर्धन्वान्' एवं देवता हैं सूर्य अथवा वैश्वानर अग्नि। यहाँ कहा जा रहा है कि 'मूर्धा भुवो भवति नक्तम् अग्निस् ततः सूर्यो जायते प्रातर् उद्यन्' अर्थात् भूलोक का मूर्धा होता है रात्रि में यह अग्नि, उसके बाद प्रातः जन्मता है उदीयमान होकर (६) अध्यात्म दृष्टि में रात्रि में योगनिद्रा में चिदग्नि मूर्धा में प्रकाशित होता है, सोमदीप्ति के रूप में फिर वह सौम्य चेतना ही दिन के साथ आदित्य की प्रभास्वरता में प्रज्वलित हो उठती है। अग्निहोत्र याग का भी तो यही परिणाम होता है। जिसकी सूचना उसके सायं-प्रातः के दो आहुति मंत्रों में प्राप्त होती है। [9] क. २।२।९-११। [10] जिस अद्वैतबोध में आत्मा, विश्व और देवता एक हो जाते हैं, उसका परिचय हमें इस ऋक् में प्राप्त हुआ। चिदग्नि के उद्बोधन या जागरण से लेकर अन्तिम विस्फारण या फैलाव तक साधना की पूरी रूपरेखा भी अति संक्षेप में इसमें अंकित है। और यह भी देखा कि इसके ही भाष्य कर उपनिषद में पल्लवित हुए हैं। इस प्रसंग में समस्त सूक्त ही अनुध्यान की अपेक्षा रखता है, क्योंकि अद्वैत सिद्धि के परम विभाव का परिचय हमें इस सूक्त के ही अन्तिम मंत्र में प्राप्त होता है — परम व्योम में असत् और सत् के समाहार में, जिसका रूपायन ईशोपनिषद में संवेदन के ४० मंत्रों में देखते हैं (९-१४)।

उसके बाद अत्रिवंशीय ऋषि श्रुतविद का यह एक मंत्र है : [१२३४] 'वही तो तुम्हारी सुमंगल महिमा है हे मित्र, हे वरुण, दिन पर दिन निश्चला है जो, क्षरित हुई किसकी प्रेरणा से! अपने आप फैल जाने वाली पयस्विनी निखिल धाराओं को तुम दोनों सतह से ऊपर उगा दो, और तुम्हारे ही अनुसरण में वह एक मात्र चक्र-नेमि आवर्तित होती रहे।' ... इसके ठीक पूर्व मंत्र में एक दर्शन की विवृति है, उसमें निर्विशेष अद्वैतानुभव का सुस्पष्ट उल्लेख है। उसकी चर्चा आगे चलकर करेंगे। किन्तु इस मंत्र के दर्शन में उसकी ही अनुवृत्ति है – आलोचना करते समय इस बात को याद रखना होगा। पूर्व के ऋक् का 'तद एकं' मित्रावरुण उसकी ही सम्भूति है। एक ही तत्व का आरोह क्रम पूर्व के ऋक् में है और वर्तमान ऋक् में उसका अवरोह क्रम है। ... वरुण एवं मित्र अधिभूत अथवा आधिभौतिक दृष्टि में क्रमशः आकाश और सूर्य हैं। दिन के उजाले में सब कुछ आलोकित होता है, इसलिए वह विश्वचेतना का प्रतीक है। दिन का उजाला छीजने पर चाँदनी खिलती है अथवा तारे टिमटिमाते हैं।[1] या फिर ऐसा भी हो सकता है कि यह भी न रहे, किन्तु ऐसा कुछ है जिससे ज्योति छिटकती रहती है।[2] जिसके भीतर चाँदनी, तारों की टिमटिमाहट अथवा अनालोक शून्यता है, वह पुरुष ही वरुण हैं।[3] वे सन्मात्र या शुद्धसत्ता हैं जिस प्रकार मित्र चित्स्वरूप हैं।[4] दोनों ही आदित्य अथवा अदितिपुत्र हैं अर्थात अखण्डिता अबन्धना परमचेतना के प्रतिरूप हैं। यही परमचेतना पूर्व के ऋक् में 'तद् एकम्' है। इस संवित-सिद्धि अथवा परिपूर्ण आत्मचेतना में प्रतिष्ठित होने को वेद में दो रूपकों द्वारा चित्रित किया गया है। एक रूपक वृष्टिपात का है और दूसरा सूर्योदय का है। आकाश में मेघ हैं, मेघों में जल है। किन्तु तब भी वृष्टि नहीं हो रही है। शुष्कता के कारण जीवन ऊसर, अनुर्वर हो गया। ऐसी स्थिति में मेघ 'वृत्र' अथवा आवरणशक्ति है जिसे अध्यात्म दृष्टि में अविद्या कहा जाता है। वज्र और विद्युत के आघात से मेघ को विदीर्ण करके जलधारा को उतार लाना इन्द्र का कार्य है।

---

[१२३४] ऋ. तत् सु वां मित्रावरुणा महित्वम् ईर्मा तस्थुषीर् अहभिर् दुदुह्रे, विश्वाः पिन्वथः स्वसरस्य धेना अनु वाम् एकः पविर् आ ववर्त ५।६२।२। [1] संहिता और ब्राह्मण में इस बात को ही थोड़ा घुमा-फिरा कर कहा गया है; अहोरात्रे वै मित्रावरुणौ (तै.सं. २।४।१०।१), मैत्रं वा अहः वारुणी रात्रिः (तै.ब्रा. १।७।१०।१)। सब कुछ को 'आवृत' अथवा आच्छादित करने के कारण वरुण आकाश। तु. नि. वरुणो वृणोतीति सतः १०।३। यह वरुण मेघाच्छन्न आकाश के रूप में मध्यस्थान; फिर द्युस्थान आदित्य वरुण भी हैं (नि. १२।२१, २४) संहिता में उनकी ही प्रधानता है। [2] तु. क. २।२।१५। [3] वरुण रात्रि का आकाश, जिसमें पूनम जैसी चाँदनी है फिर जिसमें चाँद नहीं, केवल तारों की टिमटिमाहट है – जैसे अमावस्या में। तारों के राजा वरुण के 'स्पशः' (√पश 'देखना'; तु. Lat. 'specio to see') अथवा चर (दूत) उन्हें घेर कर बैठे हैं (ऋ. १।२५।१३) इसलिए वरुण 'सहस्रचक्षाः' हैं (७।३४।१०)। ऋक् संहिता में यही विशेषण मात्र तीन बार और सोम के सम्बन्ध में प्राप्त होता है (९।६०।१, २; ६५।७)। उससे वरुण के साथ सोम का सम्बन्ध स्पष्ट होता है। यह विशेषण तारों से आच्छादित आकाश की याद दिला देता है। आकाश में जब चाँद अथवा तारे भी नहीं रहते तब जो रहता है वह केवल वरुण का 'शुनम' अथवा शून्यता है (२।२७।१७, २८।११, २९।७)। [4] मित्रावरुण एक युग्म हैं। पुरुष सूक्त में (१०।९०।१) इस युग्म का वर्णन है। जो सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष, सहस्रपात हैं वे सहस्ररश्मि मित्र हैं और जो सब ओर से सब कुछ 'आवृत' करके उसके परे चले गए हैं, वे वरुण हैं। उपनिषद में आदित्य की शुक्ल ज्योति एवं परः कृष्ण नीलिमा का उल्लेख है (छा. १।६।६), और एक साथ गुहाप्रविष्ट एवं परमपरार्धस्थित छायातप की चर्चा है (क. १।३।१)। यह भी मित्रावरुण की विभूति है। [5] यह शुष्कता संहिता में वृत्रानुचर 'शुष्ण' है (<√शुष् 'सूख जाना'), उसका अनेक उल्लेख है। शुष्ण शृंगी (१।३३।१२; तु. सप्तशती का महिषासुर) उसके कठिन पुर अथवा ग्रन्थि को भेद कर

यह अन्तरिक्ष या प्राणलोक की घटना है। इसके अतिरिक्त अँधेरा भी 'वृत्र' है। उसे प्रकाश के देवता विष्णु पराजित करते हैं। मध्यरात्रि की अन्धतामिस्रा के कुहर या विवर से ही आलोक का अभियान शुरू होता है। जो छह भूमियों को पार करके अन्त में विष्णु के परम पद में उत्तीर्ण होता है जहाँ मधु अथवा अमृत आनन्द-चेतना का उत्स है। यह द्युलोक की घटना है। किन्तु इन्द्र-विष्णु युग्म देवता हैं और वृत्रवध अथवा अविद्यानाश में वे परस्पर सहयोगी हैं ... पुनः वर्षण को सामान्यतः द्युलोक की घटना मानकर भी वर्णन किया गया है, जिस प्रकार यहाँ होता है। उस समय वर्षा की धारा सोम्य सुधा की धारा है, आनन्द-चेतना का निर्झरण है। तब धारा मेघ से नहीं झरती बल्कि द्युलोक की धेनुओं के थन से झरती है। इन धेनुओं का वर्णन अनेक स्थलों पर है; वे इरावती, अमृतसिन्धु रूपिणी, नित्य तरुणी आलोक निर्झरिणी हैं। अध्यात्म दृष्टि से वे 'धिषणा' अथवा प्रज्ञा हैं। प्रस्तुत ऋक् में द्युलोक की अमृत पयस्विनियों का वर्णन है। इस ऋक् का रहस्यार्थ आधुनिक भाषा और भाव में अनुवाद करने पर इस प्रकार होगा—

'अखण्ड असीम सत्य की ज्योति जब हृदय के आकाश को उद्भासित कर गई तब चेतना में जागा एक अनिर्वचनीय विपुल महिमा का सुदीप्त बोध। देख रहा हूँ, आलोक का निर्झर ऊर्ध्व में स्तब्ध है, ठहरा हुआ है। किसकी अदृश्य प्रेरणा (ईर्मा) से तटबन्ध तोड़ने वाले प्लावन के रूप में वह निर्झर आधार में उतर आया, उच्छलित हो चला दिन पर दिन (अहभिः)। चेतना में वह धारा विस्फारित हुई अनाहत वाणी (धेनाः) के गुंजरन से, उसे उपचित, उच्छलित कर गया देवता के चिन्मय सत्य का ज्योतिरावेश। देखा कि देवता मेरे नित्य सहचर हैं। उनकी ही अमोघ देशना या निर्देश से एक बृहज्ज्योति का परिमण्डल (पविः) मुझको घेरे नित्य आवर्तित हो रहा है।' इसके पहले के ऋक् में जो लोकोत्तर 'एकं तत्' है, इस ऋक् में उसका ही आविर्भाव जीवन के अभियान में 'एकं पविः'-रूप में हुआ है।

ऋक् संहिता के दशम मण्डल में एक विवाह सूक्त है (८५)। सूक्त के प्रथमांश में सूर्या के साथ सोम के विवाह का विवरण प्राप्त होता है। यह दैवविवाह ही मानव विवाह का आदर्श है। विवाह का वर्णन पुराण के उमा महेश्वर के विवाह का स्मरण दिलाता है।

सूर्या का विवाह होगा। सोम उसे वधूरूप में चाहते हैं अश्विद्वय उसे वरण करने आए हैं। कन्या के सम्प्रदाता सविता हैं (९) सूर्या को अश्विद्वय अपने त्रिचक्र रथ पर बैठा कर सोम के पास पहुँचा देंगे (१४, १५)। रथ सीधा सहज रथ नहीं है। सूर्या का मन ही रथ है, द्युलोक उसकी छत है, श्रोत्र उसके दो चक्र हैं, व्यान उसका अक्षदण्ड या धुरा है, ऋक्-साम उसके वाहन हैं; द्युलोक से होकर उसके आने-जाने का रास्ता है (१०-१२)... मुश्किल है रथ के चक्रों को लेकर। अश्विद्वय का रथ त्रिचक्र है। किन्तु वे जब सूर्या

---

इन्द्र जल स्रोत बहा देते हैं (१।५१।११), वह जल स्वर्वती अथवा (ज्योतिर्मय) (य ओजसा शुष्णस्या.... अणानि भेदति जेषत् स्वर्वतीर् अपः ८।४०।१०)। ६ तु. ५।२२।१६-२१, १।१५४, १५५ सूक्त। तु. ७।९९।४, ५। ८ तु. १।१६४।५१; 'तिस्रो द्यावस् त्रेधा सस्रुर् आपः'—तीन द्युलोक, तीन धाराओं में जल झरा ८।१०१।४। विशेष द्र. ४।५८ सूक्त; और भी—द्रष्टव्य १।१५१।५, ४।५८।२, ३।५५।१६-१७, ६।२८ सूक्त, १०।१६९ सूक्त।

को लेने आये, तब देखा गया कि रथ के मात्र दो ही चक्र हैं। तो फिर और एक चक्र कहाँ गया? ऋषि कह रहे हैं, सूर्या, तुम्हारे दो चक्रों की जानकारी काल के पर्याय क्रम में ब्राह्मणों को है किन्तु एक चक्र जो गोपन है उसे केवल सत्यद्रष्टा ही जानते हैं (१६) [१२३५]।

स्पष्ट ही दिखाई देता है कि यह आख्यान साधना का रूपक है। अगली तीन ऋचाओं में उसका आभास है (१७-१९)। सूक्त के आरम्भ में ही सोम का जो वर्णन दिया गया है, उसमें कहा गया है कि सोमलता को कूट-छानकर लोग मान लेते हैं कि यही तो है सोम जिसका हमने रस पिया; किन्तु ब्रह्मविद जिस सोम को जानते हैं, उसे कोई पी नहीं सकता (३,४) [१२३६]। इस सोम के साथ सूर्या के मिलन को हठयोगी कहेंगे कि यह इड़ा या चन्द्रनाड़ी के साथ पिंगला या सूर्यनाड़ी का मिलन है जिसके फलस्वरूप सुषुम्णा का पथ खुल जाता है और प्राण का प्रवाह ऊर्ध्वगामी होकर सहस्रार में पहुँचता है। संहिता में इस पथ को द्युलोक के यातायात का पथ कहा गया है, जिस पथ पर चलकर सूर्या अमृतलोक में आरोहण करेगी (११,२०) [१२३७]। सूर्या को इस प्रकार वहन करके ले जाने की चर्चा और भी कई स्थानों पर है।

अब इस आख्यान का विश्लेषण करके देखें। उसके पहले ऋग्वेद में चेतना का उत्तरायण अर्थात चेतना के ऊर्ध्वमुखी क्रमिक अभियान को समझाने के लिए जो रूपक अत्यधिक प्रचलित है, उसका कुछ विवरण देना ज़रूरी है।

वैदिक भावना में चेतना का उत्तरायण मानो अन्धकार का आवरण (वृत्र) हटने पर आदित्य के उदयन जैसा है [१२३८] आधी रात के गहरे अंधेरे से शुरू होकर माध्यन्दिन सौरमहिमा तक देवयान का मार्ग विस्तारित है, उसी मार्ग को पकड़कर चेतना का उत्तरायण होगा। उसके सात पर्व या सोपान हैं। प्रथम पर्व में अन्धकार के भीतर से ही अदृश्य आलोक के तीर की तरह अश्विद्वय तीव्र गति से चलते हैं। अश्विद्वय में एक तो 'तमोभाग' है, क्योंकि मध्यरात्रि के पश्चात अन्धकार के अवक्षय के बावजूद आलोक का उपचय तब भी अदृश्य रहता है; और एक 'ज्योतिर्भाग' है; वही तरलित अन्धकार के भीतर आलोक के आभास को प्रस्फुटित करता है। ज्योतिर्भाग अश्वी, उद्बुद्ध चेतना को उषा के कूल पर पहुँचा देता है। उषा की अरुणिमा उत्तरायण का द्वितीय पर्व है, जिसे आध्यात्मिक दृष्टि से श्रद्धा का आवेश अथवा प्रातिभ-संवित् का उन्मेष कह सकते हैं। उषा के पश्चात सविता का आविर्भाव तृतीय पर्व है जब हम अन्तर की प्रेरणा का स्पष्ट अनुभव करते हैं। यास्क की भाषा में पृथिवी में अर्थात् अवरप्रकृति में तब भी अन्धकार रहता है किन्तु सिर के ऊपर द्युलोक का आलोक चारों ओर फैल जाता है। उसके बाद चतुर्थ पर्व में हृदय की पूर्वाशा के आँचल में भग रूप में बालसूर्य का आविर्भाव होता है। पंचम पर्व में भग किशोर रूप में सूर्य हो जाते हैं। षष्ठ पर्व में उनका तारुण्य जब रश्मिजाल को पुष्ट[1], समूहित और व्यूहित करता है तब वे पूषा होते हैं[2]। अन्त में आदित्य जब सप्तम पदक्षेप में मूर्द्धन्य चेतना के मध्याकाश में आरूढ़ होते हैं[3] तब वे 'युवा अकुमार:', विष्णु होते हैं।[4] विष्णु का परम पद ही हमारा काम्य है।

---

[१२३५] द्वे ते चक्रे सूर्ये ब्रह्माण ऋतुथा विदु:, अथैकं चक्रं यद् गुहा तद् अद्धातय इद् विदु:।
[१२३६] सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिंषन्त्योषधिम्, सोमं यं ब्रह्माणो विदुर् न तस्याश्नाति कश्चन् ··· न ते अश्नाति पार्थिव:।
[१२३७] दिवि पन्थाश्चराचर: ··· आरोह सूर्ये अमृतस्य लोकम्।
[१२३८] द्र. नि. १२।१-१८। [1] तु. ईशोपनिषद् १६। [2] यतो विष्णुर् विचक्रमे पृथिव्या: सप्त धामभि: ऋ. १।२२।१६, [3] १।११५।६। [4] १।२२।२०, २१; १५४।५,६; १५५।५।

किन्तु चेतना का उत्तरायण यहाँ ही समाप्त नहीं होता है। अन्धकार से आलोक का मार्ग पकड़ कर आदित्य परिक्रमा का यह एक गोलार्द्ध पार किया गया। इसके बाद एक और गोलार्द्ध मध्य दिन से मध्य रात्रि तक है। प्राकृत दृष्टि से जान पड़ेगा कि उसे पार कर यह आलोक से अन्धकार की गहनता में उतर जाने का मार्ग है। किन्तु योगी को जाग्रत अवस्था में यह अन्धकार भी पार कर स्वधा अथवा आत्मशक्ति के बल पर जाना होगा [1239], नहीं तो तत्व सम्पूर्णतः ज्ञात नहीं होगा। अतएव देखते हैं कि अग्निहोत्र की साधना जिस प्रकार सूर्यमंत्र से दिन के समय में होती है, उसी प्रकार अग्निमंत्र से रात के अँधेरे में होती है। सोमयाग की साधना में भी एक अतिरात्र का सोपान या पर्व है। आदित्य जिस प्रकार मित्र रूप में दिन का आलोक है, उसी प्रकार वरुण रूप में रात्रि का अन्धकार है।[1] मित्र एवं वरुण दोनों देवों को ही प्राण की प्रणति देनी होगी।

सूर्यास्त के पश्चात वरुण का अधिकार होता है, वे अन्धकार के सम्राट हैं। प्राकृतिक दृष्टि से अँधेरा यथार्थ किन्तु योगदृष्टि से नहीं। अँधेरा योगदृष्टि से आवरण नहीं, संवरण है। वरुण संवरण, उनकी शक्ति तपती— अन्धकार के उत्स से उत्सारित आलोक जैसी है। अँधेरा वस्तुतः अव्यक्त ज्योति है [1240]।

पहले ही बता चुके हैं कि अव्यक्त के तीन पर्व हैं। एक का प्रतीक पूर्णिमा है अर्थात सूर्य का प्रकाश नहीं, किन्तु चाँदनी है और एक प्रतीक है अमा अर्थात जब चाँद की रोशनी नहीं रहती है, किन्तु नक्षत्रों की टिमटिमाहट रहती है। तीसरे पर्व में कुछ नहीं रहता तब भी उसकी ही अदृश्य भाति या दीप्ति से सब कुछ अनुभात होता है [1241]।

आदित्यायन की इस रूपरेखा को ध्यान में रखने से सूर्या के विवाह का रहस्य स्पष्ट होगा।

सूर्या कौन हैं? ऋक्संहिता में वे 'दुहिता सूर्यस्य' [1242] हैं। किन्तु इस संज्ञा में अपत्यवाचक प्रत्यय नहीं, केवल स्त्री प्रत्यय है। अतएव कहा जा सकता है कि[1] वे सूर्य की शक्ति होने पर भी पुनः उनकी कन्या भी हैं।

तो फिर अध्यात्म दृष्टि में सूर्या के दो रूप हैं। एक रूप में वे 'दिवो दुहिता' उषा हैं - अर्थात स्फुरन्त या स्फुरित चेतना में श्रद्धा का आवेश, जिसे योगी प्रातिभ संवित कहते हैं; तब वे बाला हैं। फिर तरुणाई में प्रवेश करने पर वे 'सूर्यस्य योषा' हैं; जो दिवो दुहिता हैं, वे 'भुवनस्य पत्नी' अथवा

[1239] 'स्वधा' आत्मनिहित, अपने आप में रहना, अपने भीतर सिमट आना; एक और भाव है 'स्वाहा' देवता का आवाहन करना, उनमें स्वयं को विलीन कर देना। पितृगणों के प्रति उच्चारित होता है 'स्वधा' और देवगणों के प्रति 'स्वाहा'। तु. पितृयान और देवयान जिससे मुनिपंथ और ऋषिपंथ आभासित। पितृगण के अर्थ में निश्चय ही दिव्य पितृगण को समझना होगा (ऋ. 10।88।15)। जो सूर्यद्वार भेद कर वहाँ पहुँचते हैं जहाँ 'आनीद अवातं स्वधया तदेकं (10।129।2) [1] तु. सूर्यायै देवेभ्यो मित्राय वरुणाय च, ये भूतस्य प्रचेतस इदं तेभ्योऽकरं नमः 10।85।17।

[1240] यह भाव ऋक् संहिता के रात्रिसूक्त में व्यक्त हुआ है; 'रात्री व्यख्यद् देव्य् अक्षभिः ... ज्योतिषा बाधते तमः' — रात्रि देवी ने आते-आते चारों ओर सर्वत्र देखा, अनेक नेत्रों से ... ज्योति द्वारा तमिस्रा को दूर कर देती है 10।127।1, 2। ज्योति चन्द्रमा की, नक्षत्रों की, अव्यक्त की। अव्यक्त में कुछ भी नहीं रहता तब भी वही एक अनिर्वचनीय रहते हैं जिनके परे और कुछ भी नहीं (तु. 129।2)।

[1241] क. 2।3।15। यही वरुण का 'शून' अथवा शून्यता है।

[1242] तु. ऋ. 1।116।17, 4।43।2, 'सूरो दुहिता' 8।8।[?]।4। [1] यह कुछ भी अवास्तव नहीं। चैतन्य का परिणाम नहीं, किन्तु शक्ति है— कली के फूल होकर खिलने की तरह, चन्द्रकला के बढ़ते रहने की तरह। तंत्र और पुराण में इसीलिए देखते हैं कि 'गिरीश'-दुहिता ही

44.

भुवनेश्वरी हैं [१२४३]।

सूर्य के भी दो रूप हैं [१२४४]। एक रूप में वे विशुद्ध स्थान चैतन्य हैं निघण्टुकार ने उन्हें उत्तरायण के पंचम सोपान पर रखा है किन्तु परम रूप में वे ही फिर [1] उत्तम ज्योति हैं, समस्त ज्योतियों की श्रेष्ठ एवं उत्तम ज्योति हैं; [2] वे 'हंसः ... ऋतं [बृहत्]', स्थावर-जंगम की आत्मा हैं, स्थावर-जंगम की मूर्द्धन्य भूमि के अधीश्वर हैं, तुरीयब्रह्म गम्य हैं।

किन्तु यह सभी भावना की इति की दिशा है, सत् की दिशा है। उसके भी परे कुछ है। आलोक के ऊपर की ओर अँधेरे के राज्य में सत् के वृन्त का बन्धन असत् के साथ है: इस विसृष्टि के मूल में जो है, उसकी खबर कोई नहीं रखता [१२४५]। वह एक अपरूप, अद्भुत शून्यता है।

सूर्य दुहिता कन्यका उषा धीरे धीरे सूर्योषा तरुणी हुई। उन्हें लेकर जाना होगा उसी अन्धकार के राज्य में सोम के घर में, लोकोत्तर अमृत के लोक में [१२४६]। ले जाएँगे कौन? वही अश्विद्वय जिनके निर्देश से चेतना का उत्तरायण शुरू हुआ था। उन्होंने अँधेरा पार करके चेतना को ज्योति के कूल तक पहुँचा दिया था और वे ही अँधेरे की अव्यक्त ज्योति के भीतर से संवृत सौर चेतना को अकूल तक ले जा सकते हैं।

नये सिरे से अँधेरा पार करने में इस बार अश्विद्वय का यह त्रिचक्र रथ विशेष कार्य में काम आएगा। सारे देवताओं के रथ द्विचक्र हैं, केवल इनका ही रथ त्रिचक्र है। क्यों?

ऋषि ने कहा कि ज्योति के उपासक ब्राह्मण दो चक्रों की खबर रखते हैं। ये दोनों अहोरात्र का आवर्तन है किन्तु उसके पश्चात् भी ऐसी भूमि है जहाँ दिन भी नहीं, रात भी नहीं। अथच यह दिन का उजाला पार करके रात के अँधेरे की गहनता में [१२४७] है। वहाँ अश्विद्वय का रथ गूढ़ या गुप्त तृतीय चक्र की सहायता से चलेगा, जिसे कहीं-कहीं [1] 'अचक्र स्वधा' अथवा आवर्तन रहित आत्म-स्थिति कहा गया है। उस चक्र के बारे में वे ही जानते हैं, [2] जिन्होंने हिरण्मय पात्र का, अथवा आलोक का आवरण हटाकर अवर्ण सत्य का दर्शन प्राप्त किया है।

उसी अथाह गहनता में चाँद के घर में उतरती है आलोक की एक गोपन रश्मि [१२४८]। वही नित्य, शाश्वत वर-वधू का अनुपाख्य, अव्यक्त अगम वासगृह है।

---

· गिरीश-जाया। उभयत्र गिरि कूटस्थ चैतन्य (तु. माध्यन्दिन सूर्यरूपी विष्णु 'गिरिष्ठाः' ऋ. १।१५४।२)। शक्ति एक दृष्टि से उनके द्वारा विसृष्टा होने के कारण दुहिता और एक दूसरी दृष्टि से विसृष्टि की नित्य सामर्थ्य रूप में जाया। यह भाव संहिता में ही है; स्वायां देवो दुहितरि त्विषिं धात — अर्थात् देवता ने अपनी दुहिता में ही अपने तेज को निहित किया (१।७१।५; १।१६४।३३)। द्र. वेमी.

[१२४३] तु. ऋ. ५।७५।५, १।११५।२; दिवो दुहिता भुवनस्य पत्नी ७।७५।४।

[१२४४] नि. १२।१४। [1] ऋ. १।५०।१०, १०।१७०।३; [2] ४।४०।५, १।११५।१, शीर्ष्णः शीर्ष्णो जगतस्तस्थुषस्पतिम् ७।६६।१५, ५।४८।६।

[१२४५] तु. ऋ. सतो बन्धुम् असति निर् अविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा, यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो अंग वेद यदि वा न वेद १०।१२९।४; ७।

[१२४६] ऋ. १०।८५।१८-२०। कला-कला में चन्द्रमा के बढ़ते रहने का वर्णन।

[१२४७] द्र. तैब्रा. ३।११।७ ... श्वे. ४।१८, मुण्डक में इसे सूर्यद्वार का भेदन कहा गया है १।२।११। संहिता के रूपक में यह सूर्या का पितृगृह छोड़कर पतिगृह में सुहाग रात के लिए जाना है। [1] तु. ऋ. ४।२६।४, १०।२७।१८। [2] ईशोपनिषद् १५।

[१२४८] तु. 'अत्राह गोर् अमन्वत नाम त्वष्टुर् अपीच्यम्, इत्था चन्द्रमसो गृहे' अर्थात् अहा! यहीं उन्होंने मनन किया त्वष्टा की किरण का गोपन नाम चाँद के इस घर में ही — १।८४।१५। नाम यहाँ केवल Nomen नहीं, बल्कि Numen अथवा अनुभाव है (तु. नि. नाम कर्म २।२२; निरुक्त के इस मंत्र की व्याख्या में दुर्ग का कथन है कि "नाम नमनं अह्लेना, वस्थानम्

रूपक के भीतर से साधना के संकेत सहित अद्वैत भावना के इति और नेति दोनों पक्षों की ही एक अपरूप छवि है।

अब पवमान सोम के इस एक मंत्र को लें। जिसके ऋषि काश्यप अथवा असित देवल हैं। मंत्रार्थ इस प्रकार है : सात ध्यानचेतनाओं के द्वारा निहित होकर उन्होंने(पवमान सोम) प्राणचंचल कर दिया द्रोहहीन उन नदियों को, जिन्होंने एक औरस को ही संवर्धित किया [१२४९]।

वैदिक यागों में सोमयाग श्रेष्ठ है, जिसका लक्ष्य है अमृतत्व-प्राप्ति [१२५०]। अधिभूत दृष्टि में सोम एक 'ओषधि'[१] है। उसकी टहनियों-पत्तों को कूटपीस कर रस निकाल कर देवता के प्रति अग्नि में आहुति देनी होती है। 'अग्नि में सोम डालना' एक रहस्यपूर्ण कर्म है। जिस प्रकार उसका बाह्य रूप है, उसी प्रकार आन्तर रूप भी है। उद्धृत मंत्र में दोनों रूप ओतप्रोत हैं।

सोमपान करने पर एक मत्तता आती है। प्राचीन काल से ही किसी न किसी प्रकार के मादक द्रव्य का सेवन करके मनुष्य आत्महारा, आत्मविस्मृत हुआ है किन्तु आत्महारा होकर उसने लोकोत्तर का संकेत प्राप्त किया है। धीरे-धीरे फिर उसे बाहरी नशे की जरूरत नहीं पड़ी। किन्तु आन्तर नशे का प्रयोजन आज भी अव्याहत है। नशे का अर्थ ही है स्वयँ को भूलकर जगत को भूलकर तन्मय होना। लौकिक चेतना की मूढ़ता और विक्षेप के बन्धन से मुक्त होकर जो तन्मय हो सकता है वह अनिर्वचनीय एक को प्राप्त करता है — यह योग चेतना का नियम है। इसलिए इतिहास-पुराण में देखते हैं कि आत्माराम की योगशक्ति बलराम, 'वारुणी' पान में नित्य मत्त एवं आत्माराम के अग्रज हैं। वेद में देवताओं में इन्द्र सोमपातम: [१२५१] हैं। देवता की लीला मेरे ही भीतर है। मेरे ही आत्मसमर्पण के सुधापान से प्रमत्त होकर वे अद्‌भुत शौर्य प्रकट करते हैं, 'वृत्रहा' होते हैं — अर्थात अँधेरे को दूर कर आधार में आलोक प्रस्फुटित करते हैं।

---

इत्य अर्थ: ४।२५)। त्वष्टा की गौ अर्थात् सविता की किरण (त्वष्टा भी सविता ३।५५।१९, १०।१०।५; द्रष्टव्य, निघन्टु में त्वष्टा एवं सविता आस-पास द्र. निरुक्त १२।११-१२) जो तमस: अन्धकार से उत्पादित आलोक है। यास्क की दृष्टि में (नि. २।६) यह रश्मि यजु: संहिता की 'सुषुम्ण:' सूर्य रश्मि: (वा. १८।४०) जो आदित्य से प्रसृत होकर चन्द्रमा को आलोकित करती है। ह्रास-वृद्धि से युक्त चन्द्रमा आदित्य के इस पार और उसकी षोडशी ध्रुवा कला आदित्य के उस पार है (द्र. बृ. १।५।१४-१५ सह तैब्रा. ३।११।७)। उसके भी परे तंत्रोक्त सप्तदशी अमा कला। जो सुषुम्ण रश्मि इन दोनों को आलोकित करती है उसका नाम 'अथवा आप्मन 'अपीच्य' अर्थात गुह्य है। संहिता का 'अमृतस्य लोक:' (१०।८५।२०) यह ध्रुवा और अमा कला के भी उस पार है — जहाँ 'न रात्र्या अह्न: आसीत् प्रकेत:' — अँधेरे-उजाले का नाम-निशान भी नहीं रहता (१०।१२९।२)।

[१२४९] ऋ. स सप्त धीतिभिर् हितो नद्यो अजिन्वद् अद्रुह:, या एकम् अक्षि वावृधु: ९।९।४। 'सप्त' श्लिष्ट: 'सप्त' (भि:) धीतिभि: ... सप्त नद्यो अजिन्वत्।

[१२५०] तु. अपाम सोमम् अमृता अभूमागन्म ज्योतिर् अविदाम देवान् ८।४८।३। ज्योति वही एक अमृत ज्योति है, सारे देवता जिसकी विभूति हैं। अद्वैत के सम्यक् अनुभव में यहाँ एक और अनेक का समन्वय है। [१] ओषधि < ओष (॥ उषस < वस 'दीप्ति देना' अथवा उष 'दहन करना', IE. us 'to burn') + धि, जिसमें उषा की ज्योति निहित है। वैदिक भावना के अनुसार चेतना का प्रथम उन्मेष ओषधि में, उसके बाद पशु में एवं अन्त में मनुष्य में होता है। इसलिए वे क्रमश: चिन्मय, अन्न, प्राण और मन के वाहन हैं। ओषधियाँ 'सोमराज्ञी' हैं और सोम उनका राजा है १०।९७।१८, १९; ७।२२। सवन अथवा निष्पेषण द्वारा पृथिवी स्थानी सोम को द्युस्थानी करना सोमयाग का उद्देश्य है।

[१२५१] तु. ऋ. १।८।७, २९।१, ६।४२।२, ८।६।४०, ९२।२०। सोमपान की मत्तता में इन्द्र ने क्या-क्या असाध्य कार्य किया था, उसका एक विवरण ऋषि गृत्समद ने दिया है २।१५ सूक्त।

सोम के इस अधियज्ञ रूप के अतिरिक्त उनका एक अधिज्योतिष एवं अध्यात्म रूप है। ज्योति रूप में सोम चन्द्रमा हैं। अग्नि, सूर्य (= इन्द्र) सोम ये तीन ज्योतियाँ अध्यात्म चेतना की तीन भूमियों पर इस प्रकार हैं— व्यक्ति चेतना में अग्नि, विश्वचेतना में सूर्य और लोकोत्तर चेतना में सोम। सोम की सोलह कलाएँ हैं। पन्द्रह कलाओं में ह्रास-वृद्धि या घटाव-बढ़ाव है, उनके परे षोडशी नित्य कला है। वेद का पुरुष षोडशकल है [1252]।

अध्यात्म दृष्टि में सोम 'सुषुम्णः सूर्यरश्मिः' [1253] है। आदित्य मण्डल में अमृत है। वही अमृत सूर्यरश्मि द्वारा वाहित होकर ब्रह्मरन्ध्र की प्रणालिका से होते हुए जीव के हृदय में आहित होता है[1]। उपनिषदों के अनेक स्थलों पर उसका विस्तृत वर्णन है। अमृतवाहिनी यही नाड़ी हठयोग की सुषुम्णा है। आध्यात्मिक दृष्टि में जो नाड़ी है, वह आधिभौतिक दृष्टि में नदी है[2]। हठयोग की सुषुम्णा नाड़ी ऋक् संहिता में 'सुषोमा' नदी है[3]। 'सु-षुम्णा', 'सुषोमा' 'सोम' तीनों की व्युत्पत्ति एक ही धातु से है और तीनों में ही अमृत प्रवाह की व्यंजना है। सोम का अनुरूप 'सुम्न' है। निघण्टु में उसका अर्थ 'सुख' है[4]। अतएव सोम आनन्दचेतना अथवा रसचेतना है, सुषुम्णा 'महासुख' है। वही अमृत है। उसकी प्राप्ति का साधन सोमयाग है। यह वस्तुतः एक[5] 'उत्-सव' अर्थात आनन्दकन्द को निष्पेषित कर धारा को स्रोत के प्रतिकूल प्रवाहित करना है।

---

[1252] तु. बृ. 1।5।14 ; तंत्र की महाशक्ति भी षोडशी। वैष्णव भावना में देखते हैं कि ह्लादिनी चेतना की पन्द्रह कलाओं में चन्द्रावली और षोडशी में राधा। उसके भी गहरे पर कृष्ण की अनिर्वचनीयता है। वैदिक पंचरात्र एक सोमयाग है। उसमें ही इस भागवत रहस्य का संकेत प्राप्त होता है (द्र. शब्रा. 13।6।1··· ; उसके बाद 'भग' का विवरण)। [1253] वा. 18।40। [1] अतः उपनिषद में इस प्रणालिका नाम 'हिता' नाड़ी है (द्र. ऐउ. 1।12, बृ. 4।2।3, 3।20, कौ. 4।19)। [2] रश्मि, नाड़ी, नदी एक, इसका उल्लेख ऋक् संहिता में ही है ; 'याः सूर्यो रश्मिभिर् आततान याभ्य इन्द्रो अरदद् गातुम ऊर्मिम्, ते सिन्धवो वरिवो धातना नो (नः) अर्थात सूर्य ने जिन्हें प्रसारित किया है अपनी रश्मियों द्वारा, इन्द्र ने जिनके लिए खोदा है तरंगों का पथ, वही नदियाँ हमारे भीतर निहित करें विपुलता 7।47।4। यहाँ नाड़ी विज्ञान का एक पूर्ण संकेत है। सूर्यरश्मि में जो चिन्मय, वही हठयोग में 'चित्राणी' और इन्द्रवीर्य में जो ओजस्वी, वही वज्राणी है। 'वृत्र की परिधि' में अर्थात आच्छादिका या आवरणकारी तमःशक्ति की परिधि में नदी की धारा अवरुद्ध रहती है, इन्द्र वज्रशक्ति से उस अवरोध को तोड़ते हैं (2।33।6), और धारा ज्वार के रूप में बहती हुई चेतना को बृहत में (वरिवः) पहुँचा देती है। एक ही नदी की सात धाराएँ सात भूमियों पर हैं, वही 'सप्तसिन्धु' अथवा 'सप्तनदी' हैं। [3] ऋक् संहिता में पाते हैं 'अयं ते शर्यणावति सुषोमायाम् अधि प्रियः आर्जीकीये मदिन्तमः' — अर्थात हे इन्द्र, तुम्हारा प्रिय यह सोम, शर्यणावत सुषोमा एवं आर्जीकीया में तुम्हें सब से अधिक प्रमत्त करता है (8।64।11)। फिर पाते हैं 'सुषोमे शर्यणावत्य् आर्जीके पस्त्यावति ययुर् निचक्रया नरः' — वीर्यशाली बलवान मरुद्गण (ज्योतिर्मय महाप्राण) रथचक्र की गहराई में उतर कर उन तीन धामों में पहुँचे, जिनके नाम आर्जीक, सुषोम और शर्यणावत हैं (8।7।29)। शाट्यायन ब्राह्मण में शर्यणावत 'कुरुक्षेत्र का स्पन्दमान एक सरोवर' है (द्र. 1।84।14 सायणभाष्य); यह देह ही कुरुक्षेत्र अथवा देवयजन-भूमि है। तो फिर शर्यणावत उसके (देह के) निम्न भाग में स्थित मूलाधार है। आर्जीक अथवा आर्जीकीय (व्युत्पत्तिगत अर्थ है 'जो ऋजुता की ओर जा रही है' अर्थात जहाँ से चेतना की गति अकुटिल या ऋजु हो जाती है) को सहस्रार कह सकते हैं। दोनों के ठीक मध्य में 'सुषोमा' नदी अथवा सुषोम धाम है। सुषोमा अमृत प्रवाहिणी है, सोम की धारा उसके भीतर सहज ही बहती रहती है। इन तीन धामों में सोम के सवन अथवा निचोड़ कर रस निकालने का उल्लेख अन्यत्र भी है। (9।65।22-23) ; सुषोम वहाँ 'पस्त्यानां मध्यः' अर्थात मध्य नदी कहा गया है। 'तृतीये रजसि' अर्थात द्युलोक में यही सोम की सहस्रधारा है। वहाँ से वे चार नाभियों अथवा चार ग्रन्थियों में उतर आई हैं (9।74।6)। [4] 3।6। [5] उत् √सु 'निचोड़ना' + अ।

प्राकृत, साध्य और सिद्ध आनन्दचेतना के तीन रूप हैं। जो आनन्द प्रवृत्तिमूलक है, वह प्राकृत है — जिस प्रकार विषय के साथ इन्द्रिय के संयोग से होता है। उस समय चेतना बहिर्मुख होती है जिसके कारण व्यक्ति 'पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्' — बाहर की ओर ही देखता है, अपने अन्तर की ओर नहीं देखता। आनन्द तब उपनिषद् की भाषा में 'वर्णरति प्रमोदः' और संहिता की भाषा में 'असुतृप्' है। प्रवृत्ति जब अन्तरावृत्ति में या प्रत्याहार में बाहर से भीतर की ओर मुड़ जाती है तब आनन्द धारा स्रोत के प्रतिकूल बहने लगती है और चेतना ऊर्ध्वस्रोता हो जाती है। यही आनन्द याग और योग का साध्य है और संहिता में 'सोमस्य मदः' है। अन्त में वह विन्दु में स्थिर होता है, सिन्धु में विस्फारित होता है। उस समय आनन्द सिद्ध है [१२५४]।

वेद में भी सोम की तीन संज्ञाएँ हैं — अन्धः, सोम एवं इन्दु। पार्थिव सोम 'अन्धः' अर्थात् अधोदेश या निम्नस्थान में स्थित एवं अन्धतमस से आवृत है। यही पुराण में त्रिस्रोता गंगा की पातालवाहिनी भोगवती धारा है। इस धारा को निरुद्ध निपीडित एवं उत्तरवाहिनी करना होगा। सोम को कभी भी नाभि के नीचे नहीं उतरने देंगे — यह याज्ञिक सम्प्रदाय की एक प्रसिद्ध उक्ति है। 'अन्धः' अवश्य ही 'पवमान सोम' होगा जिसे राहस्यिक उपायों द्वारा 'परिपूत' या शुद्ध किया जाता है [१२५५]। तो फिर सोमयाग की साधना वस्तुतः आनन्द चेतना का रूपान्तरण है।[1] अन्त में सोम जब [2]आकाशगंगा होता है तब वह 'इन्दु' है और परमव्योम रूपी शिव के ललाट पर उसका स्थान है। संहिता की भाषा में वह [3]वही देवता है — जो इस देवता का आलिंगन करता है, सत्य इन्द्र का आलिंगन करता है सत्य इन्दु।

सोमसाधना के इन तत्वों का अब यदि हम उद्धृत मंत्र में प्रयोग करें तो

इस उत्सव का संकेत हठयोग की योनिमुद्रा में है। तु. 'यत्र ब्रह्मा ... ग्रावणा सोमे महीयते सोमेनानन्दं जनयन्' — जहाँ ब्रह्मा ... पाषाण के द्वारा सोम में महिमा का अनुभव प्राप्त करते हैं, सोम से आनन्द उत्पन्न करते हैं ९।११३।६। ब्रह्मा सोमयाग के अधिष्ठाता ऋत्विक हैं। 'ग्रावा' सोम पीसने-कूटने का पत्थर है, अध्यात्म दृष्टि में जिसकी संज्ञा योनि केन्द्र है। ऋक् संहिता में 'आनन्द' शब्द का उल्लेख एकमात्र इस सूक्त में ही है (द्र. ११)।

[१२५४] सोमयाग की फलश्रुति द्र. ऋ. ९।११३।७-११। सोम उस अमृत लोक में ले जाते हैं जहाँ अजस्र ज्योति है, समस्त कामनाओं का परितर्पण है, जहाँ आमोद्धल तारुण्य का अन्त नहीं; आनन्द की सीमा नहीं एवं सब से अन्त में जहाँ 'स्वधा' और 'द्युलोक का अवरोध' है, वैवस्वत मृत्यु की परमशून्यता है।

[१२५५] तु. ऋ. 'नाभा नाभिं न आददे चक्षुश्चित् सूर्ये सचा' — यास के नाभि स्वरूप सोम को अपनी नाभि में ही मैंने ग्रहण कर रखा है (उसके नीचे नहीं उतरने दूँगा), उस समय मेरे चक्षु सूर्य में संगत होंगे ९।१०।८ (अर्थात् 'सूरचक्षाः' हो जाऊँगा; तु. मर्तासः सन्तो अमृतत्वम् आनशुः ... ऋभवः सूरचक्षसः १।११०।४)। यह व्याख्या सायण के अनुसार है। तब 'धारा य ऊर्ध्वो अध्वरे भ्राजा नैति गव्ययुः' — सोम अध्वर गति से ऊर्ध्वधारा में झिलमिलाते हुए जैसे उसी आलोक के सन्धान में बहता जा रहा है ९।५२।३ (तु. तृतीयं धाम महिषः सिषासन् ९।९६।१८)। अब भी गंगा जहाँ ही उत्तरवाहिनी (ऊर्ध्वस्रोता) है वहाँ ही 'काशी', अथवा प्रकाश है। **अध्वर** यज्ञ; रहस्यार्थ, जहाँ धूर्ति अथवा गति की कुटिलता नहीं, स्रोत में आवर्त नहीं (तु. 'अपाम सोमम् ... किं नूनम् अस्मान् कृणवद् अरातिः किम् उ धूर्तिर् अमृत मर्त्यस्य' — सोमपान किया है ... अब हमारा क्या करेगा शत्रु, क्या करेगी हे अमृत मर्त्य की धूर्ति अथवा टेढ़ी चाल ८।४८।३। धूर्ति = 'जुहुराणम् एनः' कुण्डली मारे हुए पाप १।१८९।१ < ह्वृ < ध्वृ 'कुण्डली मारना')। १ तु.

फिर उसका तात्पर्य इस प्रकार होगा : आधार में सोम सात धीति अथवा ध्यानचेतना के द्वारा आहित होता है [१२५६]। धीति वाणी में स्फुरित होती है। सात धीति अथवा सात वाणी सात व्याहृतियाँ अथवा लोकसृष्टि के मंत्र हैं।[1] उनके द्वारा आहित होकर यह सोम एक अन्तर्वर्ती शुभ्रपथ से द्युलोक की नाभि में ले आया जाता है और सूर्य के साथ, परा वाक् गौरी के साथ संगत होता है।[2] आधार के नाड़ी-जाल में प्राण का स्रोत उस समय द्रुत गति से ऋजुधारा में बहता रहता है, उसमें कुटिलता का आवर्त कहीं भी नहीं रहता।[3] उसके ही फलस्वरूप[4] द्युलोक के मूर्धा अथवा विष्णु के परमपद में अमृतक्षर एक दिव्य चक्षु प्रकट होता है जिसकी दृक्शक्ति क्रमशः बढ़ती ही जाती है।

यह 'एकम् अक्षि' उस परमदेवता की विश्वतः स्फुरित सौम्य दृष्टि है जो हमारे भीतर सर्वदर्शी अद्वैत चेतना का आनन्द प्रस्फुटित करती है।

बहुदेवता एक ही सन्मात्र अथवा शुद्ध सत्ता की विभूति है — वैदिक अद्वैतवाद की यह एक लक्षणीय भावना है। यह भावना अद्वैतवाद के अवरोह की दिशा को सूचित करती है अर्थात मूल एक से शाखा-प्रशाखा के बहुत्व की ओर उतर आना। इस से ही ऋक् संहिता में वैश्वदेव सूक्तों की रचना हुई। वहाँ हमें अनेक देवताओं की प्रशस्ति प्राप्त होती है, किन्तु एक देवता से दूसरे देवता में कोई विरोध नहीं दिखाई देता क्योंकि सर्वावगाही एकत्व की भावना ही चेतना की पृष्ठभूमि है। यह जैसे एक ही समुद्र में अनगिनत तरंगों, फेन और बुदबुदों का विवर्तन और एक ही अरण्य में लाख-लाख वृक्षों का अन्योन्य संगमन हो। विश्व की विचित्रता में हम एक का ही लीलायन देखते हैं और देखते हैं सब कुछ ही देवमय है अथवा सभी चिन्मय है। यह अद्वैतवाद का फलित पक्ष है। यह जिस प्रकार दृष्टि का अवरोह है उसी प्रकार आरोह भी है। अनेक के जिस किसी भी एक को अनन्य भाव से पकड़ कर मूल एक की ओर उठ जाना, सविशेष को निर्विशेष में पर्यवसित करना है। जिसकी चर्चा ऊपर कर चुके हैं। इस प्रकार परमदेवता की जो कोई भी विभूति अर्थात् जो कोई भी देवता हमारे इष्ट हो सकते हैं। तब भी ऋक् संहिता में अग्नि, इन्द्र, सविता और विष्णु इन चार देवताओं को एक की मर्यादा प्रदान की गई है।

---

'मधु प्रजातम् अन्धसः' — अन्न धारा से प्रजात होओ तुम मधु रूप में अथवा अमृतचेतना रूप में ९।१८।२। [2] वही दिव्य सोम (तु. ९।१२।५, ७।४, १२।४, १७।५। 'इन्दु': इन्धेः (दीप्त्यर्थस्य) उनत्तेः (क्लेदनार्थस्य) वा' निरुक्त १०।४१। दोनों अर्थ मिलाने पर 'ज्योति-विन्दु'। द्रष्टव्य सं सरचद्-देवो देवं रात्यम् इन्द्रं सात्य इन्दुः १२।२२।१-३। हठयोग की भाषा में सोम-सूर्य अथवा इड़ा-पिंगला का मिलन।

[१२५६] सात धीति का उल्लेख अन्यत्र भी है : ऋ. ९।८।४, १५।८, १७।४, ६६।११, ८६।३१... १ द्र. ३।१।६, ७।१, १।१६४।२४, 'मधु ऊर्मिं दुहते सप्तवाणीः' — (सोम्य) मधुर तरंग दुहती है सप्तवाणी ये ९।५७।३। [2] एष हितो (तु. उपनिषद की 'हिता' नाड़ी) वि नीयते अन्तः शुभ्रावता पथा ९।१५।३ ... दिवो नाभा १२।४, एष सूर्येण हासते पवमानो अधि द्यवि २७।५, सोमो गौरी (१।१६४।४१) अधिश्रितः १२।३। [3] तु. 'आ विद्युता पवते धारया सुत ९।८४।३ अर्षन् सरांसि...धावति सप्त प्रवत आ दिवम् ५४।२' — विद्युत धारा के सात स्रोत में सात (तीन तु. ६।१७।११) सरोवर रचकर द्युलोक की ओर धावमान हैं। तीन सरोवर, तु. उपनिषद के तीन 'आवसथ' (ऐ. १।१२) — हृदय में, भ्रूमध्य में, एवं मूर्धा में। तु. आजीवीय, यही है 'अध्वर' गति, 'ऋजुनीति' (१।९०।१), मूल ऋक् का 'उद्रोह'। [4] तु. तद् विष्णोः परमं पदम् ... दिवीव चक्षुर् आततम् १।२२।२०। यह भी लोकोत्तर अद्वैत चेतना की व्याख्या है।

**अग्नि** के सम्बन्ध में कहा जा रहा है कि [१२५७] यह जो विश्वदेव अथवा विश्वचैतन्य की विचित्र विभूति है, अग्नि एक होकर उनका परिभू है, सर्वोपरि है, यही उसकी महिमा है। फिर :[1] यह जो अग्नि मन होकर मानो प्रत्येक पथ पर धावमान है, वह एक है, वह सूर्य है, पुंजद्युति अथवा पुंजीभूत ज्योति का ईशान है। फिर :[2] विश्ववित् इस अग्नि को भृगुओं ने उद्दीप्त किया पृथिवी की नाभि में, विश्वभुवन की निगूढ शक्ति में; तुम अपने-अपने घरों में उसे उद्बुद्ध करो उद्बोधिनी वाणी द्वारा, जो एक अर्थात् वरुण जैसा है; जो ज्योति का राजा इत्यादि है।... अग्नि पृथिवीस्थान देवता है, उसके बाद **अन्तरिक्षस्थान इन्द्र** है। ऋक् संहिता में 'एक अथवा 'एको देवः'[3] के रूप में इन्द्र का सब से अधिक उल्लेख किया गया है। इन्द्र वहाँ आदित्य;[4] सप्त आदित्यों में से एक आदित्य हैं; और आदित्य अथवा सूर्य ही वैदिकों के परम देवता हैं। वर्षण में इन्द्र की शक्ति तथा आदित्य द्युति में उनकी प्रज्ञा अथवा स्वरूप की द्युतिमा है। वस्तुतः ऋक् संहिता में ही हम देखते हैं कि इन्द्र परम देवता हैं,[5] वे ही यह सब कुछ हुए हैं, रूप-रूप में प्रतिरूप होकर वे पुरुरूप मायावी हैं। किन्तु संहिता के मंत्रों में कर्म की प्रधानता के कारण वहाँ उनके शक्तिरूप का परिचय ही अधिक प्राप्त होता है। यद्यपि सोमयाग की फलश्रुति में 'इन्द्रायेन्दो परिस्रव' इस टेक में उनका परमत्व ही सूचित हुआ है।[6] किन्तु ऋग्वेद की ऐतरेय एवं कौषीतकि इन दो उपनिषदों में ही उनका सुस्पष्ट परिचय प्राप्त होता है कि वे परमात्मा हैं।[7] कौषीतकि में उनके प्राण या शक्तिरूप और प्रज्ञा रूप दोनों को ही मिला दिया गया है।[8] वहाँ उनके द्वारा वृत्र-वध के वर्णन को थोड़ा फैला कर बतलाया गया है— उन्होंने पृथिवी में कालकंजों का, अन्तरिक्ष में पौलोमों का एवं द्युलोक में प्राह्लादों का वध किया है।[9] संहिता में इन्द्र की अद्वितीयता का उल्लेख अनेक स्थानों पर है।[10]... उसके बाद द्युस्थान देवता **सविता**:[11] आवेगकम्पित विप्र जो, मन को वे युक्त

[१२५७] परि यद् एषाम् एको विश्वेषां भुवद् देवो देवानां महित्वा १।६८।२। चक्र की नाभि से शलाकाओं या तीलियों की तरह जो चारों ओर फैल जाते हैं वे परिभू हैं। उसी प्रकार एक अग्नि ही बहुदेवताओं में परिकीर्ण है। १ मनो न योऽध्वनः सद्य एत्येकः सत्रा सूरो वस्व ईशे १।७१।९। २ यम् एरिरे भृगवो विश्ववेदसं नाभा पृथिव्या भुवनस्य मज्मना, अग्निं तं गीर्भिर् हिनुहि स्व आ दमे य एको वस्वो वरुणो न राजति १।१४३।४। ३ २।२७।१, इन्द्र का नाम नहीं है किन्तु 'तुविजात' इस विशेषण का उल्लेख है; द्र. १।१३१।७, ३।३२।११, ६।१८।४, १०।२९।५। ४ सप्तभिः पुत्रैर् अदितिः १०।७२।९; ९।११४।३। ५ ६।४७।१८, ३।५३।८। ६ ९।११२, ११४ सूक्त। ७ ऐ. १।३।१३-१४, कौ. ३।१। ८ तु. प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा, तं माम् आयुर् अमृतम् इत्युपास्व ३।२। ९ ३।१। ब्राह्मण में यही देवताओं द्वारा असुरों पर त्रिपुरविजय है, सांख्य की भाषा में तीनों गुणों के बन्धन से मुक्त होना है। १० स विश्वस्य करुणस्येश एकः १।१००।७, य एकश् चर्षणीनाम् १।१७६।२, विश्वस्यैक ईशिषे २।१३।६, एको द्वे वसुमती समीची इन्द्र आ पप्रौ पृथिवीम् उत द्याम् ३।३०।११, एको विश्वस्य भुवनस्य राजा ३।४६।२, नमो अस्य प्रदिव (प्रथम दिन से) एक ईशे ३।५१।४, त्वं ह्येक ईशिष इन्द्र वाजस्य गोमतः (ज्योतिर्मय वज्रशक्ति के ईशान, ४।३२।७, ६।३४।२, ४५।१६, ७।१९।१, २३।५, जनीर् (पत्नी) इव पतिर् एकः समानः (यहाँ मधुरभाव का संकेत) ७।२६।३, ८।१३।९, देव एकः १०।१०४।९...। 'एक' के साथ प्रायः ही ईश धातु का प्रयोग द्रष्टव्य। देवता 'ईशान' (८।६।४१) > ईश्वर। ११ युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः, वि होत्रा दधे वयुनाविद् एक इन् मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ५।८१।१। १२ उतेशिषे प्रसवस्य त्वम् एक इद् उत पूषा भवसि देव यामभिः, उतेदं विश्वं भुवनं वि राजसि ५।८१।५। १३ प्र विष्णवे शूषम् एतु मन्म गिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे, य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थं

५०

करते हैं, युक्त करते हैं धी को भी उस बृहत् के साथ स्वयं जो आवेग-कम्पित हैं, जानकारी रखते हैं हृदयावेग की; एक वे, जानते हैं पंथ की दिशा, आत्माहुति के विधाता हैं वे; ज्योतिर्मय सविता के प्रति उनकी स्तुति कितनी विपुल विस्तृत है। फिर;[12] एक तुम ही प्रेरणा के ईशान; (स्रोत की विपरीत दिशा में) चलते-चलते तुम ही होते हो पूषा; इसके अतिरिक्त इस विश्वभुवन के ऊपर विराट् रूप में तुम ही हो। सविता का 'प्रसव' जीव के भीतर अध्यात्म प्रेरणा का उत्स है।... उसके बाद द्युस्थान देवता **विष्णु**, अध्यात्म दृष्टि में जो मूर्द्धन्य चेतना, माध्यन्दिन सूर्य उनका प्रतीक है और जिनकी अद्वितीयता का मंत्र है;[13] विष्णु की ओर तेज़ गति से चले जाएँ (मेरे प्राण के) उच्छ्वास, (मेरे मन के) मंत्र — गिरिशिखर पर निवास है जिनका, विशाल है जिनकी गति (आलोकशक्ति के) वर्षक हैं जो; एक हैं जो और जिन्होंने इस दीर्घ विपुल संगमस्थल को आच्छादित किया है मात्र तीन पद-क्षेप में। पुनः-[14] जिनके तीन पद मधु से पूर्ण हैं — अक्षीयमाण रूप में जो आत्मस्थिति के आनन्द में मत्त हैं, जिन्होंने पृथिवी (अन्तरिक्ष) और द्युलोक में इस त्रिभुवन को, इस विश्वभुवन को एक होकर धारण कर रखा है।... इस प्रकार हम देख रहे हैं कि पृथिवी में अग्नि रूप में अन्तरिक्ष के उपान्त में या अन्तिम छोर पर इन्द्र रूप में और द्युलोक में सविता व विष्णु रूप में एक ही परम देवता का प्रकाश है।

अद्वैत बोध के सूचक 'एको देवः' इस पर्याय के कतिपय मंत्रों का विवेचन करके हमने देखा कि उपासक के इष्ट अग्नि, उषा, सूर्य (इन्द्र) मित्र, वरुण, अश्विद्वय, सोम, सविता अथवा विष्णु आदि देवता चाहे जो भी हों किन्तु उपासना का अन्तिम परिणाम एक अविकल्प, असंदिग्ध अद्वय चेतना की भूमि पर आरूढ़ होने में है। साधना के आरम्भ में पंथ-भेद रह सकता है एवं वह रहना भी ठीक है, क्योंकि सभी लोग रुचि एवं संस्कार में एक जैसे नहीं होते। किन्तु चक्र की नाभि में शलाका की तरह सारे रास्तों का गन्तव्य यदि एक हो तो उसमें ही अद्वैतवाद की सार्थकता - 'सर्वेषाम् अविरोधेन' है। आरम्भ में ही भले एक देव की आडम्बर युक्त और युयुत्सु घोषणा न हो!

इसके बाद अद्वैतानुभव के एक और सोपान की ओर बढ़कर 'एकं सत' इस पर्याय के मंत्रों का विवेचन करेंगे।

पहले ही बतलाया गया है कि असत्, सत् और देवता परमतत्त्व के ये तीन विभाव ही 'एकमेवाद्वितीयम' हैं। जब उपास्य-उपासक सम्बन्ध है, तब तत्त्व 'देवता' — पराक् या वस्तुनिष्ठ (objective) दृष्टि से। निःसन्देह उस दृष्टि के मूल में भी चेतना की अन्तर्मुखता है क्योंकि अपने भीतर न पैठने पर देवदर्शन संभव नहीं [125 c] अन्तर्मुखता और भी प्रगाढ़ होने पर प्रत्यक् (Subjective) दृष्टि का

---

एको विममे त्रिभिर् इत् पदेभिः; 1।154।3। विष्णु का प्रथम पदक्षेप - प्राची मूल में, द्वितीय मध्य आकाश में, एवं तृतीय गयशीर्ष अथवा महाशून्य में। यह और्णनाभ का मत है (नि. 12।19)। इससे यह संकेत प्राप्त होता है कि बौद्धभावना की धारा गौतम बुद्ध से भी पूर्ववर्ती है। यहाँ तक कि काठक संहिता में भी उसका बीज है (द्र. 3।53।14)। विस्तृत आलोचना के लिए द्रष्टव्य 'विष्णु'। अध्यात्म चेतना के सर्वोच्च शिखर पर उनकी स्थिति होने के कारण वे भी 'गिरिक्षित्' (गिरिष्ठाः; 2)। 'सधस्थ' अथवा संगमस्थल समस्त ज्योति-शक्ति की मिलन-भूमि है — जिस प्रकार आदित्य मण्डल अथवा व्योममण्डल। 14 यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्य् अक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति, य उ त्रिधातु पृथिवीम् उत द्याम् एको दाधार भुवनानि विश्वा 1।154।4। 'मधु' अमृत चेतना का प्रतीक है, पंचामृत को वाक्दी अमृत है, जो रस का आस्वादने पर 'शर्करा' हो जाता है (आनन्द चेतना)।

[125 c] तु. ऋ. इन्द्राय हृदा मनसा मनीषा प्रत्नाय पत्ये धियो मर्जयन्त — इन्द्र (विश्व के) आदि पति हैं, उनके प्रति हृदय, मन और मनीषा द्वारा ध्यानचेतना को वे मार्जित करते हैं: 1।61।2। 'धी' योग (तु. युञ्जते धियः 5।81।1) वैदिक साधना का वैशिष्ट्य है। उसके

विकास होता है। उस समय सायुज्य के अनुभव में सम्बन्ध को अतिक्रम करते हुए सम्बन्धी लक्षित होता है। परमतत्व तब 'सत्' है। सत् अर्थात विशुद्ध सत्तामात्र, जिसके भीतर विषय एवं विषयी दोनों ही समाहित हैं। न्याय में सत्ता को परसामान्य (Highest Universal) कहते हैं; उपनिषद में उसे 'अस्ति' रूप में परमतत्व की उपलब्धि कहा गया है — जो चक्षु, मन अथवा वाक से परे है।[1] देवता इसी सत् स्वरूप की विभूति हैं। देवता के माध्यम से जिस प्रकार हम सत् स्वरूप में पहुँचते हैं उसी प्रकार सत् स्वरूप से फिर देवता में उतर आते हैं

यह भावना ही ऋक्संहिता में ऋषि दीर्घतमा के इस मंत्र में व्यक्त हुई है [१२५९]: 'उन्हें ही ऋषिगण कहते हैं इन्द्र, मित्र, वरुण एवं अग्नि; फिर वे ही द्युलोक के सुपर्ण हैं जिन्होंने डैने फैला रखे हैं। उसी एक सत्स्वरूप के वृत्तान्त की ही मेधावीगण घोषणा करते हैं अनेक प्रकार से, उन्हें ही कहते हैं अग्नि, यम, मातरिश्वा।'

इसी प्रकार की भावना एक अन्य मंत्रांश में व्यक्त हुई है [१२६०]: 'विप्र, कवि वाणी द्वारा उस सुपर्ण का ही अनेक रूपों में वर्णन करते हैं जो एक रूप में स्थित है।' एक ही जो अनेक हुआ है, यह भाव पहले विवेचित एक अन्य मंत्र में भी देखने को मिलता है। दोनों उद्धृत मंत्रों में एक ही तत्व की घोषणा है। अनेक देवता एक ही सत् स्वरूप की विभूति हैं। वैदिक निरुक्ति को ध्यान में रखकर इस कथन की दार्शनिक व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है। सुदीप्त आत्मचैतन्य ही देवता का स्वरूप है। एक ही चेतना की अनेक तरंगें हैं, यह प्रत्यक्ष है। अतएव देवता भी अनेक हैं। किन्तु निदिध्यासन में[2] अथवा अन्तर्मुख चेतना के अभिनिवेश या एकाग्र अभिमुखीनता में समस्त तरंगें ही एक चिन्मय सन्मात्र में पर्यवसित हो जाती हैं। यह आरोह क्रम है। पुनः अवरोह क्रम में, वह एक सत्ता ही विचित्र चेतना की तरंगों में विच्छुरित हो जाती है। एकं सत् 'बहुधा विकल्पित' होता है। अनुभव के

तीन पर्व हैं — मन द्वारा (तु. के. ४।५), उस मन के ही आश्रय में मनीषा (बुद्धि अथवा विज्ञान तु. क. १।३।६-१२) द्वारा एवं अन्त में हृदय द्वारा (तु. बृ. ५।३।१) साधना। तु. क. हृदा मनीषा मनसा, भिक्लृप्तो य एतद् विदुर् अमृतास ते भवन्ति २।३।९। द्र. टीका १२१८[1]। १ क. २।३।१२-१३

[१२५९] ऋ. इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निम् आहुर् अथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्, एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्य् अग्निं यमं मातरिश्वानम् आहुः १।१६४।४६। वेद में अद्वैतवाद के निदर्शन के रूप में आधुनिक विद्वानों द्वारा बहुरटित मंत्र है, लगता है वेद में अन्यत्र कहीं अद्वैतवाद नहीं है। द्र. टीका. ११८४।

[१२६०] ऋ. सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिर् एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति १०।११४।५। इसकी ही प्रतिध्वनि इस उक्ति में है: 'साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूपकल्पना', एक ब्रह्म के विचित्र रूप की कल्पना साधकों के हित के लिए ही है। कल्पना यहाँ अवास्तव भावना का बोधक नहीं है बल्कि उससे भाव के रूपायन का बोध होता है जिसकी वैदिक संज्ञा 'विसृष्टि' है (द्र. १०।१२९।६, १८।३)। 'विप्र' <√विप 'काँपना', भावावेग में जिसका हृदय काँपे। 'कवि' <√कु 'आकूति वहन करना'; परमदेवता भी वेद में कवि। उनकी आकूति है सृष्टि की और साधक कवि की आकूति है दृष्टि की। दोनों संज्ञाओं में वैदिक ऋषि की सोम्य चेतना का सार्थक परिचय प्राप्त होता है (तु. अयं ... सोमः, ऋषिर् विप्रः काव्येन ८।७९।१)। विप्र भाव के साधक। जो कवि, वे दिव्य आकूति में क्रान्तदर्शी, अथवा बुद्धि के साधक। भाव एवं धी अन्योन्याश्रित। द्र. टीका १३२३।[1] ८।५८।२;।[2] धीयोग का चरम परिणाम। धी: तु. ऋ. 'उत नो धियो गोअग्राः पूषन् विष्णो ... कर्त' — हे पूषा, हे विष्णु, हमारी धी को ज्योतिरग्रा करो (१।९०।५; तु. ई. १५, १६; साथ साथ विष्णु का उल्लेख द्रष्टव्य), गायत्री मंत्र में सविता धी के प्रचोदयिता अथवा प्रेरक ३।६२।१० (तु. ५।८१।१); 'इन्द्र ... चोदय धियम् अयसो न धाराम् ... कृधि मा देववन्तम्' — हे इन्द्र, असि धारा की तरह प्रचोदित करो मेरी धी को, ... मुझे देवमय करो (६।४७।१०; तु. क. क्षुरस्य धारा १।३।१४, दृश्यते त्वग्र्यया

दोनों पक्ष ही सत्य हैं। वैदिक भावना अथवा इस देश की साधना के इतिवृत्त में एकदेववाद अथवा बहुदेववाद में कहीं विरोध नहीं।

दीर्घतमा के मंत्र में साधना की दो धाराओं का उल्लेख है। एक धारा में देवता विन्यास है अग्नि — इन्द्र — मित्र — वरुण और दूसरी धारा में अग्नि — मातरिश्वा — सुपर्ण — यम। दोनों धाराओं में इन्द्र एवं मातरिश्वा को लेकर सूक्ष्म भेद है।

साधना का अर्थ है चेतना का उत्तरायण। उत्तरायण में अर्थात् ऊर्ध्वमुखी क्रमिक अभियान में पर्वभेद है। एक-एक पर्व अथवा सोपान एक-एक देवता है।

अग्निचेतना समस्त साधना की ही आधार-भूमि है। हृदय में अभीप्सा की आग जले बिना साधना शुरू ही नहीं होती। इसलिए हम दोनों धाराओं के ही आदि में अग्नि को पाते हैं।

इसके अतिरिक्त वैदिक भावना में तीन लोक अथवा चेतना की तीन भूमि — अर्थात् पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्यौ का उल्लेख प्राप्त होता है। अग्नि पृथिवीस्थानी देवता हैं। अन्तरिक्षस्थानी देवता के आदि में वायु और अन्तिम छोर पर इन्द्र हैं। वायु का एक अन्य नाम मातरिश्वा है। आदित्यगण द्युस्थानी देवता हैं। वरुण आदित्यों में एक आदित्य हैं किन्तु तब भी रात्रि अथवा अव्यक्त चैतन्य के देवता के रूप में हम उन्हें लोकोत्तर कह सकते हैं। यम भी नहीं हैं [1261]।

आध्यात्मिक दृष्टि से पृथिवीलोक देह-चेतना की भूमि है और अन्तरिक्ष प्राणचेतना की भूमि है। द्युलोक का आरम्भ मनश्चेतना द्वारा होता है। अतएव इस दृष्टि से अन्नमय शरीर में तापरूप में जो अग्नि का प्राकट्य होता है, वही देवता रूप में कायसंयमजनित तपःशक्ति है। इसलिए देहरूपी अरणि का मन्थन करके अग्निसमिन्धन एवं तपोवृद्धि में ही साधना की सूचना है। इस मन्थन के फलस्वरूप आविर्भूत होती है विशुद्ध प्राणचेतना, जिसका देवता मातरिश्वा अथवा वायु है। इन्द्र शुद्ध मनश्चेतना है किन्तु ओजोजात [1262] अथवा ओज से उत्पन्न होने के कारण प्राणसंसृष्ट हैं। अतएव संहिता में मरुद्गण उसके नित्य सहचर हैं। अन्तरिक्ष में यह देवताविकल्प साधना की दो धाराओं का सूचक है। प्राण और मन को लेकर ही साधना होती है; किन्तु एक धारा में प्राण मुख्य है और दूसरी धारा में मन मुख्य [1263] है।

---

बुद्ध्या सूक्ष्मया 12); 'विदन्त ज्योतिश् चकृपन्त धीभिः' — उन्होंने ज्योति को प्राप्त किया (क्योंकि) बुद्धि द्वारा उन्होंने उसकी कामना की थी, ऋ. 4।1।14।

[1261] लोकविभाग के अनुसार देवताविभाग के मध्य अधिक संहति नहीं है। अतः हम देखते हैं कि अग्नि द्युलोक की मूर्धा में ('दिवियोनिः' ऋ. 10।88।7), इन्द्र आदित्य (2।27।1) इत्यादि। वस्तुतः चैतन्य या चेतना स्वच्छन्द है, एक भूमि या स्तर पर ही निबद्ध नहीं। देवता त्रिषधस्थ हैं (अग्नि 5।4।8, वैश्वानर 6।8।7, विष्णु 1।156।5, बृहस्पति 4।50।1, सोम 8।94।5, सरस्वती 6।61।12, देवाः त्रिषधस्थे निषेदुः 10।61।14, अग्निं नरः त्रिषधस्थे समीधिरे 5।11।2)।

[1262] तु. ऋ. 'अश्वाद् इयायेति यद् वदन्त्य ओजसो जातम् उत मन्य एनम्' — कहा जाता है कि वे (इन्द्र) अश्व से उत्पन्न हुए हैं किन्तु मुझे लगता है कि उनकी उत्पत्ति तेज से ही हुई है (10।73।10)।

[1263] जिस प्रकार हम देखते हैं कि एक ही निरोध समाधि को लक्ष्य में रखकर प्रवर्तित हठयोग में प्राण का प्राधान्य है और राजयोग में मन का प्राधान्य है।

'एकं सत्'

प्राण और मन की निर्मलता चेतना को द्युलोक में उत्तीर्ण करती है। वहाँ के देवता मित्र हैं। वे व्यक्त ज्योति की अनन्तता हैं [१२६४]। यहाँ वे सुपर्ण अथवा हंस रूप में कल्पित हैं। वे अव्यक्त की सुनील अनन्तता में तैर रहे हैं। द्वितीय मंत्रांश में ऋषि उन्हें ही 'एकं सत्' कह रहे हैं।

लोक के परे लोकोत्तर और व्यक्त के परे अव्यक्त [१२६५] है। जिसके देवता वरुण हैं। रात्रि की अनिर्वचनीय ज्योति उनका प्रतीक है।[१] जिस साधना में प्राण-संयमन मुख्य है, वहाँ वे यम हैं। कठोपनिषद में यम वैवस्वत हैं अर्थात आदित्य ज्योति से उत्पन्न। उन्होंने ही नचिकेता को उस लोकोत्तर धाम का प्रत्यक्ष ज्ञान प्रदान किया था जहाँ[२] अनालोक के आलोक में सब उजागर हो रहा है।

ऋषि बतला रहे हैं कि यह सब कुछ उसी एक सन्मात्र अथवा शुद्ध सत्ता की विभूति है।

उसके बाद विश्वामित्र अथवा वाक के पुत्र ऋषि प्रजापति के दो मंत्र [१२६६] हैं— 'जो कुछ उत्पन्न हुआ है, उसको इन दोनों ने यथायथ सम्प्रसारित किया है, महान देवताओं को धारण करके भी अटल हैं; चंचल अथवा ध्रुव या निश्चल जो कुछ है, सब का स्वामी वही एक है— जो विचरण करता है, जो उड़ता है, जो वर्ण में विचित्र है, जो जन्म में विचित्र है— सब का ही है। उसी सनातन पुराण का यह जो अनुभव करते हैं दूर से— अनुभव करते हैं उसी महान पिता और जनक से आविर्भाव हम सब का; देवता उसके भीतर स्वभावत: स्तुतिमुखर होकर तारों से बुने पथ पर खड़े हैं।' ... आँखों के सामने देख रहे हैं जो यह श्यामली या श्यामवर्णा पृथिवी और यह जो सुनील द्युलोक, ये ही[१] विश्वभुवन के माता-पिता हैं। इस पृथिवी के वक्ष में

---

[१२६४] तु. क. महान आत्मा १|३|१०, ११, २|३|७; तैउ. मह इति, तद् ब्रह्म १|५|१।

[१२६५] संहिता में 'तृतीयं धाम' ऋ. ८|१०१|१८, 'तुरीयं स्वित्' १०|६७|१, तु. गूळ्हं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्दद् अत्रि: — व्रतच्युत अन्धकार द्वारा निगूढ़ सूर्य को अत्रि ने प्राप्त किया तुरीय ब्रह्म द्वारा (५|४०|६, दृश्यत: सूर्यग्रहण का वर्णन है; किन्तु तत्त्वत: सूर्य के भी उस पार अव्यक्त ज्योति में प्रवेश का संकेत है; सूर्य ग्रस्त होता है इन्द्र की अमृत कला द्वारा अर्थात व्यक्त चैतन्य को आवृत करके अव्यक्त बोध का उदय होता है, अत: तंत्र में सूर्यग्रहण उपादेय किन्तु चन्द्रग्रहण हेय है)।[१] तु. १०|१२७|२।
[२] क. २|२|१५।

[१२६६] ऋ. विश्वेद् एते जनिमा सं विविक्तो महो देवान् बिभ्रती न व्यथेते, एजद् ध्रुवं पत्यते विश्वम् एकं चरत् पतत्रि विषुणं वि जातम्। सना पुराणम् अध्येम्य आरान् मह: पितुर् जनितुर् जामि तन् न:, देवासो यत्र पनितार एवैर् उरौ पथि व्युते तस्थुर् अन्त: ३|५४|८-९। ऋषि का नाम 'प्रजापति' — लगता है इष्ट के साथ सायुज्य बोध का सूचक है। द्रष्टव्य, उनके पिता विश्वामित्र, किन्तु माता वाक्; मनु का कथन है कि उपनयन में ब्रह्मचारी के पिता आचार्य होते हैं और मां सावित्री (मस २|१७०)। यह वाक् 'ससर्परी' अथवा विद्युद् विसर्पिणी, विश्वामित्र ने जमदग्नि से प्राप्त किया था (३|५३|१५, १६)। यही क्या विश्वामित्र का 'ब्रह्म' है जो भारतजन की रक्षा करता है (१२) और जो द्विजातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) का नित्य पाठ्य गायत्री मंत्र है (३|६२|१०)? वाच्य प्रजापति के सूक्तों (५४-५६) का प्रत्येक सूक्त ही गम्भीर भावों का वाहन है।[१] 'द्यौर् मे पिता जनिता नाभिर् अत्र बन्धुर् मे माता पृथिवी महीयम्' — द्युलोक मेरे पिता जनक एवं नाभि (ग्रन्थि) यहाँ, यह महती पृथिवी मेरी माता एवं बन्धन है १|१६४|३३ (तु. १|१५९|१-३); 'उरुव्यचसा महिनी असश्चता पिता माता च भुवनानि रक्षत:' — सुविशाल व्याप्ति है जिनकी, जो महान हैं, जो वियुक्त हैं, वे ही पिता एवं माता विश्वभुवन की रक्षा करते हैं १|१६०|२; पूर्वजे पितरा ७|५३|२ (१०|६५|८);

प्राण की लीला, और उस द्युलोक में आलोक का क्रीडन-खेलन, इसके ही अन्तर्गत विधृत है विश्व का समस्त स्पन्दन। माँ की गोद से पिता की गोद में और प्राण से प्रज्ञा की ओर समस्त जीवन का अभियान जारी है। यह जीवनायन ही विश्वदेवता की अनादिनिधन लीला है : अष्टवसु, एकादश रुद्र और द्वादश आदित्य स्तर-स्तर में विन्यस्त, अवस्थित रह कर इस भूलोक और द्युलोक के आवेष्टन[2] में विलसित, उद्भासित होते हुए यातायात हैं। एक ओर यह अनादि युग्म जिस प्रकार प्राण में चंचल और विभूति में विचित्र है, उसी प्रकार दूसरी ओर वे स्वधा में नित्य अचंचल हैं। फिर इस युग्म की विश्वव्यापी द्वैतलीला को चीर कर बहुत दूर उससे परे स्थित है[3] वह परम एक जो शाश्वत है, सब का आदि है और भूत-भविष्य का ईशान है, अधिपति है। इस श्यामली पृथिवी की गोद से निहार रहा हूँ उस सुनील द्युलोक के सुदूर रहस्य की ओर। मेरी अनिमेष दृष्टि के सामने उन्मोचित हुआ अज्ञात का हिरण्मय आवरण : यह जो देख रहा हूं, यह जो पाया है उस चिरपुरातन [4]चिरन्तन को आदिमिथुन की सम्प्रयुक्त चेतना के निविड़ गहराव में। उस बीजप्रद पिता की विसृष्टि के उन्मादन से, [5]यह जो देख रहा हूँ अपने सब का अश्रान्त निर्झरण, देख रहा हूँ उसमें तारों से झिलमिलाता देवयान का विशाल वितान, सुनता हूँ उसके पोर-पोर में विश्वदेवता की हृदय तंत्री पर गुंजरित उस [6]चिरन्तन का वन्दनागीत।... विश्वमूल समस्त तत्त्व ही इन दो मंत्रों में प्रज्ञापित हुआ है : देख रहा हूँ आदि में वह अनिरुक्त परम एक, उसके बाद वही एक, दो होकर द्यावा-पृथिवी का देवयुग्म, उसके बाद उसके आवेष्टन में अनेक देवताओं की विभावना, और उसके ही अनुभाव-प्रभाव के रूप में यह विचित्र विश्वलीला। फिर देखता हूँ, इस पृथिवी से द्युलोक तक [7]'सत्येन पन्था विततो देवयान:' — अर्थात सत्य द्वारा आच्छादित देवयान की आलोक-सरणि।

---

'रोदसी देवपुत्रे प्रत्ने मातरा यह्वी ऋतस्य' — द्युलोक और भूलोक के पुत्र सब देवता, आदि पिता एवं माता हैं वे, ऋत के तारुण्य में उच्छल ६।१७।७। [2] तु. शब्रा. अष्टौ वसव:, एकादश रुद्रा द्वादशादित्या इमे एव द्यावा पृथिवी त्रयस्त्रिंश्यो, त्रयस्त्रिंशद् वै देवा: प्रजापतिश्च चतुस्त्रिंश: ४।५।७।२। द्युलोक और भूलोक से परे प्रजापति, उससे भी परे परमपुरुष जिनकी ये सब विभूति हैं (तु. तैउ. आनन्द मीमांसा में देवता विन्यास २।८) [3] द्यावा-पृथिवी विधृत हैं 'ऋतस्य योनौ' ३।५४।६, जो वह परम एक हैं। उनका वर्णन है : 'स इत् स्वपा भुवनेष्वास य इमे द्यावा पृथिवी जजान' — वे वह शिल्पी हैं, जो विश्वभुवन में हैं जिन्होंने इस द्यावा-पृथिवी को जन्म दिया है ४।५६।३; 'अयं देवानाम् अपसाम् अपस्तमो यो जजान रोदसी विश्वशम्भुवा' — निपुण देवताओं में ये ही निपुणतम हैं, जिन्होंने जन्म दिया विश्वमंगल द्यावा-पृथिवी को १।१६०।४। यह अनिरुक्त देवता कभी इन्द्र (८।३६।४, १०।२९।६, ५४।३ अथवा कभी त्वष्टा (१०।११०।९) ; वे विश्वकर्मा हैं १०।८१।२, ३) वे पुरुष हैं (१०।९०।१४)। 'ऋत' प्रजापति का व्रत, जो प्रजासमूह के जनक हैं (१०।८५।४३), विश्व जो कुछ उत्पन्न हुआ है उसके परिभू (१०।१२१।१०)। [4] संहिता की भाषा में 'सुरेता:'। द्यावा-पृथिवी दोनों के ही सुरेता (१।१५९।२, १६०।३ यहाँ वृषभ-धेनु की उपमा है); किन्तु शक्ति जब पुरुष में निवेशित अथवा स्थापित होती है तब हम पाते हैं केवल 'सुरेता द्यौ:' को, जो अजर-अमर अग्नि को जन्म देते हैं (१०।८५।८)। [5] 'उरौ पथि' — विपुल अथवा प्रशस्त पथ पर। यह पथ देवयान अथवा ज्योति:पथ है। देवतागण पंक्तिबद्ध उस पथ पर खड़े होकर पुराण पुरुष का स्तवन करते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से यह पथ सुषुम्णा मार्ग है, मूलाधार पृथिवी से सहस्रार द्युलोक तक विस्तृत है, उसके ही प्रत्येक पर्व पर चित् शक्ति का विकास होता है। 'व्युते' — [पदपाठ 'वि-उते'। < वि √वे ॥ वा (बुनना)+क्त। तु. स्तरीर् नात्कं व्युतं वसाना १।१२२।२, नक्त अथवा रात्रि का वर्णन। वे महानिशा हैं, अथवा शून्यरूपिणी हैं इसलिए अप्रसविनी हैं ('स्तरी:') ; किन्तु पहने हुए हैं तारों से झिलमिलाता-

उसके बाद दीर्घतमा का यह एक मंत्र [१२६७] है— 'तीन माता और तीन पिता को धारण कर वही एक उन्नत होकर स्थित है, वे इसे अवसन्न तो नहीं करते हैं; बल्कि मनन करते हैं।[1] (देवतागण) उस द्युलोक से भी ऊपर स्थित रहकर विश्ववित् वाक् का, जो सब को अनुप्रेरणा नहीं देती।' ... इसके अलावा भी हम द्वैत से परे अनिरुद्ध अद्वैत की प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। इस बार द्वैत लीला में एक मिथुन या युग्म तीन मिथुन में विपरिणत हुआ है— जो आदि जनक-जननी द्यावापृथिवी की ही विभूति है।[2] तीन माता तीन 'लोक' अर्थात पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौः हैं: सामान्यतया ये पृथिवी अर्थात आधार तत्त्व हैं और तीन पिता उनके अधिष्ठाता तीन 'देव', अर्थात् अग्नि, वायु एवं सूर्य हैं; सामान्यत: ये द्यौ: अर्थात् चित् तत्त्व हैं। समस्त विश्व ही आधार शक्ति और अन्तर्यामिचैतन्य का युगल विलास है।[3] यह विलास विधृत है उसी अद्वितीय एक के अन्तर्गत जो दो होकर भी दो के परे है। जहाँ द्वैत लीला है, वहाँ चरिष्णुता है, और उतार-चढ़ाव का आयास या परिश्रम है— इसलिए ग्लानि भी है किन्तु अक्षोभ्य अद्वैत में यह ग्लानि नहीं है बल्कि क्षोभ को अनायास वहन करने का सामर्थ्य है। इस विश्वम्भर अद्वैत चैतन्य की भूमि द्युलोक से भी परे है। उसी परमव्योम में परम प्रसान के साथ अभिन्न रूप में स्थित है परमा वाक् अर्थात विश्व प्राण में स्पन्दमाना 'गौरी', जो एकपदी होकर भी सहस्राक्षर में निच्छुरित है।[4] उससे ही चारों ओर जीवन समुद्र उच्छलित हो रहा है। वह सब कुछ जानती है,[5] किन्तु सभी उसे जानते नहीं... यहाँ हम एक अद्वैत तत्त्व और द्वैत चेतना की तीन भूमियों पर उसका अफुरन्त, अशेष अश्रान्त विलास देखते हैं। इस विलास की

---

परिधान] (तारों) से बुना। देवयान तारों से झिलमिलाता पथ (तु. 'प्र मे पन्था देवयाना अदृशन् ... वसुभिर् इष्कृतास:' देवयान के सारे पथ दिखाई पड़े मेरे सामने... जो अत्यधिक प्रकाश से आच्छादित हैं ७।७६।२)। सर्वदेवता के मूल परमपुरुष के ध्रुवपद का दर्शन करके ऋषि विश्वदेवताओं के बीच उतरकर आ रहे हैं। इसके बाद ही सूक्त के अन्त तक विश्वदेव गण की स्तुति है।[6] देवतागण उसी सनातन परम पुरुष की स्तुति करते हैं क्योंकि वे उसकी ही विभूति हैं (तु. यत्र देवा: समपश्यन्त विश्वे १०।८२।५, यत्र देवा: समगच्छन्त विश्वे ६)। [7] मु. ३।१।६।

[१२६७] ऋ. तिस्रो मातॄस् त्रीन् पितॄन् बिभ्रद् एक ऊर्ध्वस् तस्थौ नेम् अव ग्लापयन्ति, मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचम् अविश्वमिन्वाम् १।१६४।१०।[1] ये देवता उस परम की ही नित्य विभूति हैं। विभूति एवं विभूतिमान को, शक्ति और शक्तिमान को पृथक् नहीं किया जा सकता। एक वही है और कुछ भी नहीं— यह अनुभव ऊपर उठते जाने के समय हमारा भी हो सकता है किन्तु तब भी उसमें ही सब है। एक वस्तु में अनेक का समाहार। इसलिए देखते हैं कि सृष्टि के आदि में भी देवतागण बीजशक्ति के रूप में विद्यमान रहते हैं। पुरुष के अग्रजन्मा होने तथा पुरुषयज्ञ सृष्टि का प्रवर्तक होने पर भी देवतागण ही वहाँ यजमान हैं (१०।९०।६-७)। अविशिष्ट एक से अनेक का विवर्तन या परिवर्तन — यह दृष्टि विश्लेषणवादियों की है किन्तु तब भी अनेक उसी एक में अनुस्यूत एवं रहस्यपूर्ण रूप में सक्रिय हैं। चेतना की ऊर्ध्वगामी धारा या ज्वार में अद्वैत बोध अनेक के वर्जन द्वारा, और भाटा या उतार में अनेक को लेकर ही सम्भव है— यही समझ लेने पर वैदिक तथा भारतीय अद्वैतवाद के रहस्य को समझा जा सकता है। विश्लेषणवादी विवर्तन भावना की सूचना हमें संहिता में ही प्राप्त होती है— 'देवानां पूर्व्ये युगेऽसत: सद् अजायत; युगे प्रथमेऽसत: सद् अजायत' १०।७२।२, ३। यहाँ विवर्तन का क्रम इस प्रकार है, असत् > सत् > देवगण (तु. १०।१२९।६)।[2] तु. तिस्रो दिव: पृथिवीस् तिस्र ४।५३।५; षड् भारान् ३।५६।२, षळ् उर्वी: १०।१४।१६।[3] आधार-शक्ति से 'लोक', और अन्तर्यामिचैतन्य 'देव'। दोनों का ही निरुक्तलभ्य अर्थ एक (लोक॥ रोक < √रुच् 'दीप्ति या प्रकाश देना' तु. दिवश् चिद् आ ते रुचयन्त रोका: ३।६।७;

शक्ति ही उसकी वाक् अथवा विसृष्टि अथवा स्फुरत्ता अर्थात् चेतना का स्वाभाविक स्पन्दन है — जो नित्य सामरस्य में उसके साथ युगनद्ध है [१२६८]
हम विश्व का शब्द रूप एकवचन में, द्विवचन में एवं बहुवचन में देखते हैं।

उसके बाद वैवस्वत यम का एक मंत्र [१२६९] है : 'तीन कद्रुक के भीतर से होकर उड़ता आ रहा है (सोम)। छह विपुला (भूमि) ; एक ही बृहत्। त्रिष्टुप गायत्री (जितने) छन्द वे सभी यम में निहित हैं।' इस मंत्र में सोमयाजी की उत्क्रान्ति का वर्णन रहस्यात्मक भाषा में किया गया है जिसका अन्तिम लक्ष्य वही एक, वही बृहत् है। यह पथ उसी सत्य से आच्छादित देवयान का पथ है। उसके छह पर्वों में छह[1] महाभूमि हैं। सप्तम भूमि वही 'परमपद' है अथवा 'ऋत की योनि है' — जो द्यावा-पृथिवी से ऊपर की ओर है। उसे तो भूमि भी नहीं कहा जा सकता है। भूमि सब 'ऊर्वी' अथवा विपुला हैं; ये केवल बृहत् हैं, उपनिषद में जिसके अनुरूप संज्ञा 'ब्रह्म' है। इस बृहत् में इस एक में सब गतियों का अवसान है। सोमयाजी की मृत्यु तब वैवस्वत मृत्यु है जो अमृतत्व का ही नामान्तर है। यहाँ से वहाँ तक अमृतसन्ध जीवन से वैवस्वत मरण के प्रद्योत तक चेतना की सोम्य धारा तीन 'कद्रु'[2] या ग्रन्थि के भीतर से होती हुई ऊपर की ओर[3] सप्तछन्द की लहर-लहर में बहती रहती है — अभीप्सा की आग्नि को रूपान्तरित करके वृत्रघाती वज्र की

---

६।६६।६)। उपनिषद में हमें लोक एवं लोकपाल प्राप्त होते हैं, पहले लोक फिर लोकपाल दोनों का अधिष्ठान आत्मा है (ऐ. १।१।१-२)। [4] द्र. १।१६४।४१, ४२। परम व्योम अक्षर (३९), वाक् वहाँ सहस्राक्षरा रूप में उसके साथ अभिन्न; अविनाभूता। [5] 'उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचम्, उत त्वः शृण्वन् न शृणोत्य् एनाम्' — कोई देखकर भी वाक् को देखता नहीं, फिर कोई सुनकर भी सुनता नहीं १०।७१।४। वाक् जिस प्रकार 'अविश्वमिन्वा', पूषा का पंचरश्मि सप्तचक्र रथ भी— उसी प्रकार 'अविश्वमिन्व' (२।४०।३) अर्थात् देवता और ऋषि के अतिरिक्त और किसी को वह अग्रसर होकर नहीं लेता (अन्यत्र पदपाठ 'अविश्व। मिन्व'; किन्तु तु. पदपाठ 'विश्वम्। इन्व' सर्वत्र; तु. 'विश्वम् इन्वति' २।५।२, 'इन्वन्तो विश्वम्' ३।४।५।

[१२६८] सहस्रधा पंचदशान्य् उक्था यावद् द्यावापृथिवी तावद् इत् तत्, सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक् — सहस्र प्रकार का पंचदश उक्थ है, द्युलोक-भूलोक जहाँ तक, वहाँ तक ही वे, हज़ार रूपों में है सहस्र महिमा, ब्रह्म जहाँ तक व्याप्त है, वहाँ तक ही वाक् ऋ १०।११४।८ (तु. ऐब्रा. ब्रह्म वै वाक् ४।२१)। यहाँ Geldner का मन्तव्य प्रणिधान योग्य है : 'brahman ist hier die Grundlage der Vaac।' ब्रह्म अधियाज्ञिक दृष्टि से शब्द ब्रह्म और आध्यात्मिक अनुभव में परब्रह्म या परमब्रह्म दोनों ही। पंचदश उक्थ अथवा शस्त्र का प्रयोग होता है उक्थ्य नामक सोमयाग में। 'महिमा' ब्रह्मवीर्य का आधार ब्रह्मस्थिति (तु. रेतोधा आसन् महिमान आसन् ऋ १०।१२९।५)।

[१२६९] ऋ. त्रिकद्रुकेभिः पतति षड् उर्वीर् एकम् इद् बृहत्, त्रिष्टुब् गायत्र गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आहिता १०।१४।१६। मृत्यु, पितृगण एवं यम को लेकर रचित उप-मण्डल (१०।१४-१९) का यह आदि सूक्त है। पुरुष सूक्त की तरह इसकी ऋक् संख्या सोलह है; ठीक उसी प्रकार यह अन्त का ऋक् एक विशिष्ट समाप्ति का द्योतक है। सोलह षोड़शकल पुरुष का स्मरण दिलाता है। पुरुष सूक्त में वे आलोक अथवा ज्योति हैं; उनसे ही सृष्टि होती है और इस यम सूक्त में वे अन्धकार हैं, उनमें ही चेतना का विलय होता है। अन्त की चार ऋचाओं में यम के लिए सोमसवन का उल्लेख है, 'मरण-उत्सव' का संकेत हो। स्मरणीय, सोम अमृत, यम उसके विधाता (कठोपनिषद्)। अगले सब सूक्तों के ऋषि यामायन हैं, केवल आदि सूक्त के ऋषि स्वयं वैवस्वत यम हैं; तु. पुरुष सूक्त के ऋषि 'नारायण' हैं, देवता 'पुरुष'। इसके अतिरिक्त शब्रा. के पुरुषमेध के यज्ञ के प्रसंग में देखते हैं, आदि पुरुष नारायण (१३।६।१।१)। अतः दोनों सूक्तों में ही देवता के साथ ऋषि का सायुज्य प्राप्त होता है किन्तु असली नाम क्या है वह हम नहीं जान पाते। [1] द्र. टीका १२६७[2]। परन्तु तु. शाखान्तर से सायण की उद्धृति : 'षण् मोर्वीर् अंहसस् पान्तु द्यौश् च पृथिवी च आपश् च ओषधयश् च ऊर्क् च सूनृता च' तैआ. भाष्य ६।५।२।

अधृष्यता या अज्ञेयता में, विश्व देवता के आवेश को मिला देती है।[4] वारुणी रात्रि की अप्रकेतता या आच्छन्नता में, यमदत्त परम अवसान की असंज्ञता में... यह अवसान ही 'एकं बृहत्' का लोकोत्तर रूप है, जिससे अविशिष्ट अद्वैत अनुभव का परिचय प्राप्त होता है।

## 'एकं तत्'

अब हम 'एकं तत्' इस पर्याय के मंत्रों का विवेचन करेंगे।

'एक' जब देवता, तब उसके अनुभव का विशेषण है—विश्व वैचित्र्य में जिसका अभिव्यंजन हो। जब वह विशुद्ध सन्मात्र, तब फिर उसका कोई भी विशेषण नहीं। तब भी वह अनुभव इतिवाचक है। सूक्ष्मदर्शी की 'अग्र्या बुद्धि' में वहाँ भी एक सूक्ष्म विशेषण का आभास मिलता है। जब चेतना उस विशेषण को भी लाँघ जाती है तब उस समय के अनुभव की संज्ञा 'तत्' है। वैदिक ऋषियों द्वारा प्रयुक्त एक उपमा के द्वारा इन तीन अनुभवों का पार्थक्य समझाया जा सकता है। आकाश में एक सूर्य प्रकाशित है वह ही मानो 'एको देवः'। उस सूर्य के प्रकाश से उद्भासित आकाश मानो 'एकं सत्'। किन्तु आकाश में प्रकाश रहता है, फिर रहता भी नहीं है। यही निरुपाधिक आकाश 'एकं तत्' है। यह अनुभव असत्कल्प है किन्तु सत् का अधिष्ठान है। जिस प्रकार उपनिषद में एक ही आदित्य के 'शुक्लं भाः' एवं 'नीलं परः कृष्णम्' की तथा 'छायातप' की चर्चा की गई है [1260]।

---

और भी तुलनीय. सप्त व्याहृति प्रतिपादित सप्तलोक; 'परमपद' 1।22।20, 21; 154।5, 6; 'ऋतस्य योनिः' 3।54।6, 4।1।12, 5।62।6, 6।3।1, 8।6।25, 3।62।12, 5।21।4... (सोम के सम्बन्ध में बाहुल्य लक्षणीय; तु. हठयोग 'सहस्रारच्युतामृत')। [2] तैत्तिरीय संहिता में त्रिकद्रुक तीन याग (7।4।11।1 सायण भाष्य)। किन्तु ऋक् संहिता में कद्रु जान पड़ता है सोमपात्र विशेष (तु. अपिबत् कद्रुवः सुतम् इन्द्रः 8।45।26, त्रिकद्रुक में इन्द्र का सोमपान 1।32।3, 2।11।17, 15।1, 'त्रिकद्रुकेषु... सोमम् अपिबद् विष्णुना सुतम्' [इन्द्र विष्णु का सहचार या साथ लक्षणीय, विष्णु वीर्य या उनके बल से ही इन्द्र वृत्रघाती] 22।1, त्रिकद्रुकेषु चेतनं देवासो यज्ञम् अतन्वत — तीन कद्रुक में चेतन यज्ञ को देवताओं ने वितत किया 8।13।18 (= 5।2।21)। ऋक् संहिता में ग्रावस्तुति सूक्त (10।94) के ऋषि हैं 'अर्बुदः काद्रवेयः सर्पः'। 'ग्रावा' सोम कूटने-पीसने का पत्थर; 'अर्बुद' मांसग्रन्थि (tumour), ऋषि की माता का नाम 'कद्रु' वे स्वयं 'सर्प' हैं। इन संज्ञाओं के भीतर से हठयोग के कुण्डलिनी जागरण की क्रिया का सुस्पष्ट आभास प्राप्त होता है। इस प्रसंग में ऐतरेय ब्राह्मण की आख्यायिका द्रष्टव्य (6।1): देवताओं ने सर्पचरु से सत्रानुष्ठान किया किन्तु पाप को विनष्ट नहीं कर सके। उस समय अर्बुद काद्रवेय सर्प ने आकर कहा, एक क्रिया तुम लोगों की छूट गई है, इसकारण यह संकट, मैं उसे सम्पन्न कर देता हूँ। यह कहकर प्रतिदिन मध्याह्न में ऊपर की ओर उठकर (उपोत्सर्पन्) ग्रावों की स्तुति करने लगे। जिस मार्ग से वे ऊपर की ओर उठे थे ('प्रतिबिलाद् उद्गम्य आगच्छत' सायण), अब भी उसका नाम 'अर्बुदोदासर्पणी' है। किन्तु सोमपान करके देवतागण उन्मत्त हो गए। उन्होंने कहा, सर्प ऋषि की विद्वेषपूर्ण दृष्टि के कारण यह हुआ है। इसलिए उन्होंने उनकी आँखें बाँध दीं।... अन्त में देवताओं का पाप विनष्ट हो गया, साथ-साथ सर्पों का भी। इसलिए वे आज भी 'अपहतपाप्मानो हित्वा पूर्वां जीर्णां त्वचं नवयैव प्रयन्ति' — निष्पाप होकर पहले का जीर्ण त्वक् (केंचुली, त्वचा) छोड़कर नये त्वक के साथ चलते-फिरते हैं। तात्पर्य यह है कि मनुष्य भी सोमपान करके अमर होकर दिव्य देह प्राप्त करता है (नाथ सम्प्रदाय की कायसिद्धि का मूल यहीं है)। ऐ.ब्रा. के अनुसार 'मनो वै ग्रावस्तोत्रीया' — ग्रावस्तोत्रीया ऋक् 'मनस' है 6।2। उसका ही स्त्रीलिंग है 'मनसा'। (बंगाल की लोककथाओं में वर्णित मनसा की कहानी स्मरणीय)। इसके अलावा तैत्तिरीय संहिता में कद्रु सुपर्णी की कहानी है (6।1।6।1..., इतिहास-पुराण में 'कद्रु विनता')। कद्रु से पराजित सुपर्णी के निष्क्रय (Ransom) या रक्षाशुल्क के लिए गायत्री तृतीय द्युलोक से सोम ले आई। किन्तु लेकर आते समय गन्धर्व विश्वावसु ने उस सोम को छीनकर तीन रात रख लिया (तु. कठोप-

दीर्घतमा के एक मंत्र में लोकोत्तर तत् स्वरूप के सम्बन्ध में हम यही जिज्ञासा देखते हैं [१२६१] : 'मैं समझ नहीं पा रहा हूँ, इसलिए इस विषय में प्रश्न कर रहा हूँ उन कवियों-मेधावियों से जो समझ पाए हैं; न जानने के कारण ही जानने के लिए (मेरा प्रश्न)। जिसने इन छह लोकों को स्तंभित कर रखा है, उस अजात, अजन्मा के रूप में कौन है अनिर्वचनीय एक ?'...जो परम एक है उसके स्वरूप के सम्बन्ध में यहाँ हमें जो विवृति प्राप्त होती है : यह 'एक'[1] अज है, उसका जन्म नहीं; लेकिन उससे ही[2] छह लोक उत्पन्न हुए, वह उनका आश्रय एवं अधिष्ठान है। यह लोकसंस्थान उसी अरूप का रूपायन है। उसमें जो अनुस्यूत है, वह अनिर्वचनीय है। तब भी लोग उसे जानना चाहते हैं और जानते भी हैं। परवर्ती मंत्रों में सन्धा भाषा के माध्यम से उसी विज्ञान का विवरण दिया गया है। जिसमें वह[3] आकाश, सूर्य एवं काल के रूप में विख्यात है। आकाश रूप में वह सत् एवं तत् है, सूर्य रूप में बीजप्रद पिता है एवं काल रूप में इस विसृष्टि की परम्परा अथवा विचित्र रूपों में शक्ति के निर्झरण की धारा है।[4] सब मिलाकर वह एक अनिर्वचनीय रहस्य है।

---

निषद में यम के धाम में नचिकेता का त्रिरात्रवास)। उस समय वाक् एक वर्ष की बालिका के रूप में गन्धर्वों को भुलावा देकर सोम का उद्धार किया। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार कद्रु यह पृथिवी है और सुपर्णी उसी द्युलोक में है (६।१।६।१)। ऐतरेय ब्राह्मण में पृथिवी को सर्पराज्ञी (५।२३, बतलाया गया है, जिसकी व्याख्या है, 'इयं हि सर्पतो राज्ञी' अर्थात सर्प शब्द को संचरणशील अर्थ में लिया गया है। सीधे सर्प कहने में भी कोई आपत्ति नहीं)। कद्रु के साथ पृथिवी एवं सर्प का सम्बन्ध वह एक ही इंगित वहन करता है : कद्रु पृथिवी में कुण्डलित महाशक्ति (ऋक्‌संहिता की भाषा में 'अस्य [= आदित्यस्य] प्राणाद् अपानती' सर्पराज्ञी सूक्त १०।१८९।२। योग में अपान निःश्वास वायु है जो ऊपर उठते प्राण को मूलाधार में खींच ले आता है, तु. आदिपुरुष की नाभि से अपान, अपान से मृत्यु ऐउ. १।१।४ 'मृत्यु' अर्थात मिट्टी हो जाना, 'मृत' एवं 'मृत्यु' के मूल में एक ही धातु है)। 'कद्रु' की व्युत्पत्ति के लिए तु. 'कन्द' GK. Kondos, 'कन्दुक' GK. Kondulos। त्रिकद्रुक के भीतर से इन्द्र के सोमपान और सोम के उड़ने के साथ तुलनीय तीन ग्रन्थि भेद। [2] सात छन्द : चौबीस अक्षर का गायत्री छन्द, उसके बाद क्रमशः चार-चार अक्षर बढ़ाकर उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप एवं जगती (द्र. १०।१३०।४,५)। किन्तु पंक्ति के स्थान पर यहाँ विराट् है। ऋक्‌संहिता में बीस अक्षर का एक छन्द है 'द्विपदा विराट्'; इस दो विराट् को मिलाकर अक्षर संख्या पंक्ति के समान होती है। ऋक्‌संहिता में सात छन्दों के देवता क्रमशः अग्नि, सविता, सोम, बृहस्पति, मित्रावरुण, इन्द्र एवं विश्वदेव हैं। गायत्री अग्नि का छन्द है अतएव आध्यात्मिक दृष्टि से अभीप्सा का वाहन है। उसी प्रकार त्रिष्टुप वृत्रघाती इन्द्र के शौर्य का। [4] तु. 'यमं पश्यासि वरुणं च देवम्' — ऐसा हो कि तुम देवता यम एवं वरुण को देख सको, उनका दर्शन प्राप्त कर सको (१०।१४।७); यमो ददात्य् अवसानम् अस्मै (९। तु. वा स. ३५।१)।

[१२६०] द्र: छा. ६।२।१-२ ; क. १।३।१ ; तु. उद्दालक की विकल्पना : आदि में सत या कि असत ? (छा. ६।२।१-२)। समझना होगा कि ज्वार में असत् और भाटे में सत् अर्थात आरोहण में असत और अवरोहण में सत् ; असत में प्रलय, सत में विसृष्टि। ईक्षण (छा. ६।२।३) सत का ही सम्भव एवं वही उद्दालक का प्रतिपाद्य है। तु. गी. ॐ तत सद इति निर्देशो ब्रह्मणः...स्मृत: १७।२३। उसके बाद ही व्याख्या करते हुए कहा जा रहा है कि 'ओम' ब्रह्मवादियों के यज्ञ, दान और तप का प्रवर्तक है; वह क्रिया ही जब मोक्ष के आकांक्षी फलाभिसन्धिशून्य होकर करते हैं तब 'तत्' का व्यवहार; प्रशस्त कर्म में 'सत्' का प्रयोग। वैदिक साहित्य में इदम्, एतत् और तत् ये तीनों सर्वनाम साधारणत: क्रमानुसार जगत, आत्मा एवं विश्वोत्तीर्ण या विश्वातीत को लक्ष्य करते हैं (तु. क. 'एतद् वै तत्' यही एक टेक बार-बार प्रयुक्त २।१,२ वल्ली)।

[१२६१] अचिकित्वाञ्च चिकितुषश् चिद अत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान् वि यस् तस्तम्भ षल्. इमा रजांस्य् अजस्य रूपे किमे अपि स्विद् एकम् १।१६४।६। [1] उपनिषद की भाषा में अजत्व = असम्भूति अथवा विनाश (ई., १२-१४)। असम्भूति, सम्भूति की प्रतिकूल दिशा में वही 'पूर्णम् अप्रवर्ति है (छा. ३।१२।९; बृ. २।१।५; कौ. ४।६) जो आकाशरूप में स्तब्ध है; किन्तु इस आकाश से ही फिर नाम, रूप का निर्वाह हो रहा है (छा. ८।१४।१)। प्रतिकूल

'एको देव:' इस पर्याय के मंत्र की आलोचना करते समय हमने आत्रेय श्रुतविद के एक मंत्र का उल्लेख किया है [१२८२]। उसके पूर्व के मंत्र में है: [1] 'ऋत के द्वारा ढँका हुआ है ध्रुव ऋत तुम दोनों का (वहाँ, हे मित्र हे वरुण), जहाँ सूर्य के अश्वों को विमुक्त करते हैं (देवतागण)। दश शत या सहस्र (किरणें) एक साथ स्थिर हैं। देवताओं के आश्चर्यों में उस एक श्रेष्ठ (आश्चर्य) को देखा मैंने।' ... यह स्पष्टत: सूर्यास्त का वर्णन है। उपनिषद की भाषा में [2] सूर्य की किरणें तब प्रती मधुनाड़ियाँ हैं जो अमृतरस से पूर्ण हैं। इस अमृत को आदित्यगण वरुण के मुख से पीते हैं। उस समय सूर्य का रूप कृष्ण-वर्ण होता है। इस रहस्योक्ति का तात्पर्य पहले भी बतलाया गया है। सूर्यास्त मृत्यु का रूपक है। [3] अविद्वान के लिए वह अन्धकार है। किन्तु विद्वान के लिए वह वैवस्वत दीप्ति से उद्भासित है। [4] यह दीप्ति मृत्युकालीन आत्मसंहरण जनित एक पुंजद्युति है जिसे संहिता की भाषा में उस समय सूर्य [5] की हजार किरणों के केन्द्रित होकर स्थिर हो जाने जैसा कहा गया है। उस समय आपाततः देवताओं ने चेतना की किरणों को शिथिल कर दिया है। इसलिए मुमूर्षु तब बहि:संज्ञ नहीं बल्कि अन्त:संज्ञ है - क्योंकि उसके वाक्, प्राण एवं मन क्रमशः जिस तेज में एवं तेज जिस परमदेवता में समापन्न अथवा उपसंहृत होता है, उसे वह जानता है। वह जानना ही देव-दर्शन के सभी आश्चर्यों का श्रेष्ठ आश्चर्य है। क्योंकि यह प्रपंचोपशम मृत्यु के भीतर से अमृतवर्ण का दर्शन है। इस वैवस्वत मृत्यु अथवा वारुणी रात्रि का रहस्यमय अनुभव समाधि में अथवा योगनिद्रा में भी हो सकता है। [6] उस समय जीवन्मुक्त [7] विनाश के भीतर से होकर मृत्यु को पार कर सम्भूति द्वारा अमृत का अनुभव प्राप्त करते हैं। असम्भूति एवं सम्भूति का सम्प्रयोग या सम्मिलन ही अद्वैतानुभव की परम कोटि है, वही 'एकं तत्' है, जिसमें मित्र की हिरण्यदीप्ति द्वारा वारुणी चेतना की महाशून्यता आच्छादित है। [8]

उसके बाद आथर्वण बृहद्दिव का एक मंत्र है। जिन्होंने इन्द्र के साथ सायुज्य बोध से उद्दीप्त होकर स्वयं को इन्द्र रूप में घोषित किया था [१२८३] ऋषि

धारा में चेतना के प्रलय में वही 'विनाश'। संहिता यह वही असत् है, जो सत् का जनक है ऋ. १०।७२।२, ३, १२९।४। इसी प्रसंग में तु. असच्च सच्च परमे व्योमन् १०।५।७; तो फिर 'तत्' यही परमव्योम है, मंत्र में उल्लिखित वृषभ धेनु की युगनद्धता (वही) तु. टीका १२८। [2] तु १।१६४।१०, ७।८७।५, २।१३।१०, ३।५६।२, ६।४७।३, १०।१४।१६। [3] क्रमानुसार द्र. ७, ८, ११-१४। [4] तु. 'अस्य वामस्य निहितं पदं वे:' - यह प्रिय पक्षी का गोपन पद है १।१६४।७। प्रिय पक्षी आदित्य, जिसकी शुक्लभाति को हम देख पाते हैं; उसका गोपन पद पर: कृष्ण नीलिमा है।

[१२८२] [1] ऋतेन ऋतम् अपिहितं ध्रुवं वां सूर्यस्य यत्र विमुञ्चन्त्य अश्वान् दश शता सह तस्थुस् तद् एकं देवानां श्रेष्ठं वपुषाम् अपश्यम् ५।६२।१। [2] द्र. छा. मधुविद्या ३।१, ८। [3] द्र. छा. ८।६।५, ६। [4] द्र. बृ. ४।४।२। [5] द्र. छा. ६।१५। [6] तु. मर्मज्ञों या रहस्यविदों की दसवीं दशा (वैष्णव) हाल (सूफ़ी) तारी, सातोरी (ज़ेन ZEN)। [7] ई. १४। [8] यही है ऋत के द्वारा ऋत का आच्छादन। तु. हिरण्मय पात्र द्वारा सत्यधर्म का आच्छादन ई. १५। द्र. ऋतेन ऋतं धरुणं धारयन्त यज्ञस्य शाके परमे व्योमन्' — ऋत के द्वारा सर्वाधार ऋत को धारण किया उन्होंने यज्ञ की शक्ति से परम व्योम में ५।१५।२। यज्ञ की शक्ति यजमान को उसी परमव्योम में ले जाती है जहाँ मित्र का ऋत है जिससे विश्व भुवन की विसृष्टि होती है और जो असम्भूति रूप में उसका अधिष्ठान है, वह वरुण का ऋत है। यजमान, मित्र की व्यक्त ज्योति से वरुण की अव्यक्त ज्योति की ओर चरम संज्ञान द्वारा परम असंज्ञान का अनुभव करते हैं।

[१२८३] ऋ. एवा महान् बृहद्दिवो अथर्वाऽवोचत् स्वां तन्वम् इन्द्रम् एव १०।१२०।९। [1] तद् इद् आस भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस् त्वेषनृम्णः, सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रून् अनु यं विश्वे मदन्त्य ऊमा: १०।१२०।१। [2] आ दर्षते शवसा सप्त दानून् ६। [3] शम्बरं

एक इन्द्र सूक्त के आरम्भ में ही कहते हैं ; [1] 'वही तत् स्वरूप ही सारे भुवन में ज्येष्ठ है जिससे वज्रतेजा दीप्तवीर्य (इन्द्र) ने जन्म लिया। जन्म के बाद ही उसने शत्रुओं को धराशायी कर दिया और उसके लिए आनन्द में मतवाले हो गए उसके अनुचर।'... ऋक् संहिता में इन्द्र का प्राधान्य सुस्पष्ट है। किन्तु वहाँ विशेष रूप से उनके 'क्रतु' या प्रज्ञावीर्य का रूप प्रस्फुटित हुआ है। वृत्रवध या अविद्या का आवरण हटाना उनकी मुख्य भूमिका है। इस सूक्त में ही ऋषि कहते हैं, [2] 'अपने प्राणोच्छ्वास (शवसा) से सात दानवों (दानून्) को वे विकीर्ण करते हैं।' वस्तुतः एक दानु — [3] स्वयं वृत्र, [4] वृत्रमाता है। सात दानु उसकी ही विभूति हैं। सप्तसिन्धु अथवा दिव्य [5] प्राण की सात धाराओं को अवरुद्ध करना उनका काम है। उस समय मनुष्य 'सप्तवध्रि' होता है अर्थात सात प्राणों के रहते हुए भी निष्प्राण जैसा होता है। यही अवरोध तोड़कर प्राण को मुक्तधारा में प्रवाहित करते हैं इन्द्र। तब धारा शतग्रन्थि भेदकर अदृश्य गति से ऊपर की ओर बहने लगती है। किन्तु जहाँ धारा का अन्त है अथवा जो शक्ति धारा को ऊपर की ओर बहा ले जाती है, उसका — उस वही अनिर्वचनीय तत् स्वरूप है जो निखिल ब्रह्माण्ड से परे है।... देवता यहाँ जन्य हैं, उनका जनक वही परम अद्वैत है जिसकी संज्ञा 'तत्' है। [1264]।

ऋक्संहिता के दो विश्वकर्म सूक्तों में इसी तत् स्वरूप का उसकी उपाधि एवं विभूति के साथ जुड़ा हुआ परिचय प्राप्त होता है। दोनों सूक्त ही समग्र रूप से प्रणिधान की अपेक्षा रखते हैं। यहाँ हम द्वितीय सूक्त के दो मंत्रों का उल्लेख करते हैं : [1265] 'विश्वकर्मा का विचित्र मन, अनन्य है उसकी व्याप्ति ; (विश्व का) वह धाता एवं विधाता है, इसके अतिरिक्त वह ही परम सम्यक् दर्शन ; विश्व भुवन की सारी एषणाओं को चरितार्थ करने में मत्त हैं (वहाँ) जहाँ (धीर) कहते हैं उसी एक की बात जो सप्तर्षि के उस

पर्वतेषु क्षियन्तं... ओजायमानम् अहिं दानुं शयानम् २।१२।११। द्रष्टव्य. दानु पर्वतवासी एक अहि एवं 'शयान'। पर्वत ऊबड़-खाबड़ लहरीले पहाड़ (तु. निरुक्त. गिरि और पर्वत का भेद : गिरिः पर्वतः समुद्गीर्णो भवति, पर्ववान् पर्वतः १।२० ; गिरि सीधा खड़ा ऊपर उठ जाता है, उसके शिखर पर देवताओं का अधिष्ठान, तु. 'गिरिष्ठाः' 'गिरिक्षित्' विष्णु, 'गिरिशन्त' शिव) उसकी गुफाओं में वृत्र का वास (तु. वलस्य... बिलम् १।११।५ ; अपां बिलम् अपिहितं [वृत्रेण] ३२।११)। उन सब गह्वरों या गुफाओं में जो सोया रहता है (तु. योगशास्त्र का 'आशय' अथवा अवचेतना में शयान (सोया हुआ) अविद्या का संस्कार, आधुनिक मनस्तत्व या मनोविज्ञान का COMPLEX (मनोग्रन्थि))। उस आशय को तोड़ देने से ही अवरुद्ध प्राण मुक्त होकर सप्तसिन्धु की उच्छल धारा में प्रवाहित होता है और प्रज्ञा मुक्त होकर आर्य ज्योति की सप्त रश्मि में व्याप्त होती है (द्र. २।११।१८, १२।१२)। [4] 'वृत्रमाता', तु. वेदान्त दर्शन की मूला विद्या (द्र. १।३२।८, तु. १०, ११; इन्द्र के वज्र-प्रहार से वृत्रमाता की प्राणशक्ति ही पराजित हुई और वृत्र दीर्घतमिस्रा में लुढ़क गया)। [5] तु. 'एता अर्षन्ति हृद्यात् समुद्राच्छतव्रजा रिपुणा नावचक्षे, घृतस्य धारा अभिचाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्य आसाम्' — ये (नाड़ियों में संचरणशील प्राण धाराएँ) तीव्र गति से प्रवाहित हो रही हैं हृद्य समुद्र से शतग्रन्थि के भीतर से होकर ; रिपु उन्हें देख नहीं पाता ; मैं ज्योति की धाराओं की ओर देख रहा हूँ ; एक हिरण्मय वेतस उनके भीतर ४।५८।५। 'वेतस' नली : सोमप्रवाहिणी सुषुम्ना नाड़ी का प्रतीक (तु. छा. ८।६।६। तु. शौ. यो वेतसं हिरण्ययं तिष्ठन्तं सलिले वेद, स वै गुह्यः प्रजापतिः १०।७।४१)।
[1264] इस प्रसंग में तु. उपनिषद् में इन्द्र और ब्रह्म का सम्बन्ध : ऐ. एवं कौषीतकि में इन्द्र ही परमदेवता अथवा ब्रह्म (ऐ. १।४।१३-१४, कौ. ३।१)। किन्तु केनोपनिषद् एवं तैत्तिरीय में इन्द्र के ऊपर ब्रह्म (के. ४।३; तै. २।८)। बृहद्दिव के दर्शन में हम दोनों भावनाओं का समन्वय देखते हैं। (१०।१२०।५ एवं १)।
[1265] विश्वकर्मा विमना आद् विहाया धाता विधाता परमोत संदृक्, तेषाम् इष्टानि सम्

पार है।[1]... अधिभूत दृष्टि में सप्तर्षि यहाँ प्रसिद्ध नक्षत्र मण्डल हैं। सप्तर्षि मण्डल आवर्तित होता है किन्तु जिस ध्रुव में वह विधृत है, वह स्थिर रहता है। यही भाव अगले एक मंत्र में भी है। इसी ध्रुव को 'एक सत्' कहा जा सकता है, जिससे [2]'सप्त आपः' अथवा 'धाम' प्रसृत हुए हैं। समष्टि में वे इन समस्त धामों के 'धाता' हैं एवं व्यष्टि में अर्थात विचित्र रूपायण में वे विधाता हैं। इस रूपायन का साधन उनका मन है, जिसका ऐश्वर्य असीम है।[3] इसके अतिरिक्त अपनी आत्म-विभूति के वैचित्र्य को उन्होंने एक होकर 'आवृत' कर रखा है। इस सम्भूति में जब हम रूप-रूप में उनका प्रतिरूप देखते हैं तब उनका यह दर्शन अर्थात यह दर्शन या देखना ऊपर से नीचे की ओर ध्यान पूर्वक देखना है।[4] किन्तु उनका एक और दर्शन है जो परम अथवा सर्वोत्तम दर्शन या देखना है जिसमें उनकी सर्वातीत अनिर्वचनीयता का परिचय मिलता है। यह दर्शन ही उनका 'परमा संदृक' – अर्थात सब के ऊपर वह ऐसा देखना है जिसके परे या ऊपर और कुछ भी नहीं। यहाँ ही उन्हें खोजने और पाने का भी अन्त है।[5] 'एक' यहाँ वही 'तत्' है, जिसमें सत् एवं विभूति विधृत हैं।[2]

इस सूक्त का ही एक और मंत्र है: [1266] 'उस प्रथम भ्रूण को धारण किया अप् ने, जिसके भीतर विश्वदेवगण संगत हुए; अज की नाभि में अर्पित हुआ एक, जिसमें अवस्थित है विश्वभुवन, समस्त ब्रह्माण्ड।' यही प्रथम गर्भ या भ्रूण हुआ हिरण्यगर्भ।[1] इसके पूर्व के मंत्र में उसके सम्बन्ध में प्रश्न उठा है कि [2]'द्युलोक से परे, इस पृथिवी से परे, देवताओं और असुरों से परे जो है, वह कौन प्रथम भ्रूण, जिसे सभी अप् धारण करेंगी, जिसके भीतर विश्वदेवों ने एक दूसरे को देखा?' इस मंत्र में उसका उत्तर है। दोनों

इमा भदन्ति यत्रा सप्त ऋषीन् पर एकम् आहुः १०।८२।२। [1] यही पुराण में ध्रुव के आख्यान में विस्तार से वर्णित है (द्र. भा. ४।८-९; उपाख्यान के सभी नाम व्यंजनावह हैं – 'प्रियव्रत' धार्मिक, 'उत्तानपाद' योगी; उत्तानपाद की एक रानी 'सुरुचि' सुन्दरी, उसका पुत्र 'उत्तम'; किन्तु दूसरी रानी 'सुनीति', उसका ही पुत्र 'ध्रुव')। [2] ऋ. 'सप्त आपः' ८।९६।१, १०।१०४।८ (सिन्धु रूप में १।३२।१२, ३५।८, १०२।२, २।१२।३, १२, ४।२८।१, ८।२४।२७, ९।६६।६, १०।४३।३...); 'सप्त धाम' १।२२।१६, ४।७।५, ९।१०२।२, १०।१२२।३। [3] तु. कामस् तद् अग्रे समवर्तताधि 'मनसो रेतः प्रथमं' यद् आसीत १०।१२९।४; ब्रह्म की प्रिया 'मानसी' कौ. १।२। [4] द्र. १०।९०।१, ८१।२, प्रथमच्छद् अवरॉं आ विवेश।। [5] तु. 'न संदृशे तिष्ठति रूपम् अस्य न चक्षुषा पश्यति कश् चनैनम्' क. २।३।९, श्वे. ४।२०।

[1266] ऋ. त इद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे, अजस्य नाभाव् अध्य् एकम् अर्पितम् यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः १०।८२।६। [1] द्र. हिरण्यगर्भ सूक्त १०।१२१। सूक्त के आरम्भ में ही है – 'हिरण्यगर्भः सम् अवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिर् एक आसीत्।' हिरण्यगर्भ ही सब को आच्छादित करके वर्तमान, विद्यमान थे सब से पहले, जात (उत्पन्न) होकर भूत अथवा सृष्टि के स्थूल उपादान के पति या ईश्वर हुए। लक्षणीय, वे 'जात' होते हैं अर्थात भूत अथवा जड़ के भीतर प्रादुर्भूत होते हैं (तु. क. २।१।७), किन्तु उसके बाद ही भूत के ईशान होते हैं। यह ही चैतन्य का स्वधर्म है। इसे सहज भाव से स्वीकार कर लेने पर आधुनिक दर्शन में जड़वाद और चिद्वाद का द्वन्द्व समाप्त हो जाता है। प्राकृत दृष्टि में पहले जड़, उसके बाद उसमें चैतन्य का आविर्भाव होता है। किन्तु आविर्भूत चैतन्य की सार्थकता जड़ का प्रशास्ता होने में ही है। इस प्रशासन में चैतन्य का जो उन्मेष होता है, उसके अन्तिम पर्व में चैतन्य ही प्रागभावी या पूर्वसिद्ध अथवा पूर्ववर्ती अनुभूत होता है। इस रूप में वैदिक दर्शन में जड़ और चैतन्य का द्वैत

मंत्रों को मिलाकर तत्त्व-विन्यास कुछ इस प्रकार प्राप्त होता है : सब से परे जो स्थित हैं, वे अज हैं, उनका जन्म नहीं होता। उपनिषद् की भाषा में उनकी संज्ञा 'असम्भूति' है।[२] उनको 'अस्ति' अथवा वे हैं यह भी कहा जा सकता है। अथच वे ही सब की सम्भूति हैं।[४] उनकी 'नाभि' या शक्ति-कूट जहाँ है, वहाँ ही हैं 'एकम्' अथवा 'एकं सत्' — जिस प्रकार चक्र की शलाकाएँ (तीलियाँ) उसकी नाभि में आकर संहत होती है, उसी प्रकार वे 'अर्पित' अथवा संहत रूप में हैं। यही 'एकं सत्' विसृष्टि अथवा शक्ति के निर्झरण के मूल में है।[५] विसृष्टि प्रत्येक लोक में होती है — जिसका एक छोर द्युलोक है और दूसरा छोर भूलोक है। उस समय विश्वभुवन में देवासुर अथवा आलोक और अन्धकार का युद्ध चलता है। सृष्टि से असुरों को अलग नहीं किया जा सकता किन्तु तब भी देवताओं का ही पारम्य या (परमता) (ABSOLUTENESS) है, असुरों का नहीं। सारे देवता उसी प्रथम भ्रूण अथवा हिरण्यगर्भ की ही विभूति हैं जो विसृष्टि के आरम्भ में उसके साथ संगत हैं एवं उसकी चेतना द्वारा सचेतन हैं। देवतामय इस 'एकं सत्' का आधार है 'एकं तत्', जो अज है किन्तु अशक्त नहीं है।[६] अप् अथवा अव्याकृत कारण सलिल उसकी शक्ति है। सत् से विश्वदेवता एवं विश्वभुवन का 'विसर्जन' अथवा विसृष्टि उसी शक्ति का प्रवहण या बहाव है।[८] यह परम सत्ता ही हम सब की अन्तर्यामी है। इसी प्रकार एक अनिर्वचनीय तत्स्वरूप से सत्ता एवं चेतना का प्रवाह स्थूल सृष्टि के उपादानों में उतर आया है।

उसके बाद वैश्वामित्र प्रजापति का एक मंत्र है : [१२८८] 'छह भार को (वह) एक अचल स्थायी होकर वहन कर रहा है; ऋत के तुंगतम निर्झर की ओर जा रहे हैं गोयूथ; तीन महाभूमि एक के बाद एक स्थित हैं सब का अतिक्रमण करके; दो गुहाहित हैं, एक दिखाई देती है।'... ये छह 'भार' छह लोक या महाभूमि हैं,[१] जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। अनेक की भीड़ या मेला वहन करने के कारण इन को 'भार' कहा जाता है।[२] फिर इस अनेक को

समाप्त कर दिया है। समग्र सूक्त ही द्रष्टव्य। २ परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिर् असुरैर् यद् अस्ति, कं स्विद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे १०। ३ नामान्तर : उपनिषद् में 'विनाश', 'असंज्ञा', 'परः कृष्णता'; ब्राह्मण में वारुणी रात्रि; संहिता में वरुण का 'शून' (शून्यता) मार्तण्ड', 'असत्'। ४ सब का अतिक्रमण करने पर और क्या रहता है किन्तु कुछ तो जैसे रहता ही है — 'परो यद् अस्ति' का यही तात्पर्य है। ५ तु. असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्न् इमानि' — अनालोकित एवं आलोकित रजः प्रतिष्ठित होने के बाद उन्होंने रूप दिया स्थूल सृष्टि के उपादानों का १०।८२।४। असूर्त = असूर्य (< 'स्वर्' आलोक, तु. असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ई. ३) एक ओर अन्ध तमः या घोर अन्धकार, दूसरी ओर सौरदीप्ति, दोनों के बीच 'रजः' की अरुणिमा। सांख्य का त्रिगुणवाद इसी से। यह रजः ही संहिता में लोक अथवा भूत का आश्रयस्थल है। ६ तु. गौरीर् मिमाय 'सलिलानि' तक्षती १।१६४।४१ (और भी तु. सृष्टि के आरम्भ में 'अप्रकेतं' सलिलं एवं उसके भीतर 'तपः'शक्ति १०।१२९।३; १९०।१)। ७ तु. अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेन १०।१२९।६। ८ तु. अन्यद् युष्माकम् अन्तरं बभूव — अन्य कोई तुम लोगों के अन्तर स्थित है १०।८२।७।

[१२८८] ऋ. षड् भाराँ एको अचरन् बिभर्त्य् ऋतं वर्षिष्ठम् उप गाव आगुः, तिस्रो महीर् उपरास् तस्थुर् अत्या गुहा द्वे निहिते दर्श्य् एका ३।५६।२। पदपाठ में 'अत्याः' घोड़ियाँ; Geldner द्वारा प्रस्तावित पदविच्छेद 'अति आ' (अतिक्रमण करना, पार होना) विवेच्य : वेंकट माधव की व्याख्या 'गमनस्वभावाः' — गति ऊपर की ओर; सायण की व्याख्या 'आगमापायिधर्मोपेताः' गुहाहिति के साथ मेल नहीं। माधव एवं सायण ने 'एक' के अर्थ में आदित्यात्मक संवत्सर और 'छह' के अर्थ में छह ऋतु समझा है। किन्तु भार को भूमि के

वही एक वहन करता है। इनका परिणाम है, ये गतिशील हैं; किन्तु वह अपरिणामी है, अचल है। छह लोक उसकी ही विसृष्टि हैं—[३]आदित्य मण्डल से झरती हुई किरण-रेखाओं की तरह। उससे उत्सारित होकर वे फिर उसमें ही वापस आ जाते हैं। यह ज्वार-भाटा ही विश्वव्यापी ऋत का छन्द है, जिसका उत्स वही परम एक है जिसके भीतर समस्त गतियाँ स्तब्ध, अचल, अटल हैं। हमारी अभीप्सा ऊर्ध्वस्रोता है, जो लोक से लोकोत्तर की ओर प्रवाहित हो रही है। उसके ही प्रवेग अथवा प्रवाह में हमें अपार्थिव लोकका आभास मिलता है। इन तीन पृथिवियों से परे अन्य तीन द्युलोकों का चिन्मय कल्पन या अनुमान उद्दीप्त होता है। अग्र्या बुद्धि के आलोक में उसके एक को हम पुंजद्युति आदित्य की प्रभास्वरता[४] में देख सकते हैं। किन्तु उसके बाद फिर दृष्टि जाती नहीं। तब भी बोध रहता है। वह बोध अनालोक की ज्योति और [५]वारुणी रात्रि की अन्तरावृत्त अथवा अन्तर्मुख चक्षुओं की कनीनिका जैसा है। उसमें खिलती है [६]राका की ज्योति और फिर उससे भी परे कुहू की अव्यक्त ज्योति की झलक है। उसके भी ऊपर 'परमं तद् एकम्' है जो इन सब का भर्ता है, प्रतिपालक है। इस प्रकार लोक-संस्थान के क्रम को पार करके हमने उसी तत्स्वरूप का परिचय प्राप्त किया जो एक ही साथ विश्वातीत एवं विश्वभावन अथवा विश्वस्रष्टा है, विश्वमूर्ति है।

सब के अन्त में वैश्वामित्र प्रजापति के एक वैश्वदेव सूक्त की टेक में पाते हैं [१२६८] कि 'देवताओं का महत् जो असुरत्व वह एक ही है।' Geldner ने लक्ष्य किया कि यह पूरा सूक्त सन्ध्या भाषा में रचित है।[१] प्रायशः देवता अनिरुक्त या अस्पष्ट है।[२] विशिष्ट देवतागण उसी अनिरुक्त की विभूति हैं। जिस किसी भी देवता को लेकर भावना जब ऊर्ध्वस्रोतस् हुआ करती है तब अन्त में जाकर वह 'असुरत्व' की महिमा में पहुँचती है, जो स्वरूपतः अद्वय है, अद्वितीय है। यह असुरत्व क्या है, उसका विस्तृत विवेचन आगे चलकर करेंगे। यहाँ संक्षेप में इतना ही बतलाना है कि ऋक्-संहिता में असुर प्रधानतः देवता की संज्ञा है। वहाँ विशेष रूप से असुर वरुण है जिसे हमने शून्यता के देवता के रूप में पाया है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से असुर प्राणोच्छलता का और शक्ति के विकिरण का बोधक है किन्तु उसके मूल में अनिरुक्त की व्यंजना सुस्पष्ट है। तो फिर देवताओं का असुरत्व उनकी मौलिक अनिर्वचनीयता की वह महिमा है जहाँ वे सभी एक हैं। यह असुरत्व उसी 'एकं तत्' को द्योतित करता है।

---

अर्थ में ग्रहण करने पर ही पूर्वापर संगति बैठती है। छह भूमि का उल्लेख संहिता में और भी है। अधिदैवत दृष्टि में 'एक' आदित्य निश्चय ही है। अचर आदित्य उदय-अस्त रहित (द्र. छा. ३।११।१-२)। [१]द्र. टीका १२५[२]। [२]'भ्रियते एष इति भारः' (सायण)। भूमियाँ भूतग्राम अथवा विशिष्ट सत्तासमूह को वहन करती हैं और भूमियों को वहन (बिभर्ति) करता है वही एक। किन्तु 'भारान् बिभर्ति' इस पदगुच्छ को धात्वर्थक कर्म के उदाहरणरूप में भी लिया जा सकता है। [३]गावः रश्मियाँ (निघ. १।५); 'वर्षिष्ठं ऋतम्', अन्यत्र 'ऋतस्य सदनम्', 'ऋतस्य योनिः'; 'वर्षिष्ठ' तुंगतम, किन्तु √वृष से व्युत्पत्ति मान लेने पर निर्झरण की व्यंजना है (तु. 'वर्ष्म' सिर के ऊपर का आकाश जहाँ वृष्टि होती है; वर्षिष्ठं धाम श्वे. परि ४।२१।१५)। [४]तु. क. १।३।१२। प्रथम दर्शन आदित्य का वे 'महः' अथवा चतुर्थी व्याहृति हैं (तै. १।५।२)। [५]दिन के बाद रात, संज्ञान के बाद असंज्ञान। किन्तु वहीं 'रात्री व्यख्यत्' — आँख खोलकर देखा १०।१२७।१। [६]द्र. नि. ११।३०, ३१। 'राका' उत्तरा पौर्णमासी (ऋ. २।३२।४, ५; < √रा 'दान करना' उसमें ऐश्वर्य की पूर्णता; अतएव देवीपक्ष के अन्त में लक्ष्मी पूर्णिमा)। 'कुहू' उत्तरा अमावस्या। ‖ 'कुहर'; यही नक्षत्रलोक; ऋ. संहिता में उसकी जगह है 'गुंगूः' (२।३२।८), अर्थ निर्वाक् (तु. हिन्दी गूँगा < फ़ारसी 'गुंग')। ऋ. संहिता में भी देखते हैं 'गुंगू-सिनीवाली' अमावस्या में, और 'राका-सरस्वती' पूर्णिमा में; तु. सप्तशती के आरम्भ में रात्रिसूक्त (अन्धकार) और अन्त में वाक्सूक्त (आलोक)। ऋ. संहिता में 'गुंगू' एक जनपद का नाम (१०।४८।८)।

[१२६८] ऋ. महद् देवानाम् असुरत्वम् एकम् ३।५५। [१]Der Rigveda, सूक्त भूमिका।

इस पर्याय के मंत्रों का विवेचन यहीं समाप्त हुआ।

यहाँ हमने देखा कि वैदिक भावना में देवता एक है। विश्व भाव रूप में वह सत् है एवं विश्वातीत रूप में तत् है। उसका 'तत्' स्वरूप असत् कल्प है। इस असत् का संकर्षण अधिक मात्रा में प्रबल होने पर जिस अनुभव का बोध होता है, उसका परिचय हमें ऋक् संहिता के नासदीय सूक्त में प्राप्त होता है। उसके आरम्भ में ही कहा जा रहा है [१२७८] कि 'न असत् था न सत् था तब, न था कोई भी लोक (रजः), न था व्योम (कहते हैं) जिसे।' ... यहाँ चेतना की धारा ऊपर की ओर प्रवाहित हो रही है। छः 'रजः' अथवा महाभूमि वह पार कर गई।[1] लोक संस्थान समाप्त हुआ। यदि है तो केवल[2] परम व्योम की अक्षर शून्यता है, वही असत् कल्प अनिर्वचनीयता है। एक और धक्के में वह भी नहीं रही। ...[3] सत् भी नहीं असत् भी नहीं। रात नहीं, दिन नहीं। मृत्यु नहीं, अमृत नहीं। अन्धकार को भी निगूहित या प्रच्छादित कर रखा है एक अन्धकार ने। गहन गाम्भीर्य का अनुभव — वह क्या है? किसने उसे जाना है या फिर उसके बारे में कौन बताएगा? प्रचेतना नहीं, अथच जल के स्रोत की तरह न जाने क्या बहता, सरकता जा रहा है। बातास नहीं, किन्तु आत्मस्थ उस एक ने जैसे साँस ली है। तब भी बोध होता है कि परम व्योम है। लगता है, वहाँ कोई एकटक कुछ देख रहा है। किन्तु जानता है क्या, अथवा जानता नहीं? कहाँ से क्या आया? उसने कुछ किया था कि नहीं किया? ... अद्वैत भावना की परम कोटि लगता है, एक लोकोत्तर नीहारिका की अन्धतमिस्रा में खो गई। पता चला कि सारा जानना जब खत्म हो जाता है तब वही जानना ही परम जानना है एवं परम उपलब्धि है।[4] उसी प्रकार केवल वे मर्मज्ञ कवि ही उपलब्ध कर सकते हैं — जिनकी एषणा मन के ऊपर की ओर जाकर सूक्ष्म रूप से शुरु हुई थी एवं जिसका पर्यवसान हृदय में हुआ। वहीं उन्होंने देखा कि असत् के वृन्त में सत् का फूल खिला हुआ है। इतना ही जाना जा सकता है या फिर कहा जा सकता है। लगता है कि अद्वैत भावना के परम रहस्य को ऐसा रूप विश्व में कोई नहीं दे सकता।[१२८०]।

वैदिक अद्वैतवाद के स्वरूप एवं प्रकृति के सम्बन्ध में आपाततः मोटे तौर पर एक विवेचन यहाँ समाप्त हुआ। हमने देखा कि सेमिटिक एकदेववाद के मानक या आदर्श के माध्यम से वैदिक अद्वैतवाद का विवेचन करने की कोशिश करना एक सांघातिक भूल है। क्योंकि दोनों की प्रकृति आरम्भ से ही नितान्त भिन्न है। एक, अनेक को छोड़कर चलता है और दूसरा अनेक को लेकर ही चलता है। एक केवल आन्तर प्रत्यक्ष के ऊपर ज़ोर देता है और दूसरा बाह्य प्रत्यक्ष को भी उसके साथ मिला लेता है। वैदिक परमदेवता केवल विश्व का धाता नहीं बल्कि वह ही विश्वरूप है, और फिर अरूप भी है; देवता की भावना में उसका सायुज्य प्राप्त करके मनुष्य भी देवता हो सकता है। ये दो भावनाएँ ही वेद में असाधारण हैं, विलक्षण हैं। दार्शनिक चिन्तन में उसका परिणाम क्या हुआ, उसका विवेचन आगे चलकर करेंगे।

---

२ अनिरुक्त देवता 'ब्राह्मण में प्रजापति' (ऐब्रा. २।३०, ६।२०; 'कः' ६।२९।

[१२७८] ऋ. ना सद् आसीन् नो सद् आसीत् तदानीं, ना सीद् रजो नो व्योमा परो यत् १०।१२९।१
१ तु. १।१६४।६। २ तु. १।१६४।२९। ३ मूल द्रष्टव्य। मनन में सहायक होगा, इसी आशा में यहाँ एक स्वतंत्र अनुवाद दिया गया। ४ सतो बन्धुम् असति निर् अविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा १०।१२९।४।

[१२८०] इसके साथ अनुध्येय १०।१२ जिसमें असत् से सत् का उल्लास पाते हैं, अथच असत् तब भी उससे जुड़ा है द्र. १०।५।६।

## देवताओं की संख्या तैंतीस

देवता जिस प्रकार स्वरूपत: एक, उसी प्रकार विभूति में अनेक हैं। उनकी संख्या कितनी है? इसके सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य के मत का उल्लेख आरम्भ में ही किया गया है जिसमें तैंतीस देवताओं की चर्चा है। ऋक् संहिता में भी हम देखते हैं कि अनेक स्थलों पर देवताओं की संख्या तैंतीस दी गई है [१२८१]। उसमें कहीं-कहीं तैंतीस को तीन[1] बराबर-बराबर भागों में विभाजित किया गया है और उनका स्थान क्रमश: पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक है। फिर देखते हैं कि कोई विशिष्ट देवता इन तैंतीस देवताओं का नेता है;[2] तब वे स्पष्टत: 'एक' की विभूति हैं अथवा 'एक' के ही विचित्र या विशिष्ट रूप हैं और नायक देवता इस विभूति की उपलब्धि का साधन है। एक मंत्र में बतलाया जा रहा है कि तीन हजार तीन सौ तीस एवं नौ देवताओं ने अग्नि की परिचर्या की थी।[3] तो अग्नि ही यहाँ[4] एकदेव है एवं तीन हजार तीन सौ उनतालीस देवता उसकी ही विभूति हैं। नौ के तीन भाग करने पर संख्या का विन्यास तीन, तीन सौ तीन एवं तीन दश तीन होता है। पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक इन तीन लोकों के कारण जान पड़ता है कि प्रधान देवता तीन हैं। उसके बाद उनकी विभूति को उत्तरोत्तर तीन बार दश से गुणा करते हुए[5] क्रमश: प्राण, मन एवं विज्ञान की भूमि पर ऐश्वर्य के क्रमबद्ध वैचित्र्य को समझाया गया है। उससे यही सूचित होता है कि वस्तुत: देवता एक ही है[6] किन्तु चेतना के विभिन्न स्तरों पर उसकी विविध व्यंजनाएँ हैं।

इसके अतिरिक्त देवता वाक् की विभूति हैं, मंत्र ही देवता का शरीर [१२८२] है। मंत्र छन्दोमय हैं। अतएव छन्दों की अक्षर संख्या के साथ एक मेल रहेगा।

---

[१२८१] तु. ऋ. पत्नीवतस् त्रिंशतं त्रींश्च देवान् ३।६।९ (सारे देवता ही पत्नीवान अर्थात सशक्तिक हैं) ८।२८।१, ३०।२...। १ त्रय एकादशास: ८।५७।२, ९।९२।४। तीन भाग के अनुसार देवता दिव्य, अप्य (अप् से उत्पन्न) एवं पार्थिव ७।३५।११, 'ये देवासो दिव्य एकादश स्थ पृथिव्याम् अध्य् एकादश स्थ, अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ' १।१३९।११, १०।४९।२, ६५।९। २ तु. अग्ने ... तान् ... त्रयस्त्रिंशतम् आ वह १।४५।२ (इसके ऊपर ही है : त्वम् अग्ने वसूँर् इह रुद्राँ आदित्याँ उत यजा ... जनं मनुजातम्। लक्षणीय देवता 'मनुजात' अर्थात् दिव्य मन से उत्पन्न; यही मन 'मनसो रेत: प्रथमं यद् आसीत' १०।१२९।४। मनु हम सब के आदिपिता १।८०।१६; पुराण में स्वायम्भुव प्रजापति); अग्नि: त्रीँर् एकादशाँ इह यक्षं ८।३९।९; त्रिभिर् देवैस् त्रिंशता ... एकादशै: ... सोमं पिबतम् अश्विना ३५।३ (अग्नि जिस प्रकार पृथिवीस्थानी देवताओं के आदि उसी प्रकार द्युस्थानी देवताओं के अश्विद्वय); अहं (वाक्) रुद्रेभिर् वसुभिश् चराम्य अहम् आदित्यैर् उत विश्वदेवै: १०।१२५।१। ३ त्रीणि शता त्री सहस्राण्य् अग्निं त्रिंशच् च देवा नव चा सपर्यन् ३।९।९ (= १०।५२।६, यहाँ अग्नि की संज्ञा सौचीक, जल के भीतर स्वयं को छिपा रखा है, सारे देवता उसे खोज कर बाहर निकालते हैं)। ४ मूल में है 'विश्वा अपश्यद् बहुधा ते अग्ने जातवेदस् तन्वो देव एक:' — हे जातवेदा, अग्नि! तुम्हारे समस्त तनु को अनेक प्रकार से देखा है उसी एकदेव ने (१०।५१।१)। अग्नि ने तब प्रश्न किया कि वह एकदेव कौन है? (२)। देवताओं के प्रधान वरुण ने कहा, 'त्वं त्वा यमो अचिकेच् चित्रभानो दशान्तरुष्याद् अति रोचमानम्' — हे चित्रभानु, वह तुम ही हो, जिसे यम दश अन्तर्गत स्थानों से देख सके हैं, जब तुम खूब झिलमिला रहे थे (३) सायण के कथनानुसार, पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, अग्नि, वायु, आदित्य, अप्, ओषधि, वनस्पति एवं प्राणी-शरीर, इन दश स्थानों में अग्नि गुप्त रूप में वास करते हैं अर्थात वे विश्वव्यापी हैं। अन्यत्र बतलाया जा रहा है कि वे 'पदे परमे' हैं अर्थात परम व्योम में हैं (१।७२।४)। अतएव यम या वैवस्वत मृत्यु के अतिरिक्त कौन उनका दर्शन कर सकेगा? अग्नि में चेतना की सूचना या संकेत के कारण वे सौचीक, वे विश्वान्तर्यामी हैं, देवतागण उन्हें ही खोज रहे हैं इसलिए वे एकदेव। सूचना का पर्यवसान वैवस्वत मृत्यु में या यम में, अत: वे भी एकदेव। अर्थात 'एक सत' एक ओर अग्नि और दूसरी ओर यम (तु. १।१६४।४६) हैं। प्राण के बोध के लिए 'दश' (तु. बृ. ३।९।४), शतायु, शतवीर्य शतेन्द्रिय पुरुष का बोधक 'शत' (ऐब्रा ६।२); और परम, भूमा अथवा सब के बोध लिए 'सहस्र' (ता. २६।९।२; श. ३।३।३।८; श. ४।६।१।१५)। ६ तु. यो देवानां नामधा एक एव १०।८२।३।

यह मानकर ब्राह्मण में तैंतीस संख्या की व्याख्या की गई है। वेद के तीन प्रधान छन्द हैं — गायत्री, त्रिष्टुप एवं जगती। उनके प्रत्येक चरण में अक्षर-संख्या क्रमशः आठ, ग्यारह एवं बारह होती है। जिससे वसुगण, रुद्रगण एवं आदित्य गण की भी क्रमानुसार संख्या प्राप्त होती है। देवताओं की कुल संख्या इकतीस प्राप्त हुई। अन्य दो देवताओं के कोष्ठक में इन्हें रखने से देवताओं की संख्या तैंतीस होती है। ब्राह्मण में वही किया गया है। किन्तु कोष्ठक के देवता सर्वत्र एक नहीं हैं। कहीं वे द्यावा-पृथिवी, कहीं इन्द्र-प्रजापति, कहीं वषट्कार-प्रजापति हैं।[1] जहाँ द्यावा-पृथिवी का कोष्ठक है वहाँ प्रजापति चतुस्त्रिंश (चौंतीसवाँ) है।[2]

आदित्य, रुद्र एवं वसुओं के तीनों गण और द्यावा-पृथिवी को मिलाकर देवता तैंतीस हुए, यह भावना अत्यन्त प्राचीन है, जिसका उल्लेख ऋक्-संहिता में भी है। इन तीन गणों का उल्लेख एक साथ अनेक स्थलों पर पाया जाता है [१२८३] आरम्भ में आदित्य सात थे जिन्हें[1] उपनिषद् की भाषा में सद्ब्रह्म कहा जाता है। और मार्तण्ड अथवा असद् ब्रह्म को लेकर वे आठ हुए। वस्तुतः ये सभी सूर्य हैं। सूर्य एक[2] 'द्वादशार' चक्र है अथवा वे 'द्वादशाकृति' पिता हैं। अर अथवा आकृति मास हैं। उससे द्वादश आदित्य। यह संख्या काल की दृष्टि से और पहले की संख्या भाव की दृष्टि से मेल खाती है। ब्राह्मण में अधिज्योतिष भावना को प्रधानता देकर 'संवत्सरः प्रजापतिः'[3] कहा जाता है। उसके द्वादश भागों को द्वादश आदित्य के नाम से जाना जाता है। आदित्य गण की संख्या का मूल यही है।... मरुद्गण अन्तरिक्ष स्थानी देवता हैं एवं[4] वे 'रुद्रिय' अथवा रुद्रपुत्र हैं। जहाँ 'अप्सुक्षित' (दिव्य जलनिवासी) ग्यारह देवताओं की चर्चा है वहाँ वे[5] ग्यारह रुद्र हो सकते हैं। तो फिर संहिता में भी रुद्रगण की संख्या की सूचना प्राप्त होती है।... किन्तु वसुगण की संख्या को लेकर भ्रम उत्पन्न होता है। ये यदि पृथिवीस्थानी देवता अथवा अग्नि की विभूति हों तो फिर अग्नि के छन्द गायत्री के प्रत्येक चरण की अक्षर संख्या से उनकी संख्या आठ हो सकती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी यही संख्या दी गई है। किन्तु ऋक् संहिता में तैंतीस को जहाँ समान रूप से तीन भागों में विभाजित किया गया है, वहाँ पृथ्वी स्थानी देवताओं की संख्या ग्यारह होती है। तो फिर यह संख्या कैसे प्राप्त की जाए? संहिता में देखा जाता है कि इन्द्र वसुगण के नेता[6] हैं अर्थात वे भी उनके एक गण अथवा 'वासव' हैं। बारह आदित्यों में से इन्द्र को निकाल देने पर उनकी संख्या

---

[१२८२] तु. वाक्सूक्त १०।१२५; 'वाग् वै विराट्' श. ३।५।१।३४, 'वाग् वै प्रजापतिः' ५।१।५।६ (७।६।३।२७), 'वाग् एव देवाः' १४।४।३।१३; द्र. टीका ६८। [1] द्यावा-पृथिवी : श. ४।५।७।२, ५।१।२।१३, ३।४।२२ (गण का उल्लेख है; इन्द्र-प्रजापति : श. ११।६।३।५ (यह बृ. के अनुरूप ३।९।१... ; तु. तैब्रा. २।८।८।१०); वषट्कार-प्रजापति : ऐब्रा. १।१०, २।१८, ३७। विराट् छन्द के तैंतीस अक्षरों के बराबर रख कर देवताओं की संख्या तैंतीस ऐब्रा. १।१०, २।३७। देवता तैंतीस किन्तु नाम नहीं : ऐब्रा ६।२; ता. ४।४।११, १०।१।१६, १२।१३।२४, १७।१।१७..., तैब्रा. १।२।२।५, ८।७।१, २।७।१।३, ४। ऐब्रा. के अनुसार सोमपा देवता तैंतीस हैं किन्तु जो देवता असोमपा हैं उनकी भी संख्या तैंतीस है; उनकी तृप्ति पशु से होती है जिन्हें प्रयाज, अनुयाज एवं उपयाज देवता कहा जाता है, इनमें प्रत्येक की संख्या ग्यारह है (२।१८)। [2] द्र. श. ४।५।७।२; ता. १०।१।१६, १२।१३।२४; तैब्रा. १।८।७।१, २।७।१।४...।

[१२८३] ऋ. आदित्या रुद्रा वसवः सुनीथा द्यावाक्षामा पृथिवी अन्तरिक्षम् ३।८।८। 'द्यावाक्षामा' द्यावापृथिवी रूप में देवता; उसके बाद देवताओं के लोक का उल्लेख। तीन लोकों में द्युलोक अनुमेय, 'द्यावाक्षामा' से उसकी अनुवृत्ति या अनुवर्तन मानना होगा। तीन गण : १।४५।१, २।३१।१, ३।२०।५, ७।१०।४, ३५।६, १४, ८।३५।१, १०।६६।३, ४, १२, १२५।१, १२८।९, १५०।१...। [1] २।२७।१, देवा आदित्या ये सप्त ९।११४।३; अष्टौ पुत्रासो अदितेः ... सप्तभिः पुत्रैर् अदितिर् उप प्रैत् पूर्व्यं युगम्, प्रजायै मृत्यवे त्वत् पुनर् मार्ताण्डम् आभरत् १०।७२।८, ९। [2] तु. १।१६४।११, १२।

उनकी संख्या ग्यारह होती है। और द्यावा-पृथिवी एवं इन्द्र को वसुगण के साथ जोड़ देने पर उनकी संख्या भी ग्यारह होती है। प्रारम्भ में इस प्रकार की एक परिकल्पना की वर्तमानता असम्भव नहीं। विशेषतः जब हम ब्राह्मणोक्त गण और संख्या का विभाजन संहिता में ही पाते हैं।[4] बृहदारण्यकोपनिषद् में देवता विभाग ब्राह्मण के अनुरूप है, इसके अलावा वहाँ गण विभाग की एक व्याख्या भी प्राप्त होती है। वसुगण वहाँ आधार शक्ति है जिसमें 'इदं सर्वं हितम्' — यह सब निहित है। इस शक्ति का एक पक्ष लोक और दूसरा पक्ष लोकपाल है। पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः और नक्षत्र ये चार लोक हैं एवं क्रमानुसार अग्नि, वायु, आदित्य और सोम ये चार लोकपाल हैं। दोनों को लेकर आठ वसु हुए। दश प्राण एवं आत्मा को लेकर एकादश रुद्र। और द्वादश मास द्वादश आदित्य अथवा कालचक्र। सब से परे इन्द्र प्रजापति।[8]

इन्द्र का एक विशेषण 'शतक्रतु' है। उसके साथ तैंतीस संख्या का एक सम्बन्ध है। 'शम' को आवृत करने के कारण इन्द्र विरोधी वृत्र का नाम 'शम्बर' है। आधार में उसके निन्नानबे पुर हैं। पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक अथवा देहचेतना, प्राणचेतना और मनश्चेतना — चेतना की इन तीन भूमियों की प्रत्येक भूमि पर आवरिका शक्ति के तैंतीस पुर हैं। विष्णु अथवा आदित्य-चेतना की सहायता से इन्द्र इस तैंतीस के तीनगुने अथवा निन्नानबे पुरों को भेद कर जब शततम पुर 'शम' में पहुँचते हैं, तब वे शतक्रतु कहलाते हैं [१२८४]। प्रत्येक पुर को विदीर्ण करके प्रकाश प्रस्फुटित करना इन्द्र का एक क्रतु है। इन निन्नानबे पुरों का उल्लेख ऋक्संहिता के सभी मण्डलों में है।[1] अतएव यह भावना अत्यन्त प्राचीन है।

तो फिर स्पष्ट है कि वैदिक भावना में देवता जिस प्रकार एक है, उसी प्रकार अनेक भी है। इस बहुदेवता को साधना के सौकर्य या सुसाध्यता के लिए तैंतीस तक नीचे ले आया जा सकता है। इस संख्या को तो और भी कम किया जा सकता है, वह हम याज्ञवल्क्य की व्याख्या में ही देखते हैं।

बहुदेवता जब एक की ही विभूति हैं तब उनमें विरोध की कोई संभावना नहीं [१२८५]। इसे समझाने के लिए संहिता में उनका एक सार्थक विशेषण है 'सजोषसः'[1] — अर्थात् जिनकी तृप्ति एवं आनन्द बराबर-बराबर है। वे सभी एक स्थान पर आकर मिलते हैं, उनके उस मिलन स्थान की पारिभाषिक संज्ञा[2] 'सधस्थ' है। देवताओं में इस सौषम्य की भावना से वैदिक देववाद में एक वैशिष्ट्य यह दिखाई देता है कि कई प्रधान देवताओं के नाम से एक साथ आहुति

3 ऐ. ३।१, २।१८; ता. १०।३।६; श. ११।५।४।१२, २।५।२।३-५ (यज्ञः प्रजापतिः); तै. १।४।१०।१०। 4 ५।५८।८, आदित्या वसवो रुद्रियासः ६।६२।८, ७।५६।२२ ...। 5 १।१२७।११। 6 इन्द्र नो अग्ने वसुभिः रुद्रं रुद्रेभिर् आ वहा बृहन्तम् आदित्येभिर् अदितिं विश्वजन्याम् ७।१०।४, शं न इन्द्रो वसुभिर् देवो अस्तु ३५।६, इन्द्रो वसुभिः परिपातु नो गयम् १०।६६।३।[7] द्र. ३।९८ ...। 8 ३।७।२-६। मूल में सोम की जगह चन्द्रमा है, किन्तु वे आदित्य के ऊपर हैं अतएव संहिता का सोम (तु. देवा आदित्या ये सप्त तेभिः सोमाभि रक्ष नः १०।११४।३)।

[१२८४] तु. ऋ. इन्द्राविष्णू दृंहिताः शम्बरस्य नव पुरो नवतिं च श्नथिष्टम् ७।९९।५। 1 द्र. १।५४।६, २।१९।६, ३।१२।६ (छन्द की अक्षरसंख्या के आग्रह के कारण 'नव' छोड़ दिया गया है), ४।२६।३, ५।२९।६, ६।४७।२, ७।१९।५, ८।९३।२, ९।६१।१, १०।१०४।८ ...। अन्त के ऋक् में निन्नानबे स्रोतों ने अवरुद्ध होकर उतने ही पुरों की रचना की।

[१२८५] विरोध के कई उल्लेख ऋक्संहिता में हैं: इन्द्र के साथ त्वष्टा का (१।८०।१४, ३।४८, ४), उसके पिता का (४।१८।१२) एवं उषा का (२।१५।६, ४।३०।८-११, १०।७३।६, १३८।५)। समस्या या घटना स्पष्टतः रहस्यमय है, तात्पर्य आगे चलकर आलोच्य। 1 तु. विश्वे सजोषसो देवासः १।१३१।१ (१३६।४, ५।२१।३, ८।२३।१८, ५४।३, ९।५।११, १८।३, १०२।५), सजोषसो यज्ञम् अवन्तु देवाः (३३देव) ३।८।८, सजोषसो अध्वरं वावशानाः २०।१, १४२।३, २।३१।२। 'जोष' < √जुष (तृप्ति के साथ आस्वादन करना); तु. Lat. gustare 'to taste enjoy', Goth. Kustus 'taste'; Germ. Kosten 'to taste', try', < Ar. base * geus 'taste, choose')।

दी जाती है और एक साथ उनका आवाहन एवं स्तवन किया जाता है। जिसे यास्क ने संस्तव की संज्ञा दी है। युग्म देवता की दोनों संज्ञाएँ कभी-कभी एक प्रकार के द्वन्द्व समास में गुँथी होती हैं। जिसकी संज्ञा है [3]देवताद्वन्द्व। यास्क ने इन सब युग्म देवताओं की एक तालिका दी है। उनका कथन है कि पृथिवी स्थान अग्नि, अन्तरिक्ष स्थान इन्द्र अथवा वायु और द्युस्थान सूर्य- ये तीन प्रधान देवता हैं।... जिस प्रकार अग्नि के संस्तविक देवता इन्द्र, सोम, वरुण, पर्जन्य एवं ऋतुगण हैं उसी प्रकार इन्द्र के संस्तविक देवता अग्नि, सोम, वरुण, पूषा, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, पर्वत, कुत्स एवं वायु हैं। चन्द्रमा, वायु एवं संवत्सर के साथ आदित्य का संस्तव होता है। फिर मित्र-वरुण, सोम-पूषा, सोम-रुद्र, पर्जन्य-वात – इनका भी संस्तव पाया जाता है।[4] यास्क के उल्लेख के बाहर भी युग्म देवता हैं, जैसे द्यावा-पृथिवी, 'उषसानक्ता', अग्नि-मरुत्, इन्द्र-मरुत् इत्यादि।

भावना एवं साधना की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है देवताओं का यह साहचर्य। एक ही चैतन्य के विविध रूपों में विच्छुरित होने से बहु देवता की सृष्टि; एक में पहुँचने के लिए इन चिद्-वृत्तियों अथवा चेतना की धाराओं के साक्षात परिणाम का एक सुषम समाहार प्रयोजनीय है। इसी से युग्म देवता का कल्पन या अनुमान आवश्यक है। जिस प्रकार हमारे दैहिक आधार में अभीप्सा की ऊर्ध्वशिखा के रूप में अग्नि पृथिवी में और ज्योतिर्मय आनन्द चेतना के रूप में सोम द्युलोक में है। इस अभीप्सा को उसी आनन्द में पहुँचना होगा जिसका संकेत 'अग्नीषोम' के इस प्रत्याहार में है [१२८६]। उसी प्रकार 'अग्नि-सूर्य' एक प्रत्याहार है जो व्यक्ति चेतना को विश्वचेतना में व्याप्त करने का संकेत वहन करता है।[1] 'मित्रावरुण' की युग्मता एक अनन्तता की चेतना के अव्यक्त एवं व्यक्त दो युग्म रूप इत्यादि का बोधक है। देवताओं के पृथक विवेचन के समय उनके सहचार की चर्चा भी आगे चलकर करेंगे।

---

<सध [2] (सह, एकत्र + √स्था (रहना) + अ अधिकरण में, सभी जहाँ एक साथ रहते हैं ('सधस्थे सहस्थाने' नि. ३।१५)। अतएव मौलिक अर्थ 'मण्डल' जहाँ अनेक रश्मियों अथवा शक्ति का समागम। उससे 'धाम, सदन (१०।११।८); आधार'। इस धाम में पुंज-भाव की व्यंजना है। देवतागण जब 'सजोषस:'; तब एक जन जहाँ है वहाँ अन्य सभी हैं। चित् शक्ति समूह का यह अन्योन्याश्रय एवं सायुज्य वैदिक देववाद का वैशिष्ट्य है। तंत्र और पुराण में भी एक मूल देवता से सम्बन्धित आवरण अथवा परिवार देवताओं का समावेश देखने में आता है। इस देश के मूर्तिशिल्प में भी उसका निदर्शन मिलता है – चित्राधार समेत, तभी एक प्रतिमा पूर्णांग होती है। यही सधस्थ का भाव है। अध्यात्म दृष्टि से अनेक विकीर्ण भावनाओं का समाहार जिस बिन्दु पर होता है, वही सधस्थ है। अतएव देह के चितकेन्द्र अथवा चक्र भी सधस्थ हो सकते हैं। आध्यात्मिक सोमयाग में सोम की धारा ऊपर की ओर बहते समय एक-एक सधस्थ में विश्राम करती हुई विपुल, बृहत द्युलोक की शून्यता में उत्तीर्ण होती है (७।४८।१, १०३।२; तु. ८।७४।५)। तु. सूर्यमण्डल के अर्थ में १।११२।४, ७।६०।२; परम सधस्थ १।१०१।८, १६३।१३, ५।४५।८, १०।१६।१०...। [3] तु. पाणिनि ६।२।४१, ४६, ७।३।२१...। [4] नि. ७।५, ८...।

[१२८६] तु. ऋ. 'आन्यं दिवो मातरिश्वा जभारामथ्नाद् अन्यं परि श्येनो अद्रेः, अग्नीषोमा ब्रह्मणा वावृधानोरुं यज्ञाय चक्रथुर् उ लोकम्' — एक जन को (अग्नि को) मातरिश्वा ने आहरण किया द्युलोक से और एक जन (सोम को) श्येन ने मन्थन करके बाहर निकाला पाषाण से; बृहत् की चेतना में संवर्द्धित होकर अग्नि और सोम ने रचे विशाल लोक (१।९३।६)। अग्निमन्थन यहाँ किया जाता है और सोम का आहरण वहाँ से किया जाता है – यही साधारण रीति है। एक में आयास है और दूसरे में आवेश है। यहाँ दोनों का विपरीत क्रम दिखाया जा रहा है कि आयास के मूल में भी आवेश है और आवेश का सहचर भी है आयास। 'उरुलोक' परम व्योम, जहाँ उत्तीर्ण होना ही यज्ञ का लक्ष्य है।

युग्म देवता के बाद संहिता में कईएक देवगण हैं। यास्क ने पृथिवी के देवगण का उल्लेख नहीं किया [१२८७] उनके मतानुसार अन्तरिक्ष में मरुत, रुद्र, ऋभु, अंगिरा, पितृ एवं आप्त्यों के गण हैं; और द्युलोक में आदित्य, सप्तर्षि, वसु, वाजी, साध्य, विश्वदेव एवं देवपत्नियों के गण हैं।[1] विश्वदेव गण में सभी देवताओं का समाहार है। ऐसी स्थिति में देवताओं के स्थानभेद की बात नहीं उठती, क्योंकि तब वे सभी द्युस्थान अथवा दिव्य हैं; वे[2] 'ज्योति की सृष्टि करते हैं, आर्जवसाधना की प्रचेतना उनकी ही है, वे केवल बढ़ते ही चलते हैं, जानते हैं सब, वे अमृत एवं ऋत के द्वारा संवर्द्धित हैं, इन्द्र उनमें ज्येष्ठ हैं।' भूलोक, अन्तरिक्ष, द्युलोक सब चिन्मय हैं — यह अनुभव ही संहिता के वैश्वदेव सूक्तों में अभिव्यक्त हुआ है। अनेक से एकमेंजाकर उस एक के अनुभव को पुनः अनेक में वापस आकर त्रिभुवन यास्वर्ग, पृथ्वी और पाताल में सर्वत्र प्राप्त करना- अर्थात इस देवताति अथवा देवात्मभाव एवं सर्वताति अथवा सर्वात्मभाव में ही वैदिक अद्वैतोपलब्धि का सार्थक पर्यवसान है। [१२८८]

---

१ तु. अग्निः शुक्रेण शोचिषा (अरोचत) बृहत् सूरो अरोचत दिवि सूर्यो अरोचत, ८।५६।५। आधार में पुरुष अग्नि रूप में और वहाँ पुरुष सूर्यरूप में; दोनों ही एक (तु. तैउ. २।८, ई० १६)। अग्नि-सूर्य = अग्नि-विष्णु। सोमयाग के आरम्भ में ही दीक्षणीया इष्टि। उसमें अग्नि-विष्णु के उद्देश्य से एकादशकपाल पुरोडाश देना होता है। इस प्रसंग में ऐब्रा. का मन्तव्य: 'अग्निर् वै देवानाम् अवमो, विष्णुः परमः, तद् अन्तरेण सर्वा अन्या देवताः ... अग्निर् वै सर्वा देवता, विष्णुः सर्वा देवताः (१।१)। अग्निहोत्री के सायंकालीन मंत्र के देवता अग्नि हैं और प्रातःकालीन मंत्र के देवता सूर्य हैं। एक में चेतना का संहरण है और एक में प्रसारण।

[१२८७] यास्क के मतानुसार पृथिवीस्थान देवता एक मात्र अग्नि; जातवेदाः, वैश्वानर इत्यादि अग्नि की संज्ञाएँ हैं। इस प्रसंग में ही उन्होंने आप्री देवगण का उल्लेख किया है। शाकपूणि के मत के अनुसार ये सब अग्नि। संहिता का आप्रीसूक्तोद्दिष्ट अनुष्ठान अतिप्राचीन, देवताओं की संख्या और क्रम निर्दिष्ट। इन आप्री-देवताओं को पृथ्वीस्थानी देवगण के रूप में गिनती करना क्या यास्क का अभिप्रे[त] द्र. नि. ८।१४, २०, २१; ८।४...। १ ११।१४..., १२।३५...। वाजी = अश्व, सूर्यरश्मि। सोमयाग के तृतीय सवन में पत्नीसंयाज में देवपत्नियों का यजन होता है, इस कारण से वे आदित्यभाक् अतएव द्युस्थान (दुर्ग)। यास्क ने देवपत्नीगण का उल्लेख करके ही अपना दैवतकाण्ड और निरुक्त समाप्त किया है। तृतीय सवन में सोमयाग की भी परिसमाप्ति। चेतना तब विश्वदेवमय। उसके ही भीतर देवपत्नी अथवा देवात्मशक्ति (तु. श्वे. १।३; तैंतीस देवता सब के सब पत्नीवान् - ऋ. ३।६।९) का आदित्यभास्वर आविर्भाव। २ द्र. देवान् हुवे... ज्योतिष्कृतो अध्वरस्य प्रचेतसः, ये वावृधुः प्रतरं विश्ववेदसः ... १०।६५।१ समस्त सूक्त ही द्रष्टव्य। इसमें सभी प्रकार के देवताओं, यहाँ तक कि 'ऋतं महत् ...' स्वर् बृहत् के रूप में उनकी अमूर्त भावना तक का उल्लेख है। तु. महद् देवानाम् असुरत्वम् एकम् २ ३।५५ सूक्त की टेक।

[१२८८] तु. शब्रा. रश्मयो ह्य अस्य (सूर्यस्य) विश्वे देवाः' ३।९।२।५, १२ (४।३।१।२६), एते वै विश्वे देवा रश्मयोऽथ यत् परं भाः प्रजापतिर् वा स इन्द्रो वा २।३।१।७ (१२।४।४।६), प्राणा वै विश्वे देवाः १४।२।२।३७, सर्वम् इदं विश्वे देवाः ५।५।१।१४ (१।७।४।२२), वैश्वदेवं वै तृतीय सवनम् ३।९।१।१३ ...) अनन्ता विश्वे देवाः १४।६।१।११, 'देवताति', देवात्मभाव, 'सर्वताति', सर्वात्मभाव। १।७।३।१६, ४।४।१।११। द्र. टी. १३३८[1], १३३७।

## ४ · देवताओं का वर्गीकरण

देवताओं की संख्या के सम्बन्ध में स्वभावत: ही उनके वर्गीकरण का प्रश्न उठता है। वेद में बहुदेवताओं की उपासना विक्षिप्त, विकीर्ण अथवा अनिर्यन्त्रित नहीं है, उसका एक सुनिरूपित, सुनिर्दिष्ट लक्ष्य है। वह लक्ष्य अनेक से एक में, तमः से ज्योति में, मृत्यु से अमृत में एवं बन्धन से मुक्ति में चेतना का उत्तरायण है [१२८८]। यहाँ अनेक का मेला है और वहाँ अबन्धना, अपरिमित अमृत ज्योति है। चेतना को, जीवन को एक-एक धाप पार करते हुए वहाँ ही ले जाना होगा। प्रत्येक देवता की ज्योति हम सब की दिशा निर्देशक है।[1] एक-एक धाप एक-एक[2] 'लोक' अथवा 'रोक' है, उपनिषद की भाषा में मनोज्योति की एक-एक भूमि है। सभी लोकों में ही अधिष्ठात्री चेतना के रूप में सारे देवता लोकपाल की तरह हैं।[3] अतएव चेतना के उत्तरायण की ओर दृष्टि रखकर लोक-संस्थान के अनुसार देवताओं का स्वाभाविक वर्गीकरण होगा।

संहिता में मुख्यतया पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्यौ: इन तीन लोकों का उल्लेख है। हमने देखा है कि संहिता में ही तैंतीस देवताओं को समान तीन भागों में विभाजित कर दिया गया है। इस सूत्र को पकड़ कर देवताओं की संख्या को और भी संक्षिप्त करके यास्क ने बतलाया [१२८९] कि निरुक्तकारों के मतानुसार तीन ही देवता हैं — पृथिवी स्थान अग्नि, अन्तरिक्ष स्थान इन्द्र अथवा वायु, और द्युस्थान सूर्य। इसलिए उनके निघन्टु में देवताओं का वर्गीकरण लोकानुसारी है। देवताओं का विविक्त अथवा पृथक्कृत परिचय देने की दिशा में यास्क का अनुसरण करना ही उचित होगा क्योंकि उनके वर्गीकरण में ही उत्तरायण का संकेत है। किन्तु याद रखना होगा

---

[१२८८] उद् वयं तमसस् परि ज्योतिष् पश्यन्त उत्तरं, देवं देवत्रा सूर्यम् अगन्म ज्योतिर् उत्तमम् १।५०।१०, ८।२।६, उद् ईर्ध्वं जीव असुर् न आगाद् अप प्रागात् तम आ ज्योतिर् एति ११३।१६, १२३।६, ज्योतिर् वृणीत तमसो विजानम् ३।३९।७, उर्वारुकम् इव बन्धनान् मृत्योर् मुक्षीय मा-मृतात् ७।५९।१२ ...। [1]तु. दिशारी या दिग् दर्शक अग्नि १।१२८।१, इन्द्र प्र णः पुरएतेव (अग्रणी की तरह) पश्य प्र नो नय प्रतरं वस्यो अच्छ (और भी आलोक की ओर) ६।४७।७, सं पूषन् विदुषा नय यो अञ्जसानुशासति, य एवेदम् इति ब्रवत् (हे पूषा, हमें ऐसे विद्वान से मिलवा दो, जो हमें अनुशासित करेंगे और जो कहेंगे कि "हां, यह यही है"; पूषा में गुरु भाव) ६।५४।१, ८।७१।६, एष ते देव नेता रथस्पतिः शं रयिः (अनिरुक्त देवता, समस्त सूक्त में उनके नाम का उल्लेख नहीं, जिस प्रकार महादेव रुद्र का कभी किसी समय नहीं रहता शा. ब्रा. के अनुसार सविता ३।१।४।१८; वे देहरथ के रथी हैं, एक ही साथ प्रशम एवं प्रवेग) ५।५०।५ ...। तु. आप्री सूक्त का 'देवीर् द्वारः' ज्योति का द्वार; द्वा. का लोक द्वार २।२४। [2]लोक ॥ रोक (तु. रुचयन्त रोकाः ३।६।७; द्र. टी. १२६[3]) <√रुच् दीप्ति देना, चमकना (तु. *Lat.* *lucere* 'to shine'), भूतग्राम का आधार, अध्यात्म दृष्टि में चेतना की भूमि (तु. यत्र ज्योतिर् अजस्रं यस्मिन् लोके स्वर् हितम्, तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित ९।११३।७, लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस् तत्र माम् अमृतम् कृधि ९...। पुरुष सूक्त में विराट पुरुष की देह ही लोक : नाभ्या आसीद् अन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः सम् अवर्तत, पद्भ्यां भूमिर् दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाँ अकल्पयन् १०।९०।१४, संहिता में पर्याय शब्द 'उर्वी', धाम, पद'। 'पृथिवी' अवम (सर्वनिम्न) लोक होकर भी कहीं-कहीं तीन लोक का बोधक है (१।१०८।९, १०; ७।१०४।११)। उसी प्रकार 'रजः' अन्तरिक्ष के अर्थबोध के बावजूद तीन लोक के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ है (उत्तमं रजः ९।२२।५, परमा रजांसि ३।३०।१७, तृतीये रजसि ९।७४।६, १०।४५।३, १२३।८, परमं रजः ७।७७।१ — ये सब अन्तरिक्ष के तृतीय भाग नहीं, वस्तुतः द्युलोक)। संहिता का भुवन लोकवाची नहीं, भूतवाची है : बल्कि जो हो रहा है, वही भुवन। [3]तु. ऐउ. 'स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान् नु सृजा इति १।१।३।

कि देवताओं का लोक निर्दिष्ट होने पर भी वे त्रिलोकसंचारी हैं[1] — जिस प्रकार यहाँ से ऊपर की ओर उठ जाते हैं, उसी प्रकार वहाँ से यहाँ उतर आते हैं।[2] वस्तुतः चैतन्य या चेतना आलोक की तरह है, एक केन्द्र होते हुए भी उसका विच्छुरण या छितराव चारों ओर होता है। इसलिए किसी एक लोक में किसी भी देवता को बाँध कर नहीं रखा जा सकता।

इन तीन लोकों में पृथिवी और द्यौः प्रधान हैं और आदि जनक-जननी के रूप में संहिता में वे एक देवमिथुन या देवयुग्म हैं [१२८१]। पृथिवी 'अवम' अथवा सर्वनिम्न लोक है, द्यौः 'परम' अथवा सर्वोच्च लोक है और दोनों के मध्य में अन्तरिक्ष 'मध्यम' लोक है।[1] लोक यदि चेतना की भूमि हों तो फिर स्वभावतः ही वे ओत-प्रोत हैं। अतएव प्रत्येक लोक को जब फिर विभाजित किया जाए, तब हम तीन पृथिवी, तीन अन्तरिक्ष, एवं तीन द्युलोक पाते हैं।[2] किन्तु संहिता में द्यावापृथिवी का प्राधान्य होने के कारण इस विभाजन को ध्यान में रखकर भी अनेक स्थानों पर छह लोकों की चर्चा की गई है।[3] तीन पृथिवी, एवं तीन द्यौः के मध्य में अन्तरिक्ष सेतु है उससे हम सप्त 'धाम' अथवा 'पद' पाते हैं।[4] उसके बाद वही व्याहृति-प्रतिपादित सप्त लोक हुआ। तीनों लोकों का ही साधारण वैशिष्ट्य है कि वे व्याप्तिधर्मी हैं, अतएव उनके मनन-चिन्तन द्वारा चेतना क्लिष्टता से उबर कर विपुलता में मुक्ति प्राप्त करती है।[5] उनका अध्यात्म प्रतिरूप क्रमशः देह, प्राण एवं मन हैं।[6]

---

[१२८०] नि. ७।५। [1] संहिता की भाषा में 'त्रिषधस्थ' (अग्नि ५।४।८, ६।८।७, १२।२; सोम ८।८४।५; सरस्वती ६।६१।१२; बृहस्पति ४।५०।१; विष्णु १।१५६।५)। और भी तु. 'दिवि देवासो अग्निम अजीजनञ्छ (जन्म दिया) छक्तिभिः ... तम् उ अकृण्वंस त्रेधा भुवे कम् (त्रेधा भावाय पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवी-ति शाकपूणिः नि. ७।२८) १०।८८।१०; फिर वही अग्नि-वायु-सूर्य तु. १०।१५८।१, १।१६४।४४। इन्द्र-अग्नि, तीनों 'पृथिवी' में ही १।१०८।८,१०। [2] ऊपर की ओर जाना और नीचे की ओर उतर आना विशेष रूप से अग्नि और सोम का धर्म है क्योंकि अभीप्सा स्वभावतः ऊर्ध्वशिख होती है एवं देवता के आवेश से आनन्द का निर्झरण होता है। फिर इसका विपरीत क्रम भी है। अग्नि हव्यवाहन के रूप में ऊपर उठ जाते हैं और द्युलोक से देवताओं को लेकर आधार में उतर आते हैं, इसलिए वे 'अन्तर्दूतो रोदसी दस्म ईयते' — अपरूप अथवा अद्भुत भूलोक और द्युलोक के मध्य में दूत हो कर विचरण कर रहे हैं (३।३।२; तु. २।६।७, ४।२।२, ७।८, ७।२।३)। ऊपर की ओर प्रवाहित सोम की धारा: धारा (= धारया) य ऊर्ध्वो अध्वरे ९।८०।२, तृतीयं धाम महिषः सिषासन् (पाने के लिए व्यग्र ९।९६।१८ ... आना या नीचे की ओर: 'यं दिवस परि श्येनो मथायद् इषितस् तिरो रजः' — प्रेरणा पाकर श्येन जिसे द्युलोक से मंथन करके अन्तरिक्ष के भीतर से होकर ले आए (९।७७।२; सोम-श्येन का इतिहास तु. ४।२६।६, ७, ५।४५।९, ९।६८।६, ७७।२, ८६।२४, १०।११।४, १४४।४)।

[१२८१] देवता प्रसंग में विस्तृत आलोचना इसके बाद द्र.। [1] द्र. ऋ. १।१०८।९ (पृथिवी = लोक)। [2] तु. १।३४।८ (पृथिवी), ३५।६ द्यौः १६४।१० (माता और पिता) २।३।२ (द्यौः) २७।८ (भूमि, द्यौः), ३।५६।२ (मही), ४।५३।५ (यहाँ ही तीन 'रजः' = अन्तरिक्ष) ७।८७।५, १०१।४, १०४।११, ८।४१।९ ...। [3] १।१६४।६, २।१३।१०, ३।५६।२, ६।४७।३, १०।१४।१६ ..., इसके अतिरिक्त भी तीन भूलोक और तीन द्युलोक का उल्लेख द्रष्टव्य। [4] धाम: १।२२।१६ (विष्णु), ४।७।५ (अग्नि), ९।१०२।२ (यज्ञ), १०।१२२।३ (अग्नि)। [5] पृथिवी की व्युत्पत्ति प्रथम अथवा विस्तार से (तु. पृथिवीं पप्रथच्च ... इन्द्रः २।१५।२; भूमिं महीम् अपारम् ३।३०।९। अन्तरिक्ष 'उरु' अथवा विशाल, समुद्रवत्। द्युलोक 'अनिबाध'। इन्द्र विष्णु से ऋषि कह रहे हैं, 'अप्रथतं जीवसे नो रजांसि' — लोक समूह को तुम लोगों ने विशाल किया इसलिए कि हम सब

इन तीन लोकों के ऊपर एक और लोक है, जिसका नाम 'स्वः' [१२५२]
है। स्वर का आदिम अर्थ ज्योति है। किसी किसी जगह ज्योति के द्वारा
विशेषित होने से जान पड़ता है कि स्वर एक साधारण संज्ञा है और
प्रकरण के अनुसार उसके अर्थ की भिन्नता का बोध होता है।[1] इस अनुमान
का समर्थन निघण्टु में प्राप्त होता है। वहाँ द्युलोक एवँ आदित्य का साधारण
नाम 'स्वः' है।[2] संहिता में भी हम सूर्य और स्वर को आस-पास पाते हैं।
एक जगह स्वः स्पष्टतः सूर्य ही है — जो पृथिवी को प्रतप्त कर रहा है।[3] द्यु-
लोक के साथ स्वर की अभिन्नता है, और थोड़ा पार्थक्य भी है; वस्तुतः
स्वर 'रोचनं दिवः' — अर्थात द्युलोक की झिलमिलाहट है।[4] इसके अतिरिक्त
उषा से 'स्वर' का जन्म होता है; उस समय स्वः 'आदित्य' अथवा 'ज्योति'
दोनों ही हो सकता है।[5]

सब मिलाकर स्वर के ये तीन अर्थ हैं: साधारणतः 'ज्योति' फिर उस
ज्योति का घनविग्रह 'आदित्य' एवं आदित्य द्वारा प्रकाशित 'द्युलोक'। इन
तीन अर्थों के भीतर आध्यात्मिक चेतना के क्रमिक विकास का एक चित्र
प्राप्त होता है। यही एक ऋक् में इस प्रकार स्पष्ट रूप में व्यक्त हुआ है;
'देखो यह ज्योति, देखो जो है प्रिय, देखो यह जो प्रकाश, देखो यह
विपुल अन्तरिक्ष [१२५३]।' अर्थात ज्योति का प्रस्फुटन हुआ, घनीभूत
होने पर वही आदित्य और उसके बाद विश्वमूल प्राण के स्पन्दन को
उद्भासित किया।

स्वर की इन तीन वृत्तियों के कारण लोक को दृष्टि में रखकर द्युलोक
और स्वर को कहीं-कहीं पृथक किया गया है। [१२५४] शौनक संहिता
के एक सूक्त में यह भाव और भी स्पष्ट है। उसके एक मंत्र जो इस
प्रकार व्यक्त हुआ है, "पृथिवी की सतह से मैं अन्तरिक्ष में उठा, अन्तरिक्ष
से ऊपर उठा द्युलोक में, द्युलोक के उत्तुंग पृष्ठ से स्वर्ज्योति में गया मैं।"[1]

---

जीवित रहें (६।६८।५)। ६ रूपक का आभास पुरुष सूक्त में : पृथिवी उसका चरण, अन्तरिक्ष
नाभि, द्युलोक मूर्धा (१०।९०।१४) इससे चेतना का उत्तरायण सूचित होता है। मन षष्ठेन्द्रिय
नहीं बल्कि मनश्चेतना। यही प्राचीन अर्थ है।
[१२५२] यही तुरीय या चतुर्थ : तु. तुरीयं धाम महिषो (ज्योतिर्विशाल सोम) विवक्ति
९।९६।१९ (उसके पहले ही तृतीय धाम का उल्लेख है) : 'तुरीयादित्य हवनं त इन्द्रियम्
आ तस्थाव अमृतं दिवि' — हे तुरीय आदित्य, तुमको जिस इन्द्र नाम से बुलाया
जाता है वह द्युलोक में अमृत रूप में है ८।५२।७; इन्द्र का 'तुरीयं नाम यज्ञियम्'
८।८०।९; 'तुरीयं स्वित्' — तुरीय कुछ एक १०।६७।१; अवश्य ही तुरीय ज्योति,
तु. 'बृहस्पतिस् तमसि ज्योतिर् इच्छन् उद् उस्रा आ कर् वि हि तिस्र आवः' — तम
के भीतर ज्योति को देखकर बृहस्पति ने उद्दीप्त किया आलोक धेनुओं को, विवृत किया
तीन द्वारों को (१०।६७।४)। यही तुरीय तत्त्व उपनिषद की भाषा में 'विज्ञान', जो
अन्न (देह) प्राण और मन के ऊपर (द्र. तै.उ. २,३ वल्ली)। [1] तु. स्वर् ण ज्योतिः
४।१०।३; आस-पास प्रयुक्त: सना ज्योतिः सना स्वः ९।४।२; ज्योतिर् विश्वं स्वर्दृशे
६१।१८; यत्र ज्योतिर् अजस्रं यस्मिन् लोके स्वर् हितम् ९।११३।७; विदत् मनवे ज्योतिर्
आर्यम १०।४३।४। स्वः॥ सुवः < √सु 'प्रचोदित या प्रेरित करना'; तु. 'सविता', 'सूर्य'
< स्वर् + य, जो चित्शक्ति का उत्स एवं प्रेरक है। यास्क का कथन है 'सु अरणः
सु ईरणः स्वृतो रसान्, स्वृतो भासं ज्योतिषां, स्वृतो भासेति वा' निरुक्त २।१४। [2] निघ.
१।४। [3] ऋ. ६।७२।१; तपन्ति शत्रुं स्वर् ण भूमा (भूमि को) ७।३४।१९। [4] विभ्राजञ् ज्योतिषा
स्वर् अगच्छो रोचनं दिवः ८।९८।३ (= १०।१७०।४)। [5] २।२१।४, ३।६१।४, ५।८०।१।
[१२५३] ऋ. इदं स्वर् इदम् इद् आस वामम् अयं प्रकाश उर्व अन्तरिक्षम् १०।१२४।६
[१२५४] तु. ऋ. १०।१९०।३ यथा पूर्वम् अकल्पयत् दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षम् अथो स्वः

एक बात और ध्यातव्य है कि अप् के साथ स्वर् का सम्बन्ध है [१२५५]। स्वर् ज्योति अथवा चेतना है और अप् प्राण है। तंत्र की भाषा में शिवशक्ति रूप में दोनों अभिन्न हैं। ब्रह्म सूत्र में ब्रह्म के परिचय में यह भाव ही आकाश एवं प्राणरूप में व्यक्त हुआ है। प्रसंगत: स्मरणीय है कि वेद में वारिवर्षण और सूर्योदय अध्यात्म सिद्धि के दो मुख्य रूपक के तौर पर प्रयुक्त हैं। एक अन्तरिक्ष की घटना है और एक द्युलोक की घटना है।

यह स्वर्ज्योति ही वैदिक ऋषियों का परम पुरुषार्थ है। 'गो, अश्व, वसु, हिरण्य सभी हम लोगों को स्वर् की ओर लेकर जा रहे हैं, अर्थात् वहाँ ही सारी कामनाओं का परितर्पण होता है। इस स्वर् को हम पौरुष एवं तप:शक्ति द्वारा प्राप्त कर सकते हैं [१२५६]। लक्ष्य करने योग्य है कि यह स्वर्[१] 'महत्' एवं 'बृहत्' है; इन दोनों विशेषणों में उसकी परमार्थता का संकेत है।

ब्राह्मण एवं उपनिषद में स्वर् एक व्याहृति है। उसे सामान्यत: द्यु-लोक के साथ एक मान लिया गया है। [१२५७]।

स्वर् के उपरान्त एक और लोक का सन्धान प्राप्त होता है जिसका नाम 'नाक' है [१२५८]। निघन्टु में स्वर् की तरह ही 'नाक' आदित्य एवं द्युलोक की साधारण संज्ञा है: यास्क का कथन है कि 'रस की भाँति या दीप्ति एवं ज्योति के "नेता" के रूप में नाक आदित्य है; इसके अलावा 'क' सुख की संज्ञा है, उसका प्रतिषेध 'अक' है और उसके भी प्रतिषेध से नाक द्युलोक का नाम है।'[१] उनकी व्याख्या के अनुसार नाक की दो विशेषताएँ प्राप्त होती हैं जिनमें एक ज्योति है और एक आनन्द है।

---

१०।३ (स्व: यहाँ स्पष्टत: तुरीय धाम)। १ शौ. पृष्ठात् पृथिव्या अहम् अन्तरिक्षम् आ.रुहम् अन्तरिक्षाद् दिवम् आ.रुहम्, दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर् ज्योतिर् अगाम् अहम् ('नाक' यहाँ लोक नहीं, सामान्यत: 'सानु' या शिखर: तु. त्रिनाके त्रिदिवे दिव: ऋ. ९।११३।९) ४।१४।३।

[१२५५] तु. ऋ. स्वर्वतीर् अप: १।१०।८, ५।२।११, ८।४०।१०, ११; ९।६०।२, ७।१२, ८।१५।२, ९।९०।४, १०।१६...। द्र. निघ. स्वर् = अप १।१२।

[illegible]

लोक: स्व: ६।७, श. स्वर् इत्य असौ लोक: ८।७।४।५...।

[१२५८] तु. तंत्र में इन तीन भूमियों के बाद 'तुरीय', उसके भी ऊपर 'तुर्यातीत'; उपनिषद में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय, किन्तु मैं शिवसूत्र में पाते हैं 'त्रिषु चतुर्थं तैलवद् आसेच्यम् (३।२०)। तीनों को छोड़ कर जो तुरीय है वह प्रपंचोपशम (माण्डू. ७); गुह्य शास्त्र में 'विरमानन्द'। फिर तीनों के साथ ही जो तुरीय, वह तुरीय पंचम अवस्था; गुह्य शास्त्र में 'सहजानन्द'। तु. अग्नि चयन की पंचमी चिति में 'नाकसत्' इष्टका (ईंट) का प्रसंग। शब्रा. के अनुसार ये इष्टकाएँ जिन देवताओं के प्रतीक हैं, वे हैं आत्मा, ऋत्विक् यजमान एवं दिक् समूह सभी नाकसत् (८।६।१।१...)। सात चितियों में प्रथम तीनों तीन लोक के प्रतीक — यह प्राकृत दशा है। चतुर्थी चिति यज्ञ — यहाँ से चेतना में उत्तरायण का

ध्यान देने योग्य है कि संहिता में ज्योति के देवता भुवनकान्त वेन एवं आनन्द के देवता सोम का एक ही भाषा में वर्णन किया गया है — 'नाक' में अधिष्ठित गन्धर्व के रूप में।[2] इस बात को यदि आधुनिक भाषा में अनुवाद करके कहा जाए तो नाक को 'चिदानन्दधाम' कहा जा सकता है।

निघण्टु में स्वः एवं नाक पर्यायवाची होने पर भी संहिता में हम देखते हैं कि दोनों अलग हैं [१२५५]। फिर द्यौः केवल ज्योतिर्लोक है और स्वर भी वही है;[1] किन्तु नाक आलोक एवं अन्धकार दोनों का ही आधार है। अतएव नाक को हम उपनिषद् की निरस्ततमा वह शिवभूमि कह सकते हैं जो रात-दिन से ऊपर है। इस दृष्टि से नाक को तारकाखचित[2] रूप में वर्णन करने का एक तात्पर्य है। कठोपनिषद् में पंचाग्नि के वर्णन में हमें पाँच ज्योतिर्लोक की सूचना प्राप्त होती है जिनके नाम हैं — अग्निगर्भा पृथिवी, विद्युद्गर्भ अन्तरिक्ष, सूर्यदीप्त द्युलोक, सोम्य स्वर्लोक एवं तारकाखचित महाशून्य। यह लोक-संस्थान चेतना का जो क्रमिक उत्तरण सूचित करता है, उसमें स्वर्लोक के बाद नाक यानी महाशून्य है किन्तु अनन्तता की द्योतना में चमकता-दमकता। संहिता में उसका वर्णन इस प्रकार है — 'यह नाक चिन्मय शुचिता से दीप्त, उन्मादक, पलायमान मन के भी उस पार; उसकी शुभ्र शुचिता तक पहुँच नहीं पाता कोई, वह लगता है दीप्त पिप्पल जैसा; वहाँ है सोम्य आनन्द की सहस्रधारा'।[2] इसके अतिरिक्त

---

आरम्भ। पंचमी चिति यजमान — यहाँ आत्मप्रतिष्ठा अथवा नाक में आरोहण। षष्ठी चिति स्वर्गलोक — यहीं दिव्य चेतना का विलास। सप्तमी चिति अमृत — जो सर्वोत्तम है, जिसके परे और कुछ भी नहीं (८।७।४, १२-१८)। लोक दृष्टि से चतुर्थी चिति स्वः क्यों, या फिर यज्ञ ही स्वः है (१।१।२।२१)। और तीन चिति नाक की ही त्रिधा मूर्ति। अध्यात्म दृष्टि से अन्त की चार चिति क्रमशः हृद्देश का ऊर्ध्व भाग, ग्रीवा, शिर एवं प्राण (८।७।४।१५-२१)। [1] निघ. १।४; नि. २।१४। तो फिर उपनिषद् की भाषा में स्वः 'विज्ञान' और नाक 'आनन्द'। तु. तैउ. — विज्ञानमय और आनन्दमय पुरुष २।४, ५; विज्ञान ब्रह्म और आनन्द ब्रह्म ३।५, ६; छा. आदित्योत्तर विशोक लोक २।१०।५। [2] तु. ९।८५।१०-१२, १०।१२३।६-८। दोनों सूक्तों के ऋषि 'वेन' भार्गव हैं। द्वितीय सूक्त के देवता 'वेन' (प्रिय, कान्त) अतएव ऋषि का नाम देवता का सायुज्यबोधक है। दोनों सूक्तों में सोम अथवा चित्-आनन्द के मिलन का आभास मिलता है। तु. हठयोग की सूर्यनाड़ी और चन्द्रनाड़ी का मध्य नाड़ी अथवा सुषुम्ना में मिलन।

[१२५५] तु. ऋ. येन द्यौर् उग्रा पृथिवी च दृळ्हा येन स्वः स्तभितं येन नाकः; यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः १०।१२१।५। यहाँ पाँचों लोकों का ही उल्लेख है। निघ. में दिव, स्वः, नाक ये तीनों ही सामान्यतः ज्योतिर्लोक। इस प्रकार की भावना संहिता में भी प्राप्त होती है। वहाँ दिव् की भावना के अन्तर्गत स्वः है; किन्तु नाक अनेक स्थलों पर दिव् से अलग (५।१५।६; अग्नि अथवा सूर्य) 'दिवः स्कम्भः समृतः पाति नाकम्' — द्युलोक के स्तम्भ रूप में संहत होकर नाक की रक्षा करते हैं ४।१३।५, १४।५; 'रोदसी' = द्यावापृथिवी, नाक उससे अलग ७।५८।१, ८६।१; 'दिवो नाकः' इस पदगुच्छ में भी दोनों अलग १।३४।८, 'सहस्रधारे... दिवो नाके' ९।७३।४, ८५।१०। तैब्रा. ते नाक परम व्योम ३।७।६।५। [1] तिरः पृथिवीर् उपरि प्रवा. दिवो नाकं रक्षेथे द्युभिर् अक्तुभिर् हितम्' — (हे अश्विद्वय) तीनों पृथिवी के ऊपर की ओर जाने पर द्युलोक के नाक की रक्षा कर रहे हो तुम दोनों जो संभवतः दिन के प्रकाश में एवं रात के अन्धकार में प्रतिष्ठित है १।३४।८ ('द्युभिर् अक्तुभिः' यही पदगुच्छ अन्य दो स्थलों पर दिन और रात का बोधक है १।११२।२५, ६५।

यह नाक 'ऋष्व' अर्थात् अथवा धी की क्रमसूक्ष्म चेतना में बहुत ऊँचे है ; इसके साथ उसे 'बृहत्' अर्थात् उपचीयमान चेतना की भूमि कहा गया है।[४] लोकोत्तर देवता वरुण माया की समस्त लीला को अपने चरणों की ठोकर से छिटका कर इस नाक पर आरोहण करते हैं।[५] मनुष्य की उत्सर्ग-भावना के तन्तु भी इस प्रत्यन्ततम लक्ष्य तक प्रसारित हुए हैं।[६]

दिव, स्वर और नाक इन तीनों को मिला लेने पर तो संहिता के 'तिस्रो दिवः' अथवा तीन द्युलोक का बोध होता है।[१३००] जिसमें दिव आकाश में विच्छुरित ज्योति है, स्वर उस ज्योति का उत्स पुंजद्युति आदित्य है और नाक आदित्य की पृष्ठभूमि नीलाकाश है। आध्यात्मिक दृष्टि से लोकारूढ़ चेतना पहले व्याप्त होती है, उसके बाद उस व्याप्ति के केन्द्र में एक समूहन अथवा पुंजभाव का सन्धान करती है एवं अन्त में महाशून्य में मिल जाती है।[१] आध्यात्मिक चेतना की इसी स्वाभाविक रीति से दिव्य त्रिलोक की कल्पना की गई; वही दिव्यभूमि से अन्तरिक्ष में एवं पृथिवी में भी उपचरित हुई है कि नहीं, वह विवेच्य है।

पाँच लोकों में आरंभ से ही द्यौः और पृथिवी इन दो को देवता के रूप में पाते हैं। स्वर और नाक द्युलोक के ही विभाव हैं किन्तु वे देवता नहीं हो पाए। उसी प्रकार द्यौः और पृथिवी के मध्य सेतुरूपी अन्तरिक्ष भी देवता नहीं हुआ। इन तीनों की ही गिनती 'लोक' अथवा चेतना की भूमि के रूप में करनी होगी। स्वर और नाक सिद्धि की भूमि है और अन्तरिक्ष साधना की भूमि है। पृथिवी प्रतिष्ठा है और द्युलोक अतिष्ठा है,[१३०१] दोनों ही अक्षुब्ध हैं। साध्य जीवन के सारे घात-प्रतिघात और सारे क्षोभ-विक्षोभ इसी अन्तरिक्ष लोक की घटनाएँ हैं। यहाँ ही आँधी उठती है और वृत्र की माया बादलों के रूप में यहाँ ही द्युलोक के आलोक को आच्छादित करती है, प्राण की धारा को अवरुद्ध करती है।

संहिता में अन्तरिक्ष को 'अप्त्य' अथवा अप से उत्पन्न बतलाया गया है [१३०२]। अतएव अन्तरिक्ष प्राणलोक है। द्युलोक की तरह अन्तरिक्ष के भी तीन भाग हैं। एक तो पृथिवी के बहुत नज़दीक 'वात' अथवा वातास

---

३।३२।१६; किन्तु वेंकटमाधव एवं सायण यहाँ उसे 'हितम' के कर्ता के रूप में ग्रहण करते हैं; 'दिवो नाकः' के अर्थ में उन्होंने "द्युलोक का आदित्य" समझा है; आदित्य की शुक्ल भाति एवं परःकृष्ण नीलिमा का उल्लेख उपनिषद् में है, उसका अन्तर्वर्ती हिरण्मय पुरुष दोनों का धारणकर्त्ता होकर भी दोनों से परे है [तु. संवत्सरः ... अहोरात्राणि विदधत् ... वशी १०।१९०।२] तु. श्वे. ४।१८)। [२] 'वि राय और्णोद् दुरः पुरुक्षुः पिपेश नाकं स्तृभिर् दमूनाः' (अग्नि ने रुद्ध धारा को मुक्त किया ज्योति के द्वार की अर्गला खोलकर, नाक को तारों से जड़ दिया) १।६८।१०; स्तृभिर् न नाकम् ६।४९।१२। [३] तु. तं नाकं चित्रशोचिषं मन्द्रं परो मनीषया ५।१७।२, तं नाकम् ... अगृभीत शोचिषं रुशत् पिप्पलं ५४।१२ (तु. मर्त्यभोग 'स्वादु पिप्पल' १।१६४।२०, २२; दिव्यभोग यही पिप्पल); ८।८३।४। [४] ७।८६।१, ८।५।२। [५] स माया अर्चिना पदा स्तृणान् नाकम् आरुहत् ८।४१।८। [६] पुमान् वि तत्ने (यज्ञम्) अधि नाके अस्मिन् १०।१३०।२। तु. यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त देवास् तानि धर्माणि प्रथमान्य् आसन्, ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः १०।९०।१६। नाक साध्य देवगण का स्थान है जो समस्त देवताओं के पूर्वज हैं; यहाँ से ही उन्होंने विश्वयज्ञ का अनुष्ठान किया था। साध्यगण पंचम अमृत के भोक्ता हैं (छा. ३।१०।१)।

[१३००] संहिता में 'त्रिदिव' (ऋ. ९।११३।९)। [१] संख्य भावना में सिमट आना, उसके बाद फैल जाना (तु. क. १।३।१३)। [१३०१] द्युलोक का सब से परे होने के कारण संहिता में एक और नाम 'परावत्'—दूर से दूरतर है (दुर्ग नि. ११।४८)। [१३०२] तु. ऋ. पूर्वे अर्धे

का संचरणस्थान है।[2] दूसरा यथार्थ मध्यलोक है, यहाँ ही वृत्रवध होता है।[3] वायु वहाँ लोकपाल है। और द्युलोक के उपकंठ में या निकट अन्तरिक्ष का तृतीय भाग है, वहाँ के देवता मरुद्गण एवं इन्द्र हैं।[4] आध्यात्मिक दृष्टि से वायु एवं मरुत एक ही प्राणतत्त्व के क्रमसूक्ष्म परिणाम हैं। अन्तरिक्ष का यह तृतीय भाग दिव्य प्राण की भूमि है; मरुद्गण वहाँ प्रकाश की आँधी, वृत्रहन्ता इन्द्र शत्रुंजय हैं, पूषा की सुनहली नाव वहाँ तिरती रहती है, अग्नि वहाँ पूषा का रूप प्राप्त करता है और यहाँ से परम देवता वरुण सूर्य को मानो जरीब बनाकर पृथिवी की नाप-जोख करते हैं अर्थात उसे 'आवृत' करते हैं अथवा परिव्याप्त करते हैं।[5] अन्तरिक्ष भी व्याप्तिधर्मा है, इसलिए संहिता में उसका एक परिचय 'समुद्र' है।[6] अन्तरिक्ष के प्रसंग में 'उरु' विशेषण का प्रयोग अनेक स्थलों पर किया गया है।[7] वस्तुत: प्राण के आयाम अथवा व्याप्ति से ही दिव्य चेतना का उन्मेष होता है। इसलिए अन्तरिक्ष के निकट ऋषि वसिष्ठ की प्रार्थना है कि वह द्युलोक सम्बन्धी क्लिष्टता से हम लोगों की रक्षा करे।[8] पूर्वी क्षितिज पर सविता का उदय और पश्चिमी क्षितिज पर उसका अस्तमयन होता है। दोनों ही पृथिवी और अन्तरिक्ष के संगमस्थल एवं प्रकाश तथा छाया के राज्य हैं। अत: अन्तरिक्ष को एक स्थल पर 'कृष्णं रज:' कहा गया है।[9] इस अँधेरे के स्पर्श के बावजूद स्वरूपत: अन्तरिक्ष 'वसु' अथवा प्रकाश का आधार है हालांकि उस प्रकाश को प्राण के शौर्य द्वारा छीन लेना पड़ता है।[10]

लोक-परिचय यहाँ समाप्त हुआ। अब पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्यौ: इन तीनों लोकों में से प्रत्येक लोक के देवताओं का क्रमश: अलग-अलग परिचय प्राप्त किया जाए। पहले पृथिवी स्थानीय देवताओं के द्वारा ही विवेचन शुरू किया जाए क्योंकि पार्थिव चेतना का उत्क्रमण तो द्युलोक की ओर है — यही आध्यात्मिक जीवन का प्रस्थान-बिन्दु है।

---

रजसो अप्यस्य १।१२०।५; श. ७।५।२।४७। [1] द्र. तैब्रा. ३।२।५।२, ता. ७।७।१४, श. ३।८।२।४.. । [2] वनेषु व्य अन्तरिक्षं ततान (वरुण:) ५।८५।२; अयं वातो अन्तरिक्षेण याति १।१६१।१४। [3] तु. ऊर्ध्वो ह्यस्थादध्यन्तरिक्षेऽधा वृत्राय प्र वधं जभार मिह: वसान: २।३०।३। यहाँ यातुधानों अथवा राक्षसों का भी स्थान है जो प्राण के विकार हैं और जिनका हन्ता रक्षोहा अग्नि है (१०।८७।३, ६)। [4] आध्यात्मिक दृष्टि से इन्द्र तब शुद्ध मन और मरुद्गण शुद्ध प्राण। वे आलोकदीप्त होने के कारण 'मरुत' (< √मर 'भिलमिलाना'; तु. 'मर्य' तारुण्य से दीप्त)। [5] इस कारण कहा जाता है 'दिवा यान्ति मरुत:' १।१६१।१४। पूषा: 'यास्ते पूषन् नावो अन्त: समुद्रे हिरण्ययीरन्तरिक्षे चरन्ति ६।५८।३ (तु. पूषा द्वारा सत्यधर्म के हिरण्मय आवरण का मोचन ई. १५)। अग्नि: 'अन्तरिक्षे इच्छन् ... अविदत् पूषणस्य १०।५।५ (अर्थात् अग्नि दिग्दर्शक होता है, तु. १।१८९।१)। वरुण: 'मानेनेव तस्थिवाँ अन्तरिक्षे वि यो ममे पृथिवीं सूर्येण ५।८५।५। [6] ८।५८।३, अन्तरिक्षम् अतूर्ते बाह्ये सविता समुद्रम् १०।१४९।१। [7] तु. ३।६।७, ५।५२।७, ७।३५।३, ९।७।२२, ३।२२।२, ४।१।१७, ४।५२।७, ५।१।११, ६।४७।४, ६१।११, ७।७८।३, ७।८।१५, मही अन्तरिक्षम् १०।६५।२, १२४।६, १२८।२ (उरुलोक)। तु. नि. अन्तरिक्षं 'प्रथमान' अर्थात् प्रसारणशील (१२।१९)। [8] पृथिवी न: पार्थिवात् पात्व अंहसोऽन्तरिक्षं दिव्यात् पात्व अस्मान् ७।१०४।२३। [9] तु. १।३५।२, ४, ९ (अस्तमयन के समय अन्धकार से आलोक को ढँकना; किन्तु किन्तु वह अन्धकार भी आलोक)। १० तु. ७।३६।२, ६४।६।

# ग. पृथिवीस्थान देवता-१ : अग्नि

## १- रूप, गुण और कर्म

'आर्या ज्योतिरग्रा:' — ज्योति की एषणा ही आर्यत्व का एक विशेष लक्षण है। हम एक ज्योति को सूर्यरूप में 'शुचिषत् हंस' के रूप में आकाश में नित्य देखते हैं। यह ज्योति सर्वश्रेष्ठ ज्योति है, उत्तम ज्योति है। यह सूर्य हम सब का जीवन है, प्राण है, उसका प्रसव, अथवा प्रचोदना या प्रेरणा हमारी समस्त साधना (अप:) एवं सिद्धि (अर्थ) के मूल में है। [१३०३]। पृथिवी पर उसका ताप एवं प्रकाश द्युलोक से झर रहा है। किन्तु यहाँ इस ज्योति के उत्स को स्वरूपत: या यथार्थत: कहाँ प्राप्त करते हैं?

वस्तुत: वह अग्नि में पाते हैं। जिस प्रकार द्युलोक में सूर्य है, उसी प्रकार पृथिवी में अग्नि है। ये दो विवस्वत ज्योति हमारे निकट नित्य प्रत्यक्ष हैं [१३०४]। ज्योति ही देवता का स्वरूप है। एक देवता 'अवम' या सब से नीचे है और एक 'परम' या सब से ऊपर है। यहाँ के इस देवता के माध्यम से वहाँ के उस देवता में पहुँचना होगा; यह ज्योतिरुद्गमन ही आर्य का पुरुषार्थ है।

पार्थिव अग्नि की ऐसी कई विशेषताएँ हैं जिनके कारण उसे बड़ी आसानी से ही अध्यात्म भावना के आलम्बन के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। अग्नि में प्रकाश है, ताप है; ये दोनों क्रमश: प्रज्ञा एवं प्राण के (शक्ति के) प्रतीक हैं। अग्नि की शिखा कभी भी निम्नगामी नहीं होती। इसे अध्यात्मचेता की ऊर्ध्वमुखी अभीप्सा के द्योतक के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। शिखा ऊपर उठकर शून्य में मिल जाती है; अभीप्सा का भी अन्तिम परिणाम ब्रह्मनिर्वाण है। इसके अतिरिक्त अग्नि इन्धन में निगूढ़ रहता है, पहले तो उसके अस्तित्व का आभास नहीं मिलता; किन्तु मंथन से अथवा अन्य अग्नि के संस्पर्श से उस इन्धन में ही अग्नि का आविर्भाव होता है एवं धीरे-धीरे वह इन्धनको आत्मसात करके अग्निमय कर देता है। दिव्य भावना में मनुष्य के देवता हो जाने की यह एक चमत्कारपूर्ण उपमा है [१३०५]

जब तक व्यक्ति की देह में प्राण रहता है तब तक ताप भी रहता है, और यह ताप प्राणाग्नि का ताप है। चेतना के विस्फारण अथवा उद्दीपन की दिशा में यह ताप बढ़ता है। वही प्रज्ञा एवं सृष्टि की मूलभूत तप:शक्ति है। यही 'तप:' व्यक्ति के भीतर ज्योति प्रस्फुटित करता है और उसे स्वर्लोक ले जाता है [१३०६]। सुषुप्ति में मन नहीं रहता, किन्तु तब भी ताप रूप में प्राण रहता है और इसी प्राणाग्नि के माध्यम से मनोलय के बाद एक निगूढ़ या रहस्यमय आनन्दचिन्मय सत्ता का साक्षात्कार किया जा सकता है।[1] मर्त्य अथवा नश्वर संसार में वही अमृत ज्योति और अन्धकार की गहनता में ज्योति का संकेत है।[2] आधिभौतिक अग्नि का यह

---

[१३०३] तु. ऋ. इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिर् उत्तमं. उद्यती बृहत् १०।१७०।३ जीव असुर् न: १।११३।१६, नूनं जना: सूर्येण प्रसूता अयन्न् अर्थानि कृणवन्न् अपांसि ७।६३।४। [१३०४] तु. ऋ. अग्नि: शुक्रेण शोचिषा बृहत् सूरो अरोचत (अग्नि = सूर्य), दिवि सूर्यो अरोचत ८।५६।५; १०।८८ सूक्त, अनुक्रमणिका में सूर्य अथवा वैश्वानर अग्नि देवता। विवस्वान् से अग्नि ४।७।४, ५।११।३, ६।८।४; अग्नि स्वयं विवस्वान् ७।९।३। [१३०५] तु. भागवतपुराण. पार्थिवाद् दारुणो धूमस् तस्माद् अग्निस् त्रयीमय: तमसस् तु रजस् तस्मात् सत्त्वं यद् ब्रह्मदर्शनम् १।२।२४। [१३०६] तु. ऋ. तपसा ये अनाधृष्यास्

आध्यात्मिक रूप है। हमारे आधार में स्थित इस अग्नि को चिदग्नि कहा जा सकता है 'जो ध्रुव एवं सर्वत्र निषण्ण रहकर ही यहाँ जन्म लेता है एवं अमर्त्य होकर भी तनु के साथ-साथ बढ़ता रहता है'।[२]

हम पहले ही बतला चुके हैं कि वैदिक देवताओं के रूप का पक्ष अधिक विकसित नहीं है। 'अमूर' अथवा अमूर्त उनकी एक साधारण संज्ञा है और यह संज्ञा विशेष रूप से अग्नि के सम्बन्ध में प्रयुक्त हुई है। भौतिक अग्नि इन्द्रियग्राह्य है किन्तु उसका दिव्य रूप अतीन्द्रिय एवं बुद्धिग्राह्य है। भौतिक अग्नि उस देवता का प्रतीक मात्र है। संहिता में उसके रूप के वर्णन में भौतिक अग्नि का रूप बार-बार उपमान के रूप में उभरा है।

घृत के साथ अग्नि का घनिष्ठ सम्बन्ध [१२०७] है; घृत अग्नि के संस्पर्श में आते ही अग्नि में रूपान्तरित हो जाता है जिससे घृत का एक विशिष्ट अर्थ 'ज्योतिर्मय' है।[१] फिर इसी आधार पर 'घृतप्रतीक', 'घृतपृष्ठ', 'घृतनिर्णिक्', 'घृतकेश' अग्नि के ऐसे विशेषण[२] हैं जो उसके ज्योतिर्मय रूप के व्यंजनावह हैं। अग्नि-शिखा की कल्पना आस्य (मुख) जिह्वा एवं दाँत के रूप में की गई है। ऋक्संहिता में अग्नि की तीन जिह्वाओं का उल्लेख है किन्तु अन्यत्र सात हैं।[३] उसकी तीन मूर्द्धाएँ, सात रश्मियाँ एवं चार अथवा हजार आँखें हैं।[४] उसके प्रहरण अथवा अस्त्र का विशेष रूप से कोई उल्लेख नहीं है किन्तु एक स्थान पर 'अस्ता' अथवा धानुष्की

---

तपसा ये स्वर् ययुः — तपस्या में जो अधृष्य या अजेय, वे स्वर्लोक गए १०।१५४।२, ऋषीन् तपस्वतो ... तपोजान् ५। अग्नि विशेष रूप से 'तपस्वान्' (८।५।४, जिस प्रकार इन्द्र 'जात एव प्रथमो मनस्वान्' २।१२।१), 'तपिष्ठ' वही, 'तपु' २।४।६। [१] तु. प्रश्नोपनिषद् प्राणाग्नय एवास्मिन् पुरे जाग्रति ४।२; अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानम् अनुभवति ... स यदा तेजसाभिभूतो भवत्य् अत्रैष देवः स्वप्नान् न पश्यत्य् अथ तदैतस्मिञ्छरीर एतत् सुखं भवति ४।६ (योगनिद्रा का वर्णन, उसी से स्वप्नभूमि पर महिमा का अनुभव एवं सुषुप्ति में तेज द्वारा स्वप्न का अभिभव; तीनों भूमियों पर सत्, चित् और आनन्द की उपलब्धि)। संहिता में अग्नि = आयु (Life): आयुर् न प्राणः १।६६।१; इन्द्रं न त्वा शवसा (शौर्य द्वारा) देवता (देवताओं के मध्य) वायुं पृणन्ति (पूर्ण करते हैं) राधसा (ऋद्धि द्वारा) ६।४।७; आयोर् ह स्कम्भ उपमस्य नीळे १०।५।६, २०।७, ४५।८ (वयोभिः तारुण्य में)। [२] तु. इदं ज्योतिर् अमृतं मर्त्येषु ६।९।४, ध्रुवं ज्योतिर् निहितं दृशये कम् ५, त्वाम् अग्ने तमसि तस्थिवांसम् ७। [३] अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तो ऽमर्त्यस् तन्वा वर्धमानः ६।९।४।

[१२०७] तु. घृतम् अग्नेर् वध्र्यश्वस्य (ऋषि का नाम) वर्धनं घृतम् अन्नं घृतम्व् अस्य मेदनम्, घृतेनाहुत उर्विया वि पप्रथे सूर्य इव रोचते सर्पिरासुतिः १०।६९।२ 'घृतो न' ८।१३।१, 'घृतयोनि' ५।८।६। [१] घृत < √घृ 'क्षरण और दीपन', 'सेचन' (नि. ७।२४)। तु. नि. अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः उष्णं घृतम् इति', अर्थात् घृत शब्द का वेद में एक विशिष्ट अर्थ है, यह शब्द वेद से ही आया है (२।२); फिर अग्नि के संस्पर्श से तरलता का कारण घृत = उदक (निघ. १।१२; तु. १।१६४।४७)। दोनों अर्थ मिला लेने पर 'घृत' ज्योति की धारा : तु. ४।५८ सूक्त, अनुक्रमणिका में देवता 'सूर्यो वा आपो वा गावो वा घृतस्तुतिर् वा'। तु. 'घृणि' अग्नि का विशेषण : उप च्छायाम् इव घृणेर् अगन्म शर्म (शरण) ते वयम्, अग्ने हिरण्य संदृश: ६।१६।३८; 'घर्म' ताप > 'घाम' ॥ गरम। इसके अलावा घृत पंचामृत का तृतीय अमृत : 'पयः' आप्यायनी चेतना की मुख्य धारा (तु. अन्तः कृष्णाँ रुशद् [उज्ज्वल] रोहिणीषु १।६२।९, कृष्णासु रोहिणीषु च, परुष्णीषु [चित्रवर्णा] रुशत् पयः ८।९३।१३ : तमः एवं रजः से सत्त्व के आविर्भाव की उपमा), घनीभूत होने पर दही, प्रज्वलित होने पर घृत होता है; उसका आनन्दमय साम्य चेतना में रूपान्तर 'मधु', उसके भी घनीभूत होने पर 'शर्करा'। मनु के कथनानुसार स्वाध्याय पाठ का फल 'पयः दधि, घृत, मधु का क्षरण (२।१०७; तु. ऋ. ७।६७।३२)। [२] 'प्रतीक' जो सामने है, मुख; 'निर्णिक्' जो माँजा हुआ, चमकीला, स्वच्छ हो, पोशाक। इन विशेषणों का यूरोपीय अनुवाद हास्यास्पद है। तु.' अग्नि की उक्ति : घृतं मे चक्षुर् अमृतं म आसन् (मुख में) ३।२६।७। [३] ३।२०।२ यहाँ अग्नि के तीन तनु का उल्लेख है, वे 'देववाताः' अथवा देवाविष्ट।

के रूप में वर्णन किया गया है।[४] सब मिलाकर अग्नि की संकल्पना में उसके इन्द्रियग्राह्य भौतिक रूप को सामने रखकर उसका चिन्मय रूप ही विशेष रूप से विकसित किया गया है।

इस भाव को दृष्टि में रखकर ही अग्नि की तुलना कई एक पशुओं के साथ की गई है। वह 'सहस्ररेता वृषभ' है [१३०८] अथवा [१]'अश्व' अथवा 'सुपर्ण',[२] 'श्येन' अथवा 'हंस' है, एक स्थल पर फुफकारता हुआ साँप, वातास या वायु जैसा वेगवान) कहा गया है।[३]

वैदिक देवता प्राय: रथचारी हैं [१३०९] अग्नि 'विद्युद्रथ', 'ज्योतीरथ' 'चन्द्ररथ', 'हिरण्यरथ', 'सुरथ' हैं, उनका रथ भानुमान है।[१] वे 'रोहिदाश्व' अर्थात लाल घोड़ा उनका वाहन है। ये घोड़े जिस प्रकार लाल हैं उसी प्रकार साँवले और सुनहले भी हैं; वे घृतपृष्ठ हैं, प्राणचंचल, वायु-ताड़ित हैं, मन के इशारे पर उन्हें रथ में जोता जा सकता है।[२] स्पष्ट है कि अग्नि की शिखा उनके अश्व के रूप में कल्पित है।

---

वा. में: 'सप्त ते अग्ने समिध: सप्त जिह्वा:' १७।७९ (मु. में उनके नाम हैं — काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी, विश्वरुची १।२।४ जिसमें चेतना का उत्तरायण आभासित), शौ. में: 'सप्त आस्यानि तव' ४।३९।१० : तीन और सात के साथ त्रिलोक और सप्तलोक का सम्बन्ध। ४ 'त्रिमूर्धानं सप्तरश्मिं गृणीषे' १।१४६।१ (तु. इन्द्र एवं उनका रथ सप्तरश्मि २।१२।१२, १८।१, ६।४४।२४; बृहस्पति भी ४।५०।४; फिर इन्द्र = आदित्य); आ यस्मिन् सप्त रश्मयस् तता यजस्य नेतरि २।५।२। किन्तु दो शीर्ष या मस्तक ४।५८।३। इसके अलावा रहस्यमय अथवा गूढ़ अर्थ में 'अपाद शीर्षा गुहमानो अन्ता' ४।१।११; ६।४५।६। 'चतुरक्ष' १।३१।१३; यही विशेषण यम के श्वान अथवा कुक्कुर का भी है, जो प्राणरूपी हैं १०।१४।१०, ११ (तु. प्राण को लेकर उपनिषद में ब्रह्म के पाँच द्वारपाल)। 'सहस्राक्ष' १।७९।१२; पुरुष भी वही १०।९०।१। फिर अग्नि 'त्वेषं चक्षु: ... चोदयन्मति' — मन को प्रचोदित करती है देवता की ओ दीप्त आँख, वे वही हैं ५।८।६। संक्षेप में वे, 'ज्योतिरनीक' अथवा पुंजज्योति हैं (७।३५।४), इसके अतिरिक्त 'विश्वत: प्रत्यङ्' अथवा सब ओर विच्छुरित (७।१२।१)। ५ ४।४।१ (तु. १।७०।११)। एक स्थल पर केवल 'वाशीमान' १०।२०।६। वाशी अथवा छेनी या रुखानी मरुद्गणों का विशिष्ट प्रहरण।

[१३०८] तु. ऋ. ४।५।३ वृषभ वीर्यवर्षी, बाँझपन दूर करता है; यह देवता का एक साधारण उपमान। विश्वस्रष्टा आदि युग्म वृषभ और धेनु : तु. ३।३८।७, ५६।३ ... अग्नि एक साथ वृषभ और धेनु दोनों ही (४।३।१०, १०।५।७)। तु. वृषो अग्नि: सम् इध्यते अश्वो न देववाहन: — वृषणं त्वा वयं वृषन् वृषण: सम् इधीमहि, अग्ने दीद्यतं बृहत् ३।२७।१४,१५। १ अश्व ओज:शक्ति का प्रतीक, तु. १०।७३।१०। यह समझाने के लिए अग्नि के लिए 'वाजिन' शब्द का अधिक प्रयोग द्रष्टव्य। एक ही √वज् से 'वाजिन' एवं 'ओजस्'। [२] तु. दिव्य सुपर्णम् १।१६४।५२ (सूर्य भी सुपर्ण, अग्नि = सूर्य, यही ध्वनि है); अग्नये दिव: श्येनाय ७।१५।४ (सोम का आहर्ता श्येन, अग्नि भी वही; अग्नि द्युलोक से अमृत आनन्दचेतना ले आते हैं); श्वसित्य् अप्सु हंसो न सीदन् १।६५।९ (प्राण के प्रवाह में बैठ कर साँस लेते हैं हंस की तरह, तु. १०।१२४।२; हमारे भीतर भी यही क्रिया; फिर सूर्य भी हंस, तु. ४।४०।५)। ३ अहिर् धुनिर् वात इव ध्रजीमान १।७९।१। अग्नि की शिखाओं से उपमा। तु. हठयोग में सुषुम्णा अथवा अग्निनाड़ी के भीतर से कुण्डलिनी का (तु. अपाद शीर्षा गुहमानो अन्ता ४।१।११, साँप जैसी कुण्डलित अग्नि) फुफकार उठना। इसके अतिरिक्त सिंह के साथ भी उपमा है : १।९५।५, ३।२।११, ५।१५।३।

[१३०९] देवता उनके रथ एवं रथ के वाहन — यह वैदिक देवता के सम्बन्ध में एक सामान्य भावना है। आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा रथी है, देह रथ है, इन्द्रियाँ रथ के वाहन हैं (तु. क. १।३।३-४)। यह चैतन्याधिष्ठित जड़ और प्राण का रूपक है। सारे वाहन पशु और 'प्राणा: पशव:' (तै.ब्रा. ३।२।८।९)। अश्व, गर्दभ, बकरा, मृग और गाय — ये कई पशु वैदिक देवताओं के वाहन हैं (द्र. निघ. १।१५)। १ ऋ. २।१४।१, ज्योतीरथं शुक्लवर्णं तमोहनम् १।१४०।१, १४१।१२, ७।१।८, २।४, ५।१।११। हरितो रोहितश्च २ रोहिदश्व: ४।१।८, ८।४३।१६, अरुषा युजान: ४।२।३, १।५४।१०।

यहाँ हम देखते हैं कि अग्नि के पुरुषविध रूप के वर्णन में अतिरंजना नहीं है; उनकी भौतिक मूर्ति एक अमूर्त भाव का ही वाहन है। इस भाव की विशिष्ट व्यंजना उनके ज्योति रूप में है। वे पुंज ज्योति हैं, आकाश में ध्रुव ज्योति हैं, मर्त्य आधार में अमृत ज्योति हैं; सर्वत्र विभात बृहत् ज्योति हैं और तुरीय स्वर्ज्योति हैं— यही उनका स्वरूप है [१३१०]। भोर के अँधेरे को चीरकर आकाश को रक्तवर्ण करते हुए जिस प्रकार सूर्य की शुभ्र ज्योति फूटती है उसी प्रकार इन्धन में अग्नि का आविर्भाव होता है: श्यामल धूम्र फिर रक्तशिखा अन्त में इन्धन को पूरी तरह आत्मसात करते हुए अग्नि की[1] 'शुक्रम अर्चि:' अथवा शुक्ल दीप्ति दिखाई पड़ती है। द्युलोक और भूलोक में ज्योति के उद्गमन की एक ही रीति है। आध्यात्मिक चेतना में भी यही घटना घटती है एवं इसने ही आर्यों के मन में ज्योति की प्यास जगाई है।

द्युलोक में तो ज्योति अनायास फूटती है किन्तु भूलोक में अग्नि का आविर्भाव इतना सहज नहीं। इसी से हम अग्नि में ज्योति के शक्तिरूप को देख पाते हैं। या इस प्रकार भी कह सकते हैं कि अग्निज्योति में इस शक्ति के व्यक्त न होने पर द्युलोक में सूर्य भी नहीं उगता [१३११]। इसका आध्यात्मिक अर्थ अत्यधिक स्पष्ट है: 'नायम् आत्मा बलहीनेन लभ्य:' — बलहीन इस आत्मा को कभी नहीं प्राप्त कर पाता।[1] अग्नि की ज्योति:शक्ति की पारिभाषिक संज्ञा 'शोचि:' एवं 'तप:' है; देवताओं में अग्नि ही शोचिष्ठ एवं तपिष्ठ हैं।[2] संहिता में अग्नि से सम्बन्धित शुच् एवं तप् इन दो धातुओं का प्रयोग विशेष रूप से पाया जाता है। दोनों धातुओं में ही दीप्ति के साथ ज्वाला की व्यंजना है। अग्नि के इस ज्वलदर्चि रूप का वर्णन शंयु बार्हस्पत्य की इस मंत्रमाला में इस प्रकार है; 'हे वीर्यवर्षी, अभीष्टवर्षी अग्नि तुम जराहीन हो, महान होकर विभात होओ अर्चि में; अजस्र शोचि (ज्वाला) में प्रज्वलित होकर हे शुचि, सुदीप्ति में होओ सन्दीपन।... जिन्होंने आपूरित किया प्रभा से

८।४३।२ (तु. इड़ा और पिंगला; श्यावा २।१०।२; तीन गुणों के रंग) घृतपृष्ठो मनोयुजो १।१४।६, अग्नि 'जीराश्व:' २।४।२, १।१४१।१२, ८।४।१०...।
[१३१०] तु. ऋ. ज्योतिरनीक: ७।३५।४, ६।८।५, ८।४, वि ज्योतिषा बृहता भाति ५।२।९, भवा नो अर्वाङ् स्वर् ण ज्योति: ४।१०।३। और भी तु. अमृतं ज्योति: ६।९।४, ध्रुवं ज्योति: ५; शौ. ऋतस्य ज्योतिष्पतिम् ६।३६।१, ऋ. विपां (कम्प्र हृदय का) ज्योतींषि बिभ्रत ३।१०।५। अनुरूप विशेषण 'दीदिवि:, दीदिवान, वसु: विभावसु: विभावा, शुक्र:...'। [1] तु. 'विशो मानुषीर् देवयन्ती: प्रयस्वतीर् ईळते शुक्रम् अर्चि:' — प्रवर्त व्यक्ति देवता को चाहते हुए प्रेमपूर्वक जगा देते हैं तुम्हारी शुक्ल शिखा ३।६।३। काली और लाल के बाद शुक्ल शिखा; द्र. टी. १३०८[2]।
[१३११] तु. ऋ. अग्ने नक्षत्रम्...आ सूर्यं रोहयो दिवि, दधज् ज्योतिर् जनेभ्य: १०।१५६।४: चिदग्नि का विश्वज्योति में प्रसारण। अग्निहोत्री की भी यही साधना है— अग्निज्योति को सूर्यज्योति में रूपान्तरित करना। 'सुबह आग नहीं जलाने पर अच्छी धूप नहीं होगी' यह यूरोपीय व्याख्या हास्यास्पद है। [1] मु. ३।२।४। [2] 'शोचिष्ठ', ऋ. ५।२४।४ (तु. सूर्य हंस: शुचिषत् ४।४०।५), शोचा शोचिष्ठ, दीदिहि (दीप्त होओ) विशे (प्रवर्त साधक के निकट), मयो रास्व (आनन्द दो) स्तोत्रे महाँ असि ८।६०।६ (क्रमश: शक्ति, दीप्ति और महिमा का बोध); 'तपिष्ठ' ६।५।४, १०।८७।२०। तु. निघ. शोचि:। तप: ज्वलतो नामधेये १।१७। [2] वृषाहय अग्ने अजरो महान् विभास्य् अर्चिषा, अजस्रेण शोचिषा शोशुचच् छुचे सुदीतिभि: सु दीदिहि। ... आ य: पप्रौ भानुना रोदसी उभे... तिरस् तमो ददृशे ऊर्म्यास्व् आ, श्यावास्व्

द्युलोक-भूलोक दोनों को ही; ... सर्वव्यापी श्यामला रात के अँधेरे को पार कर वे दिखाई देते हैं अरुण वीर्यवर्षी (अहा) श्यामल अँधेरे में अरुण वीर्यवर्षी। अपनी बृहत् अर्चि के साथ हे अग्नि, अपनी शुक्ल शोचि के साथ हे देव, भरद्वाज के भीतर समिद्ध हो ओ हे युवतम; हे शक्ल, प्राणों के संवेग में दीप्त हो ओ, हम सब के लिए प्रद्योत अथवा किरणों में सुदीप्त हो ओ हे पावक!'४

अग्नि की यह ज्योतिःशक्ति इन्धन को जिस प्रकार अग्निमय कर देती है उसी प्रकार चिदग्नि भी आधार के समस्त 'अघ' अथवा मालिन्य को दग्ध करके उसे शुचि और चिन्मय कर देती है। अतएव संहिता में अग्नि की निरूढ़ अथवा प्रचलित संज्ञा 'पावक' है[१३१२]। अग्नि का यह अघमर्षण रूप कुत्स आंगिरस के सूक्त में[१] अच्छी तरह उभरा निखरा है। सूक्त की टेक में ऋषि की यही आकांक्षा है कि 'अप नः शोशुचद् अघम्' अर्थात वे हमारी मलिनता को जलाकर दूर कर दें। ऋषि का कथन है, २ हमारा समस्त मालिन्य जलाकर दूर करके हे अग्नि प्रज्वलित हो जाओ प्राणसंवेग के उद्देश्य से; हमारा समस्त मालिन्य जलाकर दूर करके। सुक्षेत्र और सुपथ के लिए, आलोकवित्त के लिए हम तुम्हारा यजन करते हैं...

---

अरुषो वृषा, श्यावा अरुषो वृषा। बृहद्भिर् अग्ने अर्चिभिः शुक्रेण देव शोचिषा, भरद्वाजे समिधानो यविष्ठ्य रेवन् नः शुक्र दीदिहि, द्युमत् पावक दीदिह ६।४८।३, ६, ७।

४'तपः' तु. 'तपोष्व अग्ने अन्तराँ अमित्रान् तपा शंसम् अररुषः परस्य, तपो वसो चिकितानो अचित्तान् वि ते तिष्ठन्ताम् अजरा अयासः।' — खूब दुखी और सन्तप्त करो हे अग्नि निकट के अमित्रों को, सन्तप्त करो कृपण शत्रु के दुर्भाषण को; हे सचेतन तुम ज्योतिःस्वरूप सन्तप्त करो निश्चेतनों को, दिशा दिशा में फैल जाएँ तुम्हारी अजर, अश्रान्त शिखाएँ ३।१८।२। द्रष्टव्य टीका १२२०[२]।

[१३१२] तु. ऋ. उशिक् (उद्दीप्त) पावको वसुर् मानुषेषु १।६०।४, शुचिः पावक वन्द्यः २।७।४, शुचिर् ऋष्वः (तीक्ष्णाग्र) पावकः ३।५।७, शोचिष्केशः पावकः ३।१७।१, २७।४, शुचिं पावकम् ५।४।३, पावक भद्रशोचे ४।७ अग्न एषु क्षयेष्व आ (गृह में, आधार में) रेवन् (प्राण संवेग से) नः शुक्र दीदिह द्युमत् (ज्योतिर्मय होकर) पावक दीदिहि ५।२३।४ (= ६।४८।७)...। 'शुचि' और 'पावक' दोनों विशेषण एक साथ: दहन से ही आधार-शुद्धि। सोम भी 'पावक': 'शुचिः पावको अद्भुतः ९।२४।६, ७, महिव्रतः शुचिबन्धुः पावकः ९।७।७ उनकी 'पावकधारा' १०१।२। वस्तुतः पहले वे 'पवमान' रूप में साध्य, उसके बाद पावक रूप में सिद्ध। पूत अथवा पवित्र होने पर अग्नि और सोम एकाकार हो जाते हैं उस समय सोम अग्निस्रोत: तु. अग्न आयूंषि पवसे... अग्निर् ऋषिः पवमानः ... अग्ने पवस्व स्वपा (सुकर्मा) अस्मे वर्चः सुवीर्यम् ९।६६।१९-२१; उसके बाद ही है, 'पवमान ऋतं बृहच् छुक्रम् ज्योतिर् अजीजनत् (जन्म दिया), कृष्णा तमांसि जङ्घनत् (वध किया) २४। अतएव आधार में परिपूत अग्नि-सोम से 'बृहज्ज्योति' अथवा ब्रह्मज्योति का प्लावन होता है। इस प्रसंग में तु. पवित्र आंगिरस के (अथवा वसिष्ठ अथवा दोनों के ही — अनुक्रमणिका के अनुसार) दो पावमानी तृचः— 'पवमानः सो अद्य नः पवित्रेण विचर्षणिः, यः पोता स पुनातु नः। यत् ते पवित्रम् अर्चिष्य् अग्ने विततम् अन्तरा ब्रह्म तेन पुनीहि नः। यत् ते पवित्रम् अर्चिवद् अग्ने तेन पुनीहि नः, ब्रह्मसवैः पुनीहि नः। उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च, मां पुनीहि विश्वतः। त्रिभिष् ट्वं देव सवितर् वर्षिष्ठैः सोम धामभिः, अग्ने दक्षैः पुनीहि नः। पुनन्तु मां देवजनाः पुनन्तु वसवो धिया, विश्वे देवा पुनीत मा जातवेदः पुनीहि मा' — यह पवमान (सोम) जो विचंचल हैं, जो पावक हैं वे अपनी पावनी (शक्ति) द्वारा हमें आज पवित्र करें। हे अग्नि तुम्हारी पावनी जो अर्चि के भीतर वितत या व्याप्त है उसके ही

सर्वाभिभावन, सर्वजित अग्नि की रश्मियाँ देखो फैल रही हैं चारों ओर ....। हे विश्वतोमुख तुम सब ओर सब कुछ आवृत किए हो...। सारे विद्वेषों से परे हे विश्वतोमुख, नाविक की तरह पार कर लो... हमें नदी के उस पार नाविकों की तरह ले जाओ स्वस्ति के किनारे, हमारे समस्त मालिन्य को जला कर दूर कर दो।'

जिस प्रकार धुएँ की कुण्डली से मुक्त अग्निशिखा की उत्क्रान्ति द्युलोकाभिमुखी होती है उसी प्रकार हमारे अग्निष्वात्त आधार की शुचिता भी ऊर्ध्वमुख होती है और हम 'देवयु' अथवा देवकाम होते हैं [१२१३]। देवता की कामना करके हम उस आदित्य द्युति को प्राप्त करते हैं जो अग्नि की ही [1]विशाल ज्योति है। इसलिए संहिता में अग्नि की एक विशिष्ट संज्ञा [2]'स्वर्विद्' है, जो हमें 'स्वः' अथवा तुरीय पुंजज्योति को प्राप्त कराने में सहायक होते हैं। यही 'स्वः' बृहत् है। अग्नि भी 'बृहन्' है, उपनिषद की भाषा में जिसका भाषान्तर 'ब्रह्म' अथवा चेतना की अनिबाध्य, अबाधित विपुलता है।[3] यह अवम देवता ही बृहत् होकर परम देवता को प्राप्त करा देते हैं, यह आत्मचैतन्य ही बृहज्ज्योति होती है।[4]

---

द्वारा हमारे बृहत की भावना को पवित्र करो। हे अग्नि! तुम्हारी पावनी अर्चिष्मती है उसके ही द्वारा हमें पवित्र करो, बृहत की भावना की प्रचोदना या प्रेरणा से हमें पवित्र करो। हे देव सविता, अपनी पावनी और प्रचोदना दोनों के द्वारा ही मुझे हर प्रकार से पवित्र करो। तीन (पावनी) द्वारा हे देवसविता, सर्वाधिक निर्झरित धामों द्वारा हे सोम, अपने कर्मनैपुण्य द्वारा हे अग्नि, हमें पवित्र करो। मुझे सभी देवजन पवित्र करें, पवित्र करें वसुगण धी द्वारा; हे विश्वदेवगण, पवित्र करो मुझे; हे जातवेदा मुझे पवित्र करो (९।६७।२२-२७)। अधियज्ञ अथवा आधियाज्ञिक दृष्टि से 'पवित्र' सोमरस की चालनी (छन्ना) है जो मेषलोम (भेड़ के रोयें) से बनी होती है। आध्यात्मिक दृष्टि से नाड़ीतंत्र जिसके भीतर से होकर सौम्य आनन्द की धारा प्रवाहित होती है। यहाँ देवता की पावनी शक्ति। यही शक्ति अग्नि, सविता, सोम में है एवं विश्वदेवता के भीतर है। अग्नि का 'दक्ष' अथवा रूपान्तरकृत क्रियानैपुण्य, सविता का 'सव' अथवा प्रचोदना, सोम का 'धाम' अथवा प्रत्येक कला में उपचय एवं आनन्दनिर्झरण — ये तीन 'पवित्र'। पवित्र के आधिदैवत एवं आध्यात्मिक अर्थ के लिए द्रष्टव्य. ३।१।५, २६।८, ९।८३।१; तु. 'अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः' ४।५८।६। इसी शक्ति के सायुज्य में ऋषि का भी नाम 'पवित्र'।

[1] १।९७ सूक्त। [2] अप नः शोशुचद् अघम् अग्ने शुशुग्ध्या रयिम्, अप नः शोशुचद् अघम्। सुक्षेत्रिया सुगातुया वसुया च यजामहे, अप नः ...। ... प्र यद् अग्नेः सहस्वतो विश्वतो यन्ति भानवः, अप नः ...। **त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूर् असि**, अप नः ...। द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय, अप नः ...। स नः सिन्धुम् इव नावयाति पर्षा स्वस्तये, अप नः शोशुचद् अघम् (१।९७।१, ५-८)। 'क्षेत्र' आधार, 'पथ' देवयान का; 'स्वस्ति' पारमार्थिक सत्ता। संहिता में अग्नि 'पावकशोचिः', पावकवर्चाः, पुनानः क्रतुम्'।

[१२१३] तु. ऋ. 'वर्ष्मन् पृथिव्याः सुदिनत्वे अह्नाम् ऊर्ध्वो भव सुक्रतो देवयज्या' — पृथिवी के निर्झरित (तुंगता में) दिन जब होंगे आलोकदीप्त, तब तुम ऊर्ध्वशिख होना हे सुवीर्य, देवयजन के लिए (१०।७०।१; 'वर्ष्मन्' किसी वस्तु या विषय की वह तुंगता (ऊँचाई) जहाँ से शक्ति का निर्झरण सम्भव); ऊर्ध्वा शोचींषि देवयून्य् अस्थुः ७।४३।२; 'अग्ने बृहन् उषसाम् ऊर्ध्वो अस्थान् निर्जगन्वान् तमसो ज्योतिषागात्' — बृहत् यह अग्नि उषाओं के पहले ऊर्ध्वशिख हुआ, तमिस्रा से निकल कर ज्योति ले आया १०।१।१। [1] ऋ. 'उरु ज्योतिर् नशते देवयुष् टे' — तुम्हारी विशाल ज्योति को ही वह प्राप्त करता है, जो चाहता है देवता को, हे अग्नि। ६।३।१। अग्नि और सूर्य एक ऋ. १०।३ सूक्त। [2] तु. ३।३।५ वैश्वानर तव धामान्य् आ चके (चाहता हूँ) येभिः

जीवन के पूर्वाह्न में हम प्राण का सहज प्रचय, आयु का प्रतरण और चित् ज्योति का सार्थक उदयन देखते हैं [१३१४]। संहिता में यही आदित्यायन के छन्द में[1] अग्नि का वर्णन है। शिशु अग्नि चेतना के स्फुलिंग के रूप में आधार में[2] धीरे-धीरे बढ़ते रहते हैं। मनुष्य का यौवन उनका ही यौवन है। उसका तो अवक्षय है किन्तु इसका नहीं। इसलिए अग्नि की विशिष्ट संज्ञा[3] 'अजर', 'युवा', 'यविष्ठ' है। उनकी उपासना में उनका यौवन हम सब के भीतर भी संचारित होता है अतः वे 'वयोधा'[4] हैं। वे[5] 'बृहद् वयः' अथवा सुविपुल तारुण्य हैं एवं उसीसे मर्त्य जीवन के प्रभास्वर पुरोधा हैं।

---

स्वर्विद् अभवो विचक्षण (१०; 'धाम' = पद, तु. ऋताय सप्त दधिषे पदानि १०।८।४ जिस प्रकार विष्णु अथवा सूर्य की सप्तपदी; अग्नि 'सप्तधामानि परियन्न अमर्त्यः १०।१२२।३), वैश्वानर मनसाग्नि निचाय्य ... स्वर्विदम् (३।२६।१; उन्हें देखना होगा मन के द्वारा) १।६६।४, १०।८८।१। अन्य विशेषण 'स्वर्दृश'। सोम भी विशेषण कारणों से 'स्वर्विद', अग्नि की तरह (तु. ८।४८।१५, ९।८६।३, १०।७।८, ८४।५। अग्नि और सोम का एक ही व्रत। २ तु. ८।५६।५। ४ 'बृहज्ज्योतिः' आदित्य एवं अग्नि दोनों की संज्ञा, वा. ११।२, ५४। तु. अग्नि की 'बृहद्भाः', ऋ. ४।५।१, ५।२।७, ८।२३।११।

[१३१४] तु. अग्नि का प्रतरण ऋ. 'त्वं वाजः (ओजः शक्ति) प्रतरणो बृहन् असि २।१।१२; उषा का: आरैक् (मुक्त कर दिया) पन्थां यातवे (जाने के लिए) सूर्याय. गन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः १।११३।१६; सोम का: ८।४८।११। [1] 'शिशुः'—'चित्रः शिशुः परि तमांस्यक्तून्'— अपरूप शिशु तमिस्रा और रात को पराभूत करते हैं १०।१।२, 'वृषा शिशुः'— शिशु किन्तु वीर्यशाली ५।४४।३, चित्र इच्छिशोस्तरुणस्य वक्षथः (वृद्धि) १०।११५।१। गर्भः (भ्रूण, शिशु): गर्भो यो अपां गर्भो वनानां गर्भश्च स्थातां (स्थावर का) गर्भश्चरथाम् (जंगम का) १।७०।३ (अग्नि सब के अन्तर्यामी), भुवनस्य गर्भ १०।४५।६, १०।८।२। चंचल शिखा के कारण 'यह्वः', दुर्दम्य, विशेष रूप से अग्नि का विशेषण ३।१।१२, २।७, ३।८, ४।५।२ ... तु. 'यह्वः' अदितेर १०।११।१। [2] अग्नि की वृद्धि: 'गोपाम् (रक्षक) ऋतस्य दीदिविम्, वर्धमानं स्वे दमे (अपने घर में, वेदि (वेदी) में, हृदय में, तु. १।६०।३) १।१।८; घृत आ निषत्तोऽमर्त्यासु तन्वा वर्धमानः ६।७।४, स्वयं वर्धस्व तन्वं (अपने को) सुजात, ७।८।५; तम् उक्षमाणं (वर्धमान) रजसि स्व आ दमे (अन्तरिक्ष में, प्राणलोक में) २।२।४; 'उक्षा ह यत्र परि धानम् अक्तोर् अनु स्वं धाम जरितुर् ववक्ष'— वे वृषभ, रात्रि के अवसान को परिभूत करके स्तोता या गायक के अपने धाम की (तु. 'स्वधा', आत्मस्थिति) और बढ़ने लगे (तु. 'आत्मना विन्दते वीर्यम्' के. २।४, यह वीर्य आधार में सन्दीप्त अग्निवीर्य) ३।७।६; 'मातेव यद् भरसे पप्रथानो जनं जनं धायसे चक्षसे च, वयोवयो जरसे यद् दधानः परि त्मना विषुरूपो जिगासि'— माँ की तरह जब तुम जन-जन का पालन पोषण करते हो विपुल बृहत् होकर उनकी प्रतिष्ठा और दृष्टि के लिए, बार बार तरुणता नवीनता धारण करके जब जागते रहते हो, तब स्वयं विचित्र रूप धारण करके तुम फैल जाते हो चारों ओर ५।१५।४, ...। इस वृद्धि से अग्नि का चरम विस्तार: 'वि यो रजांस्य् अमिमीत सुक्रतुर् वैश्वानरो वि दिवो रोचना कविः, परि यो विश्वा भुवनानि पप्रथे अदब्धो गोपा अमृतस्य रक्षिता'— वे वैश्वानर, कवि एवं सुकृत सुकर्मी हैं, जो व्याप्त हैं सारे लोकों और द्युलोक की दीप्ति में, जिन्होंने विश्वभुवन को प्रसारित किया, जो अमृत के अप्रवंचित रक्षक हैं ६।७।७। और उसके फलस्वरूप आनन्द: 'सुम्नं (सौम्य सुख) अग्निर् वनते (जीत लेते हैं) वावृधानः' ५।२।१०। [3] 'अजर': तु. १।५८।२, ४, १२७।८, १४४।४, १४६।२ अजरः पिता नः ५।४।२, ६।४, ७।४, ६।२।७, ४।२ अश्याम (हम उपभोग करें) द्युम्नं (द्युति) अजरा जरं ते ५।७ उद् अग्ने भारत द्युमद् (द्योतित होकर) अजस्रेण

प्राण के सहज तारुण्य से ही व्यक्ति के भीतर अमृतत्व का आश्वासन प्राप्त होता है। जरा या वार्धक्य न रहे तो फिर मृत्यु भी नहीं रहेगी [1315]। प्रतीर्ण आयु यदि माध्यन्दिन सूर्य की महिमा से भास्वर हो गई तो उसे फिर हिलने-डुलने न देना, 'विजरो विमृत्युः' होना[1] ही मनुष्य का पुरुषार्थ है। उसकी सिद्धि उसी अग्नि के सायुज्य में है जो मर्त्य के भीतर अमृत ज्योति है। वह निश्चय ही भौतिक अग्नि नहीं है क्योंकि मर्त्य प्राण की तरह वह भी जरा-मृत्यु से ग्रस्त है। यह वही[2] 'देव: अग्नि:' जो मनुष्य के भीतर 'अजो भाग:'[3] है, अन्त्येष्टि में भौतिक अग्नि का आश्रय लेकर उसे अपना ताप देकर 'शोचि: द्वारा, अर्चि द्वारा तप्त करते हैं जातवेदा रूप में अपनी शिवमयी तनुसमूह द्वारा उसे वहन कर ले जाते हैं सुकृतियों के विशाल लोक में"। देह जल जाती है, चिता की आग बुझ जाती है किन्तु चेतना की आग नहीं बुझती, वह विश्वचेतना की अनिबाध विपुलता में फैल जाती है। इस अन्त्येष्टि अथवा अन्तिम आत्माहुति की भावना में हम उसी 'अमृत' अग्नि का संधान पाते हैं जिनकी तीन[4] आयु हैं और तीन उषा-

दविद्युतत (कौंध कर), शोचा वि भाहय अजर ६।१६।४५, ४८।३, अग्ने रक्षाणो अंहस: (क्लिष्टता से) प्रतिष्म देव रीषत: (आक्रोशक से) तपिष्ठैर् अजर दह ७।१५।१३, ८।२३।१४, २०, १०।११५।४, 'पश्चात पुरस्ताद अधराद उदक्तात कवि: काव्येन परि पाहि राजन, सखे सखायम् अजरो जरिम्णे अग्ने मर्तां अमर्त्य स त्वं न:' — आगे-पीछे, नीचे-ऊपर सर्वत्र तुम कवि, काव्य द्वारा रक्षा करो हे राजन्; हे सखा, अजर होकर जरातक सखा की रक्षा करो; हे अग्नि तुम अमर्त्य हो हम सब मर्त्य हैं, हमारी रक्षा करो १०।८७।२१...। 'युवा' तु. अग्निनाग्नि: सम् इध्यते- 'निर्मथित; सुधित (सुनिहित) सधस्थे 'युवा' कविर् अध्वरस्य प्रणेता (नायक), जूर्यत्स्व (जरा जीर्ण होते जा रहे हैं जो) अग्निर् अजरो वनेष्व (काठ में) अत्रा दधे अमृतं जात वेदा:' (तु. जरा व्याधि मृत्युहीन योगाग्निमय शरीर की भावना, श्वे. २।१२; द्र. नदी अथवा नाड़ी में अग्नि का संचरण ३।२३।४) ३।२३।१; ४।१।१२; ५।१।६; ६।५।१, ७।१५।२, ८।४४।२६, १०२।१...। प्रायश: 'युवा' और कवि विशेषण एक साथ। 'यविष्ठ' 'यविष्ठ्य' दोनों विशेषणों का अधिक प्रयोग है: तु. १।२२।१०, २६।२, २।६।६, ३।१५।३, ४।१२।४, ५।३।११, ६।६।२, ७।३।५; २।८।६, ८।७५।३ ...। [4] 'वयोधा:' (वयस्कृत्') ; तु. १७३।१, ३१।१०, १०।७।७; 'अस्पन्दमानो अचरद् वयोधा वृषा शुक्रं दुदुहे पृश्निर् ऊध:' — निस्पन्द रूप में हैं तारुण्य के आधाता, जब वे वृषभ तब उन्होंने शुभ्र थनों को दुहा पृश्नि रूप में ('पृश्नि' दिव्य धेनु; अग्नि एक ही साथ वृषभ और धेनु रूप में आदिमिथुन, आदियुग्म; शुभ्र थन से ज्योति की धारा क्षरित हुई; अग्नि वृषभ होने पर भी थन उनका ही है इसलिए कि वे और पृश्नि अथवा उनकी प्राणशक्ति एक ही है; धारा बह रही है जब, तब वे निस्पन्द हैं और उसी प्रवाह में आधार तारुण्य से अभिषिक्त हो रहा है) ४।३।१०। [5] तु. ५।१६।१।

[1315] तु. यम से नचिकेता ने कहा — 'स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति, न तत्र त्वं न जरया बिभेति' क. १।१।१२; 'अजीर्यताम् अमृतानाम् उपेत्य जीर्यन् मर्त्य:' २८। प्राण के अवक्षय का और एक निमित्त व्याधि है, संहिता में जो 'अमीवा' है। अग्नि 'अमीवचातन:' — व्याधि को दूर कर देते हैं: तु. ऋ. 'कविम् अग्निम् उप स्तुहि सत्यधर्माणम् अध्वरे देवम् अमीवचातनम्' १।१२।७; ३।१५।१; 'ये भिस् तपोभिर् अदहो जरूथम् (जरा, तु. ७।९।६, १०।८०।३), प्र नि: स्वरं (चुपचाप): चातयस्वामीवाम् ७।१।७, ८।६; ३।१६।३; २२।४। योगाग्निमय शरीर में जरा-व्याधि-मृत्यु नहीं रहते, श्वे. २।१२। तु. [1] विजर विमृत्यु हुआ जा सकता है ब्रह्मपुर के छोटे कमल के घर में आकाश को जानकर, छा. ८।१।५; आत्मा को जानकर। ७।१, ३; मृत्यु को देखकर, क. २।३।१८ (पाठान्तर 'विरज:')। [2] संहिता में इस पदगुच्छ का अधिक उल्लेख है। तु. 'देव: प्रथम:' शौ. ५।२८।११, ऋ. 'देवानां देव:' १।३१।१, परि यद् एषाम् एको विश्वेषां भुवद् देवो देवानां महित्वा (महिमा में) ६८।२, ८।४।१२...। [3] तु. 'अजो भागस् तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस् तपतु तं ते अर्चि: यास् ते शिवास् तन्वो जातवेदस् ताभिर् वहैनं सुकृताम् उ लोकम्' १०।१६।४ मृत्यु के बाद प्राण-

जिनकी जननी हैं। पृथिवी में, अन्तरिक्ष में और द्युलोक में जो प्राण है उसके साथ उनकी एकात्मता है, वे [५]'विश्वायु' हैं, वे [६]'अमर्त्य' अथवा 'अमृत' हैं। सारे देवता ही अमृत हैं क्योंकि वे चिज्ज्योति हैं; किन्तु संहिता में यह विशेषण विशेषतया अग्नि के लिए ही प्रयुक्त है क्योंकि मर्त्य के भीतर वे ही प्रत्यक्ष अमृत-चेतना हैं एवं उनका आश्रय ग्रहण करके ही उसके अमृतत्व की एषणा है।[७]

जो अमृत हैं, वे अक्षर हैं और समस्त मर्त्य विभूति के 'अक्षीयमाण उत्स' हैं [१३१६]। अतएव काल की दृष्टि से वे नित्य[१] हैं। वे सब के [२]'पूर्व्य', [३]'प्रत्न' एवं [४]'प्रथम' हैं। साध्य और साधन दोनों रूपों में ही

चेतना का विश्व भर में फैल जाना : सूर्यं चक्षुर् गच्छतु वातम् आत्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा, अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितम् ओषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः १०।१६।३। ४ त्रीण्य आयूंषि तव जातवेदस् तिस्र आजानीर् (जन्मस्थान, जननी) उषसस् ते अग्ने ३।१७।३; चेतना के उत्क्रमण से भूलोक, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक में अग्नि की काल-व्याप्ति उनकी तीन आयु हैं; प्रत्येक के मूल में 'दिवो दुहिता' उषा अथवा प्रातिभ संवित् की प्रेरणा है; इसी प्रकार तुरीय धाम में अग्नि 'स्वर्वित्', तु. तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन क. १।१।१७, १८)। ये उषाएँ वरुण की अथवा महाशून्यता की 'वेनीः' अथवा प्रिया हैं ८।४१।३। अग्नि उनके एक पुत्र (८।१०१।६)। [५] तु. १।२५।३ (प्रतितुलनीय. 'अघायु मर्त्य'), ६।७।६, 'चित्तिर् अपां दमे विश्वायुः' अप अथवा प्राण प्रवाह के भीतर चेतना ('das geistige Prinzip' - Geldner) गृह अथवा आधार में सर्वव्यापी १।६७।१०। [६] तु. विश्वायुर् यो अमृतो मर्त्येषु ६।४।२, १०।६।३। प्राण १०, ६८।५, ७३।४, १२८।८, अमृतो विचेता: (विज्ञानमय) यो मर्त्येष्व् अमृत ऋतावा (ऋतमय) १।७७।१ (४।२।१), अमर्त्य मर्त्येषु ४।१।१, ११।५, २।१०।१ (२), ३।१।१८, प्रचेतसम् (प्रज्ञानमय) अमृतम् २७।५, अयं कविर् अकविषु प्रचेता मर्त्येष्व् अग्निर् अमृतो नि धायि (निहित) ७।४।४ (१०।४५।७), ८।७१।११, अमृतं जातवेदसम् तिरस् तमांसि दर्शतम् (अँधेरा पारकर दृश्यमान ७४।५, १०२।१७, १०।७९।१, 'सप्त धामानि परियन्न् अमर्त्यः' सात धामों में अनुस्यूत अमर्त्य १२२।३, ८७।२१...। वैश्वानर रूप में अमर्त्य:-३।२।११, २।१, अमृत ... तव क्रतुभिर् अमृतत्वम् आयन् ६।७।४, ७।४। और भी तु. अग्निर् अमृतो अभवद् वयोभिः (तारुण्य में) १०।४५।८; उनकी दृष्टि अमृत का केतु अथवा प्रज्ञापक है) ६।७।६; त्वां ... देवा अकृण्वन्न् अमृतस्य नाभिं ३।१७।४; अमृतस्य रक्षिता ६।७।७(७।३); अग्नेर् वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे (मनन करता हूँ जप करता हूँ) चारु देवस्य नाम (जिससे अदिति को पाते हैं) १।२४।२...।७ द्र. ६।७।४; समिध्यमानो अमृतस्य राजसि (ईशान होओ) ५।२८।२; ३।१७।४।

[१३१६] तु. ऋ. विश्वस्य नाभिं चरतो ध्रुवस्य (स्थावर-जंगम के) १०।५।३; आयोर् ह स्कम्भ उपमस्य नीळे ६ : असच् च सच् च परमे व्योमन् दक्षस्य जन्मन्न् अदितेर् उपस्थे, अग्निर् ह नः प्रथमजा ऋतस्य पूर्व आयुनि वृषभश्च धेनुः (अग्नि असत्, अग्नि सत्, अग्नि अनादि एवं आदि, पुरुष एवं प्रकृति) ७। अग्नि के परम स्वरूप का वर्णन। समस्त सूक्त ही ध्यातव्य। और भी तु. ३।२६।७, अग्नि अथवा साग्निक का वर्णन। [१] तु. 'आयुर् न प्राणः नित्यो न सूनुः' — तुम जीवन हो, प्राण हो और नित्य तनय की तरह हो (१।६६।१; आधार में अग्नि का आविर्भाव कालसापेक्ष है, अतएव वे जातक हैं, किन्तु स्वरूपतः वे नित्य हैं); क्रतुर् (सृष्टिवीर्य, संकल्प) न नित्यः ५; ३।२५।५, ५।१।६, १०।१२।२। [२] तु. १।२६।५, ७४।२, अमृतेषु पूर्व्यः ७२।७, ३।११।२, १७।२ दश क्षिपः (अँगुली) पूर्व्यं सीम् (उन्हें) अजीजनन्त (जन्म दिया, यद्यपि वे सबके मूल तु. १०।१२१।१ हिरण्यगर्भ सब के पूर्व थे, तब भी उनका जन्म हुआ) २३।३, ५।८।२, १५।१, २ (पूर्व्य अथच 'नवजात'), २०।३, ८।१७।२, २३।७, २२, त्वं हि असि पूर्व्यः ३७।२, आयुषु (प्राणधारियों में) ... देवेषु पूर्व्य ३७।१०, ७५।१। [३] तु. ३।७।८, त्वाम् अग्न ऋतायवः (ऋतकामी, 'ऋत' जीवन का दिव्य छन्द) सम् ईधिरे प्रत्नं प्रत्नास:-(देवता एवं यजमान दोनों ही सनातन) ५।८।१, ८।११।१०, २३।२०, २५, ४४।७, प्रत्न राजन् १०।४।१, ७।५, 'भूया (= भूयासम्) अन्तरा हृदय् अस्य (प्रत्नस्य) निस्पृशे जायेव पत्य उशती सुवासाः' — मैं उनके हृदय के बहुत ही निकट उसी प्रकार जाऊँ, जिस प्रकार उद्विग्न, उत्कंठित पत्नी जाती है पति के निकट सुवसना होकर (सज-सँवरकर),

अग्नि का प्राथम्य है। इष्ट की भावना को परम व्योम उत्तीर्ण करना ही साध्य की सीमा है। उस समय देवता आदिदेव, और सारे देवता उनकी विभूति हैं।[5] इसके अतिरिक्त यज्ञ अथवा उत्सर्ग भावना का प्रथम साधन है और साधना के पथ पर वे ही हमारे [6]'नेता' 'पुरएता' अथवा पुरोगामी एवं 'पुरोहित' हैं। जिस प्रकार वे आदि में हैं उसी प्रकार अन्त में है। देवयान का समस्त मार्ग उन्होंने आच्छादित कर रखा है।[7]

पहले ही हम बतला चुके हैं कि देवता परम, निरुपाधिक एवं तत् स्वरूप हैं — यह समझाने के लिए ऋक्संहिता में उनकी रहस्यमय संज्ञा 'असुर' [1216] है। जिस प्रकार शून्यता के देवता वरुण हैं उसी प्रकार उनके [1]'भ्राता' अग्नि भी असुर हैं। पृथिवी से अभीप्सा की ऊर्ध्व-शिखा द्युलोक में आदित्य की माध्यन्दिन द्युति में पहुँचती है और उसके बाद उसके भी उस पार वारुणी महाशून्यता में मिल जाती है। वहीं अग्नि [2]असुर अथवा परमदेवता की अनुपाख्येता या अनिर्वचनीयता हैं जो विशुद्ध सन्मात्र या विशुद्ध सत्ता होकर भी विश्व के ऋतच्छन्द के वर्धक हैं, निखिल विश्व के सम्राट् हैं। इसके अतिरिक्त परमपुरुष रूप में जो वरुण हैं — वे ही परमाप्रकृति रूप में [3]अदिति हैं। विश्वोत्तीर्णता एवं विश्वात्मकता में अग्नि

---

१०।५१।१२। प्रायशः 'ब्रह्म' के साथ 'ईड्य' (उद्दीप्त करना होगा जिन्हें)। [4] तु. त्वम् अग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिः (देवता और यजमान का सायुज्य) १।३१।१ (२) जोहूत्रो (बार-बार जिन्हें बुलाना होगा) अग्निः; प्रथमः पितेव २।१०।१, स जायत प्रथमः पस्त्यासु (स्रोतस्विनीसमूह में, नाड़ी तंत्र में) ४।१।११, त्वाम् अग्ने प्रथमं देवयन्तो (देवकाम) देवं मर्ता अमृत आ विवासन्ति (पाना चाहते हैं) धीभिः (ध्यानचित्त द्वारा) ... गृहपतिम् अमूरम् ४।११।५, ६।१।१, २, ८।२३।२२, १०।१२।२, १।२४।२, अग्निर् हि नः प्रथमजा ऋतस्य १०।५।७...। [5] द्वितीय मण्डल के आरम्भ में ही गृत्समद के अग्नि सूक्त में यही भावना है। [6] तु. अग्ने 'नय' सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् १।१८९।१, त्वं नेता वृषभ चर्षणीनाम् (चरिष्णुओं के; साधना देवयान के मार्ग पर चलना) ३।६।५, अग्निर् नेता भग इव क्षितीनां दैवीनाम् (द्युलोकवासियों के; भग आदित्य द्युति का प्रथम प्रवर्तन) २०।४; 'आ यस्मिन्त् सप्त रश्मयस् तता यज्ञस्य नेतरि' — ये सात रश्मियाँ प्रसारित हैं यज्ञ के जिस नेता द्वारा (आध्यात्मिक दृष्टि से 'सप्तरश्मि', लोक की दृष्टि से 'सप्त धाम', तु. 'तम [अग्नि को] ... नि षेदिरे [स्थापित किया] ... सप्त धामभिः ४।७।५; यज्ञ के भी 'सप्त धाम' ९।१०२।२, तु. योग में प्रज्ञा की सप्तभूमि; आधार में ये सप्त धाम आदित्य की रश्मि में ग्रथित हैं, तु. द्रा. ८।६।२; रश्मि एक ही [तु. द्रा. ।६], किन्तु सात लोक के कारण सात भाग, इसलिए सप्तरश्मि) २।५।२; 'यज्ञस्य नेता प्रथमस्य पायोर् जातवेदो बृहतः सुप्रणीते' — जो यज्ञ आदिम (तु. १०।९०।१६), (विश्व के) रक्षक एवं बृहत्, तुम उसके नेता हो, हे जातवेदा, हे स्वच्छन्द नायक ३।१५।४, 'प्राञ्चं (प्राग्रसर) यज्ञं नेतारम् अध्वराणाम्' (अग्नि स्वयं ही यज्ञ अथवा साधना का अभियान) १०।४६।४, 'यज्ञस्य रजसश्च (प्राणप्रवाह के) नेता' ८।६, 'नेता सिन्धूनाम्' (प्राणप्रवाह के, नाड़ियों के, तु. ४।५८।५ बृ. २।१।१९) ७।५।२...। 'पुरएता': तु. अदब्धः (अवंचित) सु पुरएता भवा नः १।७६।२ (३।११।५); उसी प्रकार 'पुरोगाः पुरोयावा'। 'पुरोहित': तु. 'अग्निम् ईळे पुरोहितम्' १।१।१, ४४।१०, ५८।३, पुरोहितो दमे दमे १२८।४, १०।१।६, अग्निर् देवानाम् अभवत् पुरोहितः ३।२।८, अग्निं सुम्नाय (सुख के लिए) दधिरे पुरो जनाः (अग्नि-सोम की ध्वनि) ३।२।५, ५।११।१...। सारा आर्त्विज्य अथवा ऋत्विक् कर्म उनका ही, तु. १।९४।६। यज्ञ उनका ही, वे ही यज्ञ तु. ७।११।२, १०।४६।४। [7] तु. अन्तर् (मध्य का) विद्वाँ अध्वनो देवयानान् १।७२।७, 'सुगान् (सुगम) पथः कृणुहि देवयानान्' १०।५१।५, 'अग्नेर् विश्वाः समिधो देवयानीः' २, ५।४३।६।

[1216] द्र. टी. मूल १२७० ऋ. ३।५५ सूक्त की टेक 'असुरत्वम् एकम्'। [1] द्र. ४।१।२, ५, अग्नि-वरुण संस्तव जो अनन्य है। अग्नि-सूर्य अथवा अग्नि-विष्णु का संस्तव प्रसिद्ध है। तु. ७।६२।२ (अग्नि, सूर्य, वरुण, मित्र, अर्यमा का सहचार); विश्वं स वेद वरुणो यथा धिया (अग्नि और वरुण में समानता) १०।११।१। [2] तु. ४।२।५, ५।१५।१, ७।२।३, 'ऋतस्य वृष्णे असुराय-

भी अदिति और [४]अदिति की तरह वे भी सब हुए हैं। जिस परम व्योम में अदिति का गर्भाशय एवं दक्ष का जन्म स्थान है एवं असत् - सत जहाँ युगनद्ध हैं, वहीं अग्नि हम सब के निकट ऋत के प्रथम नवजात शिशु रूप में तथा आदिम स्पन्दन से वृषभ और धेनु रूप में प्रतिभात होते हैं।[६]

अग्नि की यह परम परिचिति है। पृथिवी से परम व्योम तक, पार्थिव चेतना के स्फुलिंग से महापरिनिर्वाण की अनिबाध विपुलता तक उनका अधिकार परिव्याप्त है। अनुत्तम अथवा सर्वोत्कृष्ट नीड तक उच्छ्रित या उन्नत प्राण के स्तम्भ जैसे वे [१३१८], हम सब के जीवनायन के आदि और अन्त हैं।

यही अग्नि का सत्स्वरूप है जो हमारी अभीप्सा का परम अयन है। चेतना की अन्तर्मुखता से शुद्ध सत्ता में स्थिति होती है। तब अपने आप में रहना अथवा स्वयं में स्वयं की स्थिति होती है, संहिता में जिसकी संज्ञा 'स्वधा' है [१३१९]। संहिता में अग्नि भी विशेष रूप से 'स्वधावान्' हैं।[१] विश्व[२] के आदि छन्द से उत्पन्न होकर वे अपने आप में आनन्दमय सिसृक्षा के स्वाछन्द्य रूप में स्थित हैं; उनका नाम गोपन है और उनका अम्लान शरीर शुचि, हिरण्मय, चमक रहा है सोने की तरह; वे महान एवं कवि हैं, अच्युतस्वभाव हैं, आत्मविकिरण में संचारमाण, संचरणशील हैं। अतएव स्वधा उनका उल्लास एवं वीर्य या बल और कान्ति का आश्रय है।

---

५।१२।१, सम्राजो असुरस्य ७।६।१ ( दोनों ही वरुण की विशिष्ट संज्ञाएँ )। २ अदिति ही सब कुछ : तु. अदितिर् द्यौर् अदितिर् अन्तरिक्षम् अदितिर् माता स पिता स पुत्रः, विश्वे देवा अदितिः पंचजना अदितिर् जातम् ( जो कुछ उत्पन्न हुआ है ) अदितिर् जनित्वम् ( जो कुछ उत्पन्न होगा ) १।८९।१०। [४] तु. नि. अग्निर् अप्य अदितिर् उच्यते ११।२३। जिस प्रकार अग्नि की विशिष्ट संज्ञा 'पावक' है, उसी प्रकार अदिति की संज्ञा 'अनागा' अथवा अनपराध ( ऋ. ८।१०१।१५ ) उनके निकट ही हमारे समस्त अपराधों का प्रक्षालन होगा ( तु. ४।१२।४, १०।१२।८, १।२४।१५, ५।८२।६, अनागसं तम अदितिः कृणोतु ४।३९।३ ( १।१६२।२२ ), १०।६३।१०, अनागास्त्वे 'अदितित्वे' ७।५१।१। आगः < √अञ्ज्, लेपना, (छोपना) मलना ; मलिन करना तु. > अंजन ' अतएव ' अनागास्त्व ' निरञ्जनत्व, तु. मु. 'तदा विद्वान् पुण्य पापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यं उपैति' ३।१।३ ; अदिति आनन्त्य की चेतना, अतएव यही परम साम्य अथवा निरंजनत्व अथवा अनागास्त्व। अग्नि = अदिति : 'ददाशो (दिया) अनागास्त्वम् अदिते ( अग्नि का सम्बोधन ) सर्वताता ( सर्वात्म रूप में सब के भीतर व्याप्त होने से ) सर्वात्म भाव ही निरंजनत्व ) १।९४।१५, २।१।११, अमृतः कविर् अदितिर् विवस्वान् ( ज्योतिष्मान, दीप्तिमान परम देवता की संज्ञा ; अर्थात् च अमूर्त ) ७।९।३, ८।१९।१४ ; विश्वेषाम् अदितिर् यज्ञियानाम् ४।१।२०। ५ अग्नि का कथन : 'इयं मे नाभिर् इह मे सधस्थम् इमे मे देवा अयम् अस्मि सर्वः, द्विजा अह प्रथमजा ऋतस्येदं धेनुर् अदुहज् जायमाना' — देखो यह मेरी नाभि ( केन्द्रक ) है, यहाँ ही मेरा शक्तिकूट है, ये सारे देवता मेरी ही विभूति हैं, मैं ही यह सब कुछ हो रहा हूँ ; मैं द्विजन्मा हूँ ( अरणि अथवा द्यावा-पृथिवी से जन्मा ) और ऋत का प्रथम जातक हूँ ; ( मेरी ) धेनु ( अग्नि की अभिन्न शक्ति, तु. १०।५।६ ) ने दूध की धारा द्वारा क्षरित किया है यह सब ( विश्वरूप में ) स्वयं उत्पन्न होकर ( यह धेनु विश्वमूला वाक् अथवा 'गौरी' ; तु. १।१६४।४१-४२ ) १०।६१।१९ ; अग्नि ही विश्व अथवा सब है : १।१२८।६। ६. १०।५।७।

[१३१८] तु. ऋ. आयोर् ह स्कम्भ उपमस्य नीले १०।५।६ ( आयु = प्राण १।६६।१, तु. उपनिषद् का प्राण ब्रह्म, संहिता 'अप' अथवा जल की धारा उसका प्रतीक है, तु. हठयोग की ऊर्ध्वस्रोता कुण्डलिनी, संहिता में 'हिरण्ययो वेतसो [ नल, नली ] मध्य आसाम्' ४।५८।५। और भी द्र. शौ. स्कम्भब्रह्म सूक्त १०।७, ८। पशुयाग का यूप, वनस्पति अग्नि, 'दिवः स्तम्भनी स्थूणा', शिवलिंग — इन सब के मूल में भी यही भावना। [१३१९] तु. ऋ. आनीद् अवातं स्वधया तदेकम्, १०।१२९।२,

आकाश में उच्छलित आलोक की तरह सत्ता का यह विच्छुरण या छितराव-फैलाव ही प्रज्ञा है। अतएव अग्नि का मुख्य परिचय है कि वे 'विद्वान' हैं — वे जानते हैं [1220]। क्या जानते हैं वे? जानते हैं पथ का सन्धान, ऋत का छन्द, इसलिए वे सत्‌स्वरूप हैं।[2] वे जानते हैं मर्त्य एवं दिव्य जन्मको इसलिए भूलोक और द्युलोक के बीच दूत रूप में विचरण करते हैं जानते हैं वे,[3] अमृतत्व को सिद्ध करने के लिए कैसे वीर्य और वज्र-तेज का आहरण करना होता है, प्रातिभ संवित की तीन छटाओं में कैसे देवता का प्रसाद आधार में उतार लाना होता है तथा चित्ति और अचित्ति को मर्त्य के मध्य पृथक करना होता है। आधार में संजात होकर बृहत होते हैं वे, क्योंकि विष्णु रूप में वे जानते हैं अपना तृतीय परम पद, जिसके रक्षक वे स्वयं ही हैं।[4] वे ऋत्विक एवं ऋतुपति हैं, इसलिए जानते हैं ऋतुचक्र का आवर्तन और उसके ही छन्द में देवयान का रहस्य।[5] सात अरुणा बहनों के लिए उद्विग्न वे, जानते हैं मधु से कैसे उनको दृष्टि के सम्मुख ले आना होगा है।[6] वे जानते हैं उन धेनुओं का परम एवं गुह्य नाम, तप द्वारा आंगिराओं ने जिनकी सृष्टि की है यहाँ।[7] एक शब्द में कहें तो वे 'विश्ववेदाः' हैं — सर्वज्ञ

जहाँ कुछ भी नहीं है, वहाँ तत्‌स्वरूप वे ही एक अपने आप में स्थित हैं। किन्तु तब भी वे निष्प्राण नहीं, श्वास है। यही उनका 'असुरत्व' है। [1] तु. १।१४७।२, ३।२०।३, ४।१२।२, ५।२; न त्वद् (तुमसे) होता पूर्वो अग्ने यजीयान् न काव्यैः परो अस्ति स्वधावः ५।३।५, ८।४४।२०, १०।११।८, १४२।३। [2] तु. मन्द्र स्वधाव ऋतजात सुक्रतो १।१४४।७, नाम स्वधावन् गुह्यं बिभर्षि ५।३।२, तनुर् अवेपाः शुचि हिरण्यम्, तत् ते रुक्मो न रोचत स्वधावः ४।१०।६, महान् कविर् निश्चरति स्वधावान् १।९५।४।

[1220] तु. ऋ. 'प्रजानन् विद्वान्' ३।२९।१६ (प्रज्ञा और विद्या का समाहार), १।४।२, ४।१।४, ३।१६, ५।४।५, ७।७।१। [1] व्य् अब्रवीद् वयुना (पथ) मर्त्येभ्योऽग्निर् विद्वाँ ऋत चिद् धि सत्यः १।१४५।५; विद्वान् पथीनाम् उर्व अन्तरिक्षम् ५।१।११, ७।१।२४, त्वष्टा और वनस्पति रूप में १०।७०।९,१०; देवयान का मार्ग १।७२।७, पन्थानम् अनु प्रविद्वान् पितृयाणम् १०।२।७, ३।१८९।१, (३।५।६, ६।१५।१०, १०।१२२।२)। [2] तु. अन्तर् ह्य् अग्न ईयसे विद्वान् जन्मोभया कवे, दूतः २।६।७, १।७०।६, ४।७।८। [3] तु. अग्निः सनोति वीर्याणि विद्वान् त् सनोति वाजम् अमृताय भूषन् ३।२५।२, द्र. टीका १३१५ [4] तु. चित्तिम् अचित्तिं चिनवद् वि विद्वान् ... मर्तान् (= मेतनाम्) ४।२।११। 'अचित्ति' देवता को न देख पाना, आध्यात्मिक अन्धता, दृष्टिहीनता; तु. 'तपो वसो चिकितानो अचित्तान्' और, ओ आलोक तुम तो देख सकते हो, उनको सन्तप्त करो जो देख नहीं पाते ३।१८।२। [4] तु. विष्णुर् इत्था, परमम् अस्य (विष्णु का) विद्वाञ्जातो बृहन्न् अभि पाति तृतीयम् १०।१।३। विष्णु का परम पद १।२२।२०, २१, १५४।५, ६, ३।५५।१०, ७।१००।५; वही अग्नि का भी परम जन्म स्थान १।१४३।२, २।९।३, ६।८।२, ७।५।७, १०।४५।१, ८८।५; अग्नि और विष्णु की समानता ५।३।३ Geldner। अग्नि और विष्णु का साम्य समझाने के लिए औपनिषद या औपनिषदिक ब्रह्मघोष; 'योऽसाव् असौ पुरुषः सोऽहम् अस्मि' ई. १६; 'स यश् चायं पुरुषे यश् चासाव् आदित्ये स एकः' तै. २।८; 'प्रज्ञानं ब्रह्म' ऐ. ३।१।३; 'तत् त्वम् असि' छा. ६।८।७...। [5] तु. विद्वाँ ऋतूंर् ऋतुपते यजेह १०।२।१। जानना होगा कब आदित्य का उत्तरायण, दिव्य ज्योति का क्रमिक उपचय एवं उसके आधार पर चेतना की व्याप्ति। [6] तु. सप्त स्वसॄर् अरुषीर् वावशानो विद्वान् मध्व उज् जभारा दृशे कम् १०।५।५। सात बहनें अग्नि की सात शिखाएँ। 'मधु' वह घृत का विशेषण, आनन्द चेतना का प्रतीक; यहाँ अग्नि-चेतना का आनन्दमय संदीपन (उद्दीपन) लक्षित (द्र. टीका १३०७)। दृष्टि के सामने जो खिले-खुलेगा विकासित होगी वह 'विश्वरुचि' (मु १।२।४) अथवा 'बृहद्भानु' (ऋ. १।३६।१५, १०।१४०।१) विश्व को उद्भासित करने वाली ब्रह्मज्योति। तु. उद्

हैं – सब जानते हैं। हम मर्त्य मानव देवताओं के बारे में कुछ भी नहीं जानते। वे ही सब जानते हैं एवं सूक्ष्म रूप में जानते हैं।[९]

अग्नि की प्रज्ञा को समझाने के लिए उनकी एक असाधारण एवं सब से अधिक प्रयुक्त संज्ञा '**जातवेदाः**' है। यास्क ने अपने निरुक्त में इसको विशेष सम्मान देकर अलग व्याख्या की है[१३२१]। इस नाम के बहुप्रयुक्त होने पर भी संहिता में जातवेदा के लिए दो छोटे सूक्त हैं जिनमें एक केवल एक ऋक् का है और दूसरे सूक्त में तीन ऋक् हैं।[१] एक स्थल पर अग्नि स्वयं ही कहते हैं, 'मैं जन्म से ही जातवेदा हूँ।'[२] संहिता में इस नाम की व्युत्पत्ति का आभास कुछ इस प्रकार मिलता है— [३]'देवता अग्नि सूक्ष्म रूप में जानते हैं सब जन्म', [४]'अग्नि जानते हैं देवताओं का जन्म, जानते हैं मर्त्यों का गुह्य (जन्म रहस्य)', [५]'यहाँ जो पितृगण हैं, इसके अलावा जो यहाँ नहीं हैं, जिन्हें हम जानते हैं अथवा हम जानते नहीं, तुम हे जातवेदा जानते हो वे जितने हैं'। अर्थात देवलोक, पितृलोक अथवा

---

उ त्यं जातवेदसं (अग्नि में निरूढ़ संज्ञा का सूर्य में एक मात्र प्रयोग) देवं वहन्ति केतवः, दृशे विश्वाय सूर्यम् १।५०।१; उसके बाद सूक्त के अन्त में है उत्तर एवं उत्तम ज्योति का उल्लेख १०। [७]तु. यासाम अग्निर इष्टया नामानि वेद या अंगिरसस तपसेह चक्रुः १०।१६९।२। गौ अथवा धेनु वाक् का प्रतीक (तु. ८।१०१।१५, १६; यहाँ गोवध के प्रतिषेध का उल्लेख है)। और भी तु. 'ते मन्वत प्रथमं नाम धेनोस त्रिः सप्त मातुः परमाणि विन्दन' — उन्होंने (ऋषियों ने) मनन किया धेनु के प्रथम नाम का, खोज कर प्राप्त किया मां के इक्कीस नाम ४।१।१६। प्रथम नाम आदि वाक् 'गौरी', उनके रँभाने की ध्वनि में अक्षर का क्षरण अथवा सृष्टि १।१६४।४१, ४२, (तु. 'ओम')। उनके औरभी तीन पद या तीन भूमियाँ हैं अवरोह क्रमानुसार (तंत्र में पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी) ४५। प्रत्येक भूमि पर सात 'वाणी' अथवा व्याहृति अथवा लोकसृष्टि के मंत्र (तु. १।१६४।२४, सात छन्द भी हो सकते हैं; ३।१।६ अग्नि उनका एकमात्र शिशु ७।१, ८।५९।२, ९।१०३।३ ऋषियों की)। कुल बाईस नाम (तु. छा. २।१०; वहाँ का द्वाविंश यहाँ का प्रथम, वह है आदित्य के भी उस पार 'नाकं विशोकं')। और, विष्णु के परम पद पर आरूढ़ अग्नि 'गुह्यं नाम गोनाम' ...उसी प्रथम नाम अथवा ओम की रक्षा करते हैं (५।३।३)। सोम भी 'स चिद् विवेद निहितं यद् आसाम् अपीच्यं (आच्छादित) गुह्यं गोनाम्' ९।८७।३; वरुण भी अघ्न्या या अवध्या धेनु के इक्कीस नाम जानते हैं और साधक को बतला भी देते हैं ७।८७।४। वाक् के इक्कीस गुह्य नाम, अग्नि के इक्कीस गुह्य धाम अथवा विद्याभासिनी चेतना की इक्कीस भूमि; तु. त्रिः सप्त यद् गुह्यानि त्वे इत् (तुम से ही) पदा विदन् (प्राप्त किया) निहिता यज्ञियासः १।७२।६। और भी तुलनीय 'पदं न गोः' (धेनु के पद जैसा) अपगूलहं (वाक् का गोपन नाम) विविद्वान् अग्निर मह्यं प्रेद उ वोचन् मनीषाम् ४।५।३, अर्थात अग्नि के आवेश से मनीषा का स्फुरण एवं मंत्र रहस्य का विज्ञान। अग्निः > वाक्। [८]तु. १।२२।१, ३६।२, ४४।७, १२८।८, १४३।४, १४७।२; ३।२०।४, २५।१; ४।४।१२, ८।१; ५।४।३; ३।१५९।१, २९।७, कविः काव्येनासि विश्ववित् १०।९१।३ ...। [९]तु. 'नाहं देवस्य मर्त्यश् चिकेत, (यहाँ 'नचिकेता' नाम की व्युत्पत्ति) अग्निर अंग विचेताः स प्रचेताः' १०।७९।४; ३।१८।२। अग्नि की प्रज्ञा के सम्बन्ध में 'चिकित्वान्' प्रचेताः इन बोधक संज्ञाओं का अधिक प्रयोग किया गया है। तु. ऋतं चिकित्व ऋतम् इच् चिकिद्धि (आविष्कार करो) ५।१२।२, ६।१४।२, ७।४।४...।

[१३२१] द्र. नि. ७।१९-२०। ऋक् संहिता में केवल एक बार 'जातवेदाः' सूर्य का विशेषण है (१।५०।१), जिससे अग्नि और सूर्य का एकत्व सूचित होता है। [१] ऋ. १।९९ (सम्भवतः किसी लुप्त सूक्त का प्रथम ऋक्; अग्नि-सोम का सहचार लक्षणीय, अग्नि के प्रति सोमसवन का उल्लेख है, यद्यपि अग्नि विशेष रूप से सोमपायी नहीं;

मर्त्य लोक में जो कुछ 'जात' अथवा प्रादुर्भूत है उसे जो जानते हैं, वे जात वेदा हैं। एक और स्थल पर हमने पाया है कि वे मर्त्य एवं दिव्य दोनों जन्म के वेत्ता हैं और दोनों के बीच उनका आवागमन है।[9] इसे ऐतरेय ब्राह्मण में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है कि 'जातवेदा प्राण हैं क्योंकि जो कुछ जात या उत्पन्न हैं वे उसकी जानकारी रखते हैं।'[6] अर्थात जातवेदा प्रत्येक सत्त्व अथवा मौलिक उपादान या स्व-भाव में निहित वही गुहाचर (ब्रह्म) प्राणचेतना है जो उसकी उत्क्रान्ति अथवा उत्क्रमण के प्रत्येक पर्व या पड़ाव[10] (यही विभिन्न लोक अथवा चेतना के विभिन्न जन्म) का साक्षी है।

ऋक् संहिता के अनेक स्थानों पर बिखरे रूप में जातवेदा के उल्लेख के बावजूद कई मंत्रों के विवेचन से उनके वैशिष्ट्य का संकेत प्राप्त होता है [१३२२]। लगता है यज्ञ के पहले आविर्भूत दिव्य अग्नि की विशिष्ट संज्ञा 'जातवेदा' है। विश्वामित्र के एक अग्नि-मंथन के सूक्त के आरम्भ में है : १'दो अरणियों में निहित है जातवेदा, गर्भिणियों के सुनिहित गर्भ की तरह; दिन पर दिन जाग्रत रखेंगे जागते हुए और हव्य के साथ सारे लोग उसी अग्नि को। ... इलायास्पदे, पृथिवी की नाभि में हम तुमको हे जातवेदा, हे अग्नि, निहित करते हैं इसलिए कि हव्य वहन करोगे।' उसके बाद अग्नि मन्थन की एक सशक्त व्याख्या द्वारा बतलाया जा रहा है; 'यह अग्नि उत्पन्न होकर जो झिलमिलाते हैं, वे सब जानते हैं।' इस कथन में जातवेदा नाम की ध्वनि है। ... किन्तु केवल अरणियों से जातवेदा का जन्म नहीं होता अथवा चिरकाल वे शिशु ही नहीं रहते। वस्तुतः

---

नवम मण्डल में कश्यप मारीच का सोमसूक्त है; मण्डल के अन्त में सोमयाग की फलश्रुति के रूप में दो प्रसिद्ध सूक्त उनके द्वारा ही रचे गए हैं; उनके ८।२९ सूक्त में देवताओं का परोक्ष वर्णन अत्यन्त रोचक है); १०।१८८ (ऋषि आग्नेय श्येन हैं, यह नाम संभवतः उनकी साधना और सिद्धि का परिचायक है; तु. द्युलोक से श्येन का सोम आहरण ४।२६।४-७, ४।२७ सूक्त, ८।८२।९, ९।६८।६ ...)।
२ अग्निर् अस्मि जन्मना जातवेदा : ३।२६।७ यही अग्नि फिर वैश्वानर एवं यहाँ यज्ञस्वरूप। ३ तु. देवानां जन्म मर्तांश्च विद्वान् १।७०।६, अग्निष्टा विश्वा भुवनानि (होता, becoming) वेद ३।५५।१०; अग्निर् जन्मानि देव आ वि विद्वान् ७।१०।२, विश्वा वेद जनिमा जातवेदाः ६।१५।१३। ४ अग्निर् जाता देवानाम् अग्निर् वेद मर्तानाम् अपीच्यम् ८।३९।६। ५ ये चेह पितरो ये च नेह यांश्च विद्म याँ उ च न प्रविद्म त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः १०।१५।१३। ६ २।६।७। ७ ऐ.ब्रा. २।३९। ८ तु. ऋ. प्रतिक्षियन्तं (प्रत्येक वस्तु में वास कर रहे हैं) भुवनानि विश्वा २।१०।४, स गर्भम् एषु भुवनेषु दीधरत (स्थापित किया) ३।२।१०, जन्मन् जन्मन् निहितो जातवेदाः ३।१।२०, २१। ९ बौद्ध प्रस्थान में भी यहाँ भावना है। मृत्युक्षण मात्र च्युतिक्षण है; उसके बाद ही लोकान्तर में जन्म, अतएव मृत्यु के रूप में वस्तुतः कुछ नहीं। ऋक् संहिता में अग्नि का एक अनन्य विशेषण है - 'प्रेतीषणि', अर्थात संसार छोड़कर आगे जाने के रास्ते पर वे ही प्रचोदक या प्रेरक हैं ९।११।८। १० निरुक्त में 'जातवेदाः' की व्याख्या इस प्रकार है :- 'जातवेदाः कस्मात् जातानि वेद, जातानि वैनं विदुः, जाते जाते विद्यते इति वा, जातवित्तो वा जातधनः, जातविद्यो वा जातप्रज्ञानः, 'यत् तज् जातः पशून् अविन्दतेति तज् जातवेदसो जातवेदस्त्वम्' इति ब्राह्मणम् ७।१९।
[१३२२] जातवेदः सूक्त के एक सूक्त में मात्र तीन ऋक् हैं। जातवेदः के लिए रचित इस तरह के औचित्य का सन्धान प्राप्त होता है : ऋ. ३।१७।२-४ (भाव की दृष्टि से यह पूरा सूक्त जातवेदा का होना संभव) ५।४।८-११, ८।११।३-५। और भी द्रष्टव्य ९।७४ सूक्त। १ अरण्योर् निहितो जातवेदा गर्भ इव सुधितो गर्भिणीषु, दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर् हविष्मद्भिर् मनुष्येभिर् अग्निः। ... इलायास् त्वा पदे वयं नाभा पृथिव्या अधि, जातवेदो नि धीमह्य अग्ने हव्याय वोळ्हवे ३।२९।२, ४ (तु. १०।११।५; इला पार्थिव चेतना की द्युलोकाभिमुखी एषणा एवं अमृतचेतना में उसका रूपान्तर; वे अग्निमाता - मानवी एवं मैत्रावरुणी दोनों ही; विशेष विवरण द्र.

वे वैश्वानर[3] हैं; भुवन की मूर्धा परम व्योम में अव्यक्त असुर से उनका जन्म होता है। फिर वहाँ से विश्वभुवन को वे जन्म देते हैं।[4] उनकी तीन आयु हैं, तीन उषा उनकी जननी हैं। हमारे भीतर जो 'ऊर्क्' अथवा चेतना को मोड़ देने की शक्ति है, वे उसी के तनय हैं, जो निहित होते हैं धी अथवा ध्यान चेतना द्वारा।[5] सोमयाग के तीनों सवनों में ही वे सन्तत हैं, व्याप्त हैं।[6] वे अमृत के एवं उरुलोक के अथवा चेतना के अनिबाध वैपुल्य के विधाता हैं; उनका विशिष्ट कृत्य है समस्त दुरितों, पापों से परे हमें ले जाना और सभी विद्विष्ट अथवा विद्वेषी शक्तियों को खदेड़ देना।[7] अतएव हम देखते हैं कि रक्षोहा अग्नि को विशेष रूप से जातवेदा के रूप में सम्बोधित किया जा रहा है।[8] इसके अतिरिक्त यही जातवेदा जिस प्रकार यज्ञ या जीवन के आरम्भ में हैं उसी प्रकार उसके अन्त में भी हैं। अन्त्येष्टि की अग्नि का विशिष्ट नाम जातवेदा है। जो अग्नि मृतदेह को दग्ध करता है या जो क्रव्याद है, ये वह नहीं। बल्कि ये वही दिव्य अग्नि हैं जो देही के 'अजभाग' को प्रतप्त करके उरुलोक में ले जाते हैं और उससे आहुत तनु को दिव्य रूप प्रदान करते हैं।[9] जातवेदा मनुष्यों के इसी दिव्य जन्म के नेता हैं।

अग्नि का प्रज्ञान उनके कर्म के साथ नित्य जुड़ा है जिसके कारण वे देवयान मार्ग के दिशानिर्देशक हैं और जिसका परिणाम साम्य आनंद चेतना है [१३२३], उसी प्रज्ञान के कारण वे 'जागृवि' अथवा नित्य-जाग्रत हुए। यह विशेषण संहिता में अग्नि और[1] सोम के लिए निरूढ़ है। साधना के आरम्भ में अग्नि और अन्त में सोम देवता दोनों छोरों पर ही नित्य जाग्रत हैं। इसलिए समस्त मार्ग ज्योति का मार्ग है। सारे देवताओं में अनवद्य देवता अग्नि, माता पृथिवी और पिता द्यौः दोनों की गोद में जागे हुए हैं।[2] द्युलोक की तुंगता पर जो लोकोत्तर आनन्द धाम (नाक) है वहाँ वे वैश्वानर रूप में आरोहण करते हैं और नित्य जाग्रत रहकर एक ही अग्निपथ पर यातायात करते हैं।[3] उत्साहस के पुत्र हैं वे मनोद्युति के साथ जाग्रत हैं,[4] और अमृतों अथवा देवताओं में नित्य जाग्रत रह कर हम सब के भीतर रत्न निहित किया है।[5] नित्य जाग्रत होने के कारण ही वे देवयान-मार्ग पर 'अतन्द्र' दूत और हव्यवाहन हैं।[6] अग्नि की यह नित्यजागृति आध्यात्मिक दृष्टि से समनस्कता और सदाशुचिता है।[7]

---

आप्री देवता 'इला'; ('इलास्पद' इला का स्थान, यज्ञवेदि, तु. १।१२८।१, १०।१९१।१)। और भी तु. सौचीक अग्नि १०।५१।१, २, ७.)। [2] जातो अग्नी रोचते चेकितान: ३।२९।७। [3] तु. वैश्वानर ... जातवेद: ७।५।८, स जायमान: परमे व्योमन् ... भुवना जनयन् ७; असुरस्य जठराद् अजायत ३।२९।१४; यज जातवेदो भुवनस्य मूर्धन् अतिष्ठो अग्ने सह रोचनेन १०।८८।५। [4] ३।१७।३; द्र. टी. १३१५[4]। [5] ऊर्जो न पाज जातवेद: ...धीतिभिर् हित: १०।१४०।३। [6] तु. ३।२८।१, ४, ५। यह भी संभवत: जातवेद सूक्त है। [7] तु. ५।४।१०-११; ८; १।९९।१, ८।११।३। [8] यातुधानों के हन्ता १०।८७।२, ५, ६, ७, ११। [9] तु. १०।१६।१-५, ९-१०। इसके अतिरिक्त ऐब्रा. में ये गार्हपत्य योनि आहवनीय १।१६; द्र. ऋ. ६।१६।४०-४२।

[१३२३] अग्नि का प्रज्ञान एवं कर्म तु. ऋ. १०।८८।६ (तु. १६।८) : देवयान वा २७।२; प्रजानन् विद्वाँ उपयाहि सोमम् ३।२९।१६ (= ३५।४)। [1] तु. सोम ३।२७।८, ९।३६।२, ४४।३, ७१।१, ९७।२, ३७, १०६।४, १०७।६, १२। [2] तु. त्वं नो अग्ने पित्रोर् उपस्थ आ देवो देवेष्व् अनवद्य जागृवि: १।३१।९। [3] तु. वैश्वानर: प्रत्नथा (पहले की तरह ही) नाकम् आरुहत् ... समानम् अज्मं पर्येति जागृवि: ३।२।१२ (अज्म < √अज् 'उछल पड़ना', 'उत्क्षिप्त होना', तु. अग्नि; यहाँ बोध होता है कि अग्नि जिस मार्ग पर ऊपर की ओर चलते हैं वह देवयान का मार्ग है) तु. यदा क्षिपुर [पहुँचे] दिव्यम् अज्मम् अश्वा:

इस प्रसंग में अग्नि की एक और संज्ञा 'कवि' मननीय है। संहिता में इस संज्ञा का सब से अधिक प्रयोग अग्नि के लिए और उनके बाद सोम के लिए किया गया है। वेद में परमदेवता की एक संज्ञा 'कवि' है, यह जगत उनका अमर काव्य है [1324]। यास्क ने कवि की व्याख्या करते हुए उन्हें 'क्रान्तदर्शन' बतलाया है अर्थात कवि वे हैं जिनकी दृष्टि बहुत दूर तक जाती है।[1] उनकी इस व्याख्या का समर्थन ऋक् संहिता में है: [2]'नये-नये तन्तु आतत करते हैं सुद्युति अथवा सुदीप्त कविगण समुद्र की गहराई से द्युलोक तक।' इसके अलावा गत्यर्थक कव-धातु से भी वे 'कवि' की व्युत्पत्ति देते हैं। तब 'कवि' और 'ऋषि' समानार्थक होते हैं।[3] एक और व्युत्पत्ति अभिप्रायार्थक कु-धातु से सम्भव है। तब 'कवि' और विप्र समानार्थक होते हैं।[4] संहिता में 'कवि' के साथ-साथ 'ऋषि' और 'विप्र' यह विशेषण अनेक स्थलों पर पाया जाता है।[5] जान पड़ता है इन तीन शब्दों में अर्थ का अन्योन्य-संक्रमण हुआ है। उससे कवि का अर्थ किया जा सकता है कि जो हृदय की आकूति के प्रति भाव-विह्वल हैं और क्रान्तदर्शी भी हैं।" देवता और यजमान के बीच आकूति सेतु है। देवता को पाने के लिए यजमान की श्रद्धा एवं आकूति उसे कवि बनाती है। फिर देवता में 'मनस: प्रथमं रेत:' जो काम या कामना और विसृष्टि की ललक[6] है वही उन्हें भी कवि बनाती है। इसी ललक या आकूति की अभिव्यक्ति वाक् में होती है। अतएव कवि के साथ वाक् का घनिष्ठ सम्बन्ध है। श्रद्धा के आवेश में मनुष्य के हृदय में जो आकूति जागती है, वह उसके चिदग्नि का स्फुरण है; उसका ही स्फुरण सूक्त वाक् में है।[7] अतएव वाक् आग्नेयी[8] है, अग्नि इसलिए भी विशेष रूप से कवि हैं एवं सोम भी कवि हैं। काव्य की मूल प्रेरणा हृदय के उद्दीपन एवं आनन्द से प्राप्त होती है।[9]

---

['अश्वमेध के घोड़े'] 1|163|10)। [4] तु. अग्ने द्युम्नेन जागृवे सहस: सूनो 3|24|3। [5] दधात रत्नम् अमृतेषु जागृवि: 3|26|2 ('रत्न' प्रज्ञानघनता का प्रतीक, अग्नि विशेषतया 'रत्नधातम')। 'जागृवि' का और भी उल्लेख 3|3|6, 5|11|1, 6|15|8। [6] तु. 1|72|6, 8|60|15। [7] तु. क. 1|2|8।

[1324] तु. शौ. 'अन्ति वै नाम देवत. तेना. स्ते परीवृता, तस्या रूपेणे-मे वृक्षा हरिता हरितस्रज:। अन्ति सन्तं न जहात्य् अन्ति सन्तं न पश्यति, देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।'— उस देवता का नाम करुणा है, वे ऋत द्वारा परि-वेष्टित होकर आसीन हैं, उनके ही रूप में ये हरे-हरे वृक्ष पहने हैं हरियाली की माला; वे पास हैं, इसलिए कोई उन्हें छोड़ता नहीं, वे पास हैं तब भी कोई उन्हें देख नहीं पाता; देखो देवता का यह काव्य—यह मरता भी नहीं जराग्रस्त भी नहीं होता (10|8|31-32)। तु. ई. कविर् मनीषी परिभू: स्वयम्भूर् याथातथ्यतो ऽर्थान् व्यदधाच् छाश्वतीभ्य: समाभ्य:' 8। [1] तु. नि. मेधावी कवि: क्रान्तदर्शनो भवति 12|13। किन्तु व्युत्पत्ति < √क्रम नहीं; तु. IE. qeu 'to pay heed to'; SK. चि, चित्; GK akeuei 'watches'। [2] तु. ऋ. नव्यं नव्यं तन्तुम् आ तन्वते दिवि समुद्रे अन्त: कवय: सुदीतय: 1|159|4। 'समुद्र' हृद्य समुद्र (तु. 4|58|5, 10|5|1); 'तन्तु' प्रज्ञान की रश्मियाँ, और वह प्रज्ञान देवताओं की द्युलोक-भूलोक व्यापी माया का (द्र. इसी ऋक् का पूर्वार्ध)। [3] नि. कवतेर् वा 12|13 (तु. निघ. 2|14)। यास्क के मतानुसार 'ऋषिर् दर्शनात् (नि. 2|11) < √ऋष 'देखना'। किन्तु तु. √ऋष 'बहना, बहते रहना' जैसे 'एता अर्षन्ति हृद्यात् समुद्रतात्' 4|58|5, पूर्वम् अर्षत ई. 4 (तु. IE. ers, eras 'to flow')। अतएव ऋषि वे हैं जिनके हृदय से भाव अथवा वाणी की धारा प्रवाहित होती है और जो द्युलोक की ओर बहते तैरते जा रहे हैं। [4] धात्वर्थ 'अभिप्राय' से 'उतावलापन, उद्विग्नता' वही 'आकूति'। तु. शौ. 6|131|2, 'आकूति' वहाँ

संहिता में अग्नि का परिचय [१३२५] इस प्रकार है : वैश्वानर की देवमाया से (प्रकट हुए वही) बृहत, प्रकट हुए (वही) एक कवि कल्याण-कर्म का संकल्प लेकर; पिता और माता दोनों कोही दीप्तिमान करके उत्पन्न हुए अग्नि, द्युलोक और भूलोक (उसी से हुए) अपुरन्त अशेष वीर्य के आधार। अपने काव्य अथवा कविकृति से वे [१]सत्यधर्मा, स्वधावान् महाकवि हैं; जिनके काव्य की तुलना नहीं। कविरूप में ही वे विश्व[२] के सम्राट हैं समुद्र उनका वसन है, द्युलोक का सीमान्त एवं मेघ-माला उनकी द्युति से दीप्त है; वे प्रत्येक लोक को और द्युलोक के सभी नक्षत्रों को आच्छादित किए हुए हैं, दिशा-दिशा में विश्व-भुवन को विस्तार दिया है, विन्यस्त किया है। कवि के रूप में ही वे [३]द्वैधहीन, द्विधा रहित प्रचेता हैं, अमर्त्य और मर्त्य दोनों के रहस्य को जानते हैं जिसके कारण दो विद्याओं के मध्य वे दूत रूप में विचरण करते हैं और त्रिगुणित तीन विद्याएँ उनके अधिकार में हैं।[४] अथर्वा द्वारा समिद्ध होकर उन्होंने समस्त कविधर्म अधिगत किया और हुए विवस्वान के दूत, यम के काम्य प्रियजन; और इस कविधर्म के कारण ही वे विश्ववित् हुए। विवस्वान् के आनन्दमग्न कवि वे

---

देवी रूप में कल्पित, पुरुष का मन पाने के लिए कन्या उन्हें प्रणाम करती है—'आकूतिः सत्या मनसो मे अस्तु' ऋ. १०।१२८।४; हृदय की आकूति द्वारा श्रद्धा को प्राप्त करना १५१।४; सोम 'उशना काव्येन' ९।८७।३; किन्तु 'उशना' < √वश् 'चाहना' 'उद्विग्न होना', इसलिए 'काव्य' उद्विग्नता है, आकूति है जो कवि के भीतर है जिसके कारण वे 'विप्र' हैं। विप्र < √विप् 'आवेग से काँपना'; देवता 'विपश्चित्' अर्थात् वे हमारे कम्प्र या कम्पमान हृदय के आवेग को जानते हैं। ५ तु. ४।२६।१, सोम 'ऋषिर् विप्रः काव्येन' ८।७९।१, 'विप्रः कविः काव्येना स्वर्चनाः' (प्यार करते हैं स्वर्ज्योति को) ९।८४।५, ८७।३, १०७।७, विप्राः कवयो वचोभिः ... कल्पयन्ति १०।११४।५।[६] तु. १०।१२९।४,। ७ तु. वाक् का कथन १०।१२५।५; ऋषिगण कवि। ८ तु. विराट के मुख से अग्नि १०।९०।१३, ऐउ. मुखाद् वाग् वाचो अग्निः १।१।४ अग्निर् वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत् १।२।४...। तु. ऋक् ॥ अर्चिः ॥ अर्क 'गान'। ९ तु. सौम्यंवचः ऋ. ३।३३।५; 'अभि वाणीर् ऋषीणां सप्त नूषत'—ऋषियों की सप्त वाणी ने सोम का स्तवन किया, आह्वान किया (९।१०३।३), फिर सोम भी सहस्रधारः पवते समुद्रो वाचमीङ्खयः'—पवमान होकर सहस्रधार समुद्र की तरह बहते रहते हैं वाक् को आन्दोलित करके ९।१०१।६; तु. ३५।५); पदवीः (दिग्दर्शक) कवीनाम् ९।९६।६, १८ (यही अग्नि का भी विशेषण ३।५।१)।

[१३२५] ऋ. वैश्वानरस्य दंसनाभ्यो बृहद् अरिणाद् एकः स्वपस्यया कविः, उभा पितरा महयन्न् अजायताग्निर् द्यावापृथिवी भूरिरेतसा ३।३।११। मंत्र का तात्पर्य: अग्नि एक, अग्नि कवि। अग्नि ही 'बृहत' अथवा ब्रह्म हैं, वे वैश्वानर रूप में विश्वव्याप्त हैं, फिर नवजातक रूप में जीव के आधार में जन्म लेते हैं। उनके आविर्भाव से द्युलोक और भूलोक महावीर्य से अभिषिक्त हुए— बाहर और भीतर एक समान। यही उनका कल्याण कर्म है। 'अरिणात्' रेतोरूप में प्रवाहित हुए; यह रेतः वैश्वानर का ही है, अन्यत्र जिसे असत्कल्प आदि देवता का काम कहा गया है (१०।१२९।४)। उसी से द्यावा-पृथिवी भी 'भूरिरेताः'। अरिणात् < √रि ॥ री 'प्रवाहित होना'। निघ. 'रिणाति'। रीयते' गति कर्माणौ (२।१४)। दिवादिगणीय अकर्मक क्र्यादिगणीय सकर्मक एवं अकर्मक दोनों ही। धातु से ये तीन विशेष्य : 'रीति, रयि, रेतः'। यहाँ रेतः के साथ सम्बन्ध लक्षणीय। [१] १।१२।७, ९५।४, न काव्यैः परो अस्ति स्वधावः (आत्मस्थिति से ही अनुपम काव्य का उत्सरण) ५।३।५। [२] ६।७।१, ८।१०२।५, प्र यद् आनड् दिवो अन्तान् कविर् अभ्रं दीद्यानः १०।२०।४, वि यो रजांस्य् अमिमीत सुक्रतुर् वैश्वानरो वि दिवो रोचना कविः, परि यो विश्वा भुवनानि पप्रथे ६।७।७। [३] कविम् अद्वयन्तम् प्रचेतसम् ३।२९।५, २।६।७, उभे हि विदथे कविर् अन्तश् चरति दूत्यम् ८।३९।१

ऊर्ध्वस्रोता हैं, कवि रूप में वे ही अदिति एवं विवस्वान हैं किन्तु अमूर्त हैं।[6] वे सर्वजन अथवा सामान्य जन के कवि हैं;[7] हमारे भीतर जो बृहत् चेतना है उसके कवि के रूप में वे हमें क्लिष्टता से बचाते हैं, पाप वासना के स्पर्श से दूर रखते हैं।[8] पीछे आगे, नीचे ऊपर वे कवि और राजा के रूप में हमारी सुरक्षा के प्रति सतर्क दृष्टि रखते हैं। वे हमारे [9] 'गृहपति युवा कवि' हैं,[10] यहाँ तक कि जो अकवि हैं उनके भीतर भी प्रचेता कवि रूप में वे गुहाहित हैं — और[11] कवियों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या।[12] उनके काव्य, मनीषा और वाणी की साधना का उत्स यह कवि ही है। अतएव वे[13] इस मर्मज्ञ विद्वान कवि के निकट उड़ेल देते हैं अपना सारा काव्य, सारी गोपन एवं गहरी बातें, पथ की दिशा — मनन और वाणी रूप में कम्प्र हृदय के साथ।[14] वैश्वानर कवि के प्रति यही तो ब्रह्मवादियों का मंत्र है और विप्र के इस आदिम मंत्र में ही वे कवि अपने तनु को शोभित करके संवर्धित होते हैं।[15] इस कवि को ही देवात्म भाव की सिद्धि या सफलता के लिए सुनिर्मथन द्वारा निर्मथित एवं उत्तम स्थान में स्थापित करना होगा।

अग्नि के काव्य में अथवा कविधर्म में केवल प्रज्ञान एवं आकूति ही नहीं बल्कि सामर्थ्य भी है। इसलिए उनकी एक विशिष्ट संज्ञा 'कविक्रतु' है अर्थात जिनका सामर्थ्य क्रान्तदर्शी है। देवयान के मार्ग में वे हमारे

---

त्रीणि त्रिधातुस्य आ क्षेति विदथा कविः ५ ('विदथ' विद्या, देवता और मानवजन्म के रहस्य की दो विद्याएँ तु. ६, तीन विद्याएँ तीन लोक की — जिसमें तीन भागों में विभक्त तैंतीस देवताओं का अधिष्ठान तु. ५ लोक ओत-प्रोत हैं इसलिए त्रिगुणित तीन, अथवा प्रत्येक लोक के तीन भाग द्र. टी. १२५१[2]; अर्थात कवि अग्नि विश्ववित ३।१५।१, ५।४।३ ...)।[4] अग्निर् जातो अथर्वणा विदद् विश्वानि काव्या, भुवद् दूतो विवस्वतो ... प्रियो यमस्य काम्यः १०।२१।५ (अग्नि-ऋषि अथर्वा अग्नि को मंथन द्वारा सब के मूर्द्धन्य कमल से आविष्कृत किया ६।१६।१३। तु. आशुं दूतं विवस्वतो विश्वायश्चर्षणीरभि ४।७।४; विवस्वान परम ज्योति हैं, वे अग्नि को दूत बनाकर उनके पास भेजते हैं जो चरिष्णु हैं — स्थाणु नहीं अर्थात जो उद्यमशील हैं। तु. रोहित के प्रति इन्द्र का अनुशासन : 'इन्द्र इच् चरतः सखा चरैव'. ऐब्रा. ७।१५। फिर यम भी 'वैवस्वत' अथवा विवस्वान के पुत्र, वैवस्वत मृत्यु योगी की मृत्यु, वह अग्निशिखा के रूप में मूर्धन्य नाड़ी के भीतर से उत्क्रान्ति में संभव है। तु. मु. १।२।५ आधियाज्ञिक दृष्टि से, छां. ८।६।६ आध्यात्मिक दृष्टि से); अग्ने कविः काव्येनासि विश्ववित १०।५१।३ (द्र. टीम्. १२२०)।[5] मन्द्रः कविर् उद अतिष्ठो विवस्वतः ५।११।३, ७।५।३ (विवस्वान परम ज्योति, अदिति परमा शक्ति, अग्नि स्वरूपतः उनके साथ अभिन्न, एक)।[6] विशां कविः २।२।१०, ५।४।३, ६।१।८ विश उपनिवेश की स्थापना करने वाले आर्य समुदाय के सामान्य जन, कृषि, पशुपालन जिनकी वृत्ति या जीविका के साधन हैं एवं धेनु सम्पद है; तु. ८।३५।१६-१८; साधना की दृष्टि से ये प्रवर्त हैं; 'क्षत्र' एवं ब्रह्म-क्रमशः साधक एवं सिद्ध के सम्पद; अग्नि 'विश' के कवि अर्थात सब के कवि हैं। द्र. १२३२[3]।[7] त्वं नः पाह्य अंहसो जातवेदो अघायतः, रक्षा णो ब्रह्मणस्कवे ६।१६।३० अंहः चेतना का संकोचन (तु. Lat. angere 'to throttel, to cause pain, to torment', GK. agkhein 'choke, throttle', Eng. anxiety, OE. eng 'Narrow') और 'ब्रह्म' चेतना का विस्तार है। तु. अग्नि के निकट वामदेव की प्रार्थना : 'आरे (दूर हटाओ) अस्मद् अमतिम् आरे अंह आरे विश्वां दुर्मतिं यन् निपासि' ४।११।६।[8] १०।८७।२१ (द्र. टी. १२१४[3])।[9] निषसाद दमे दमे, कविर् गृहपतिर् युवा ७।१५।२, १।१२।६, ३।२३।१, ५।१।६, ८।१०२।१, ४४।२६।[10] अयं कविर् अकविषु प्रचेताः ७।४।४।[11] तु. देवाँ अयजः कविभिः कविः सन् १।७६।५।[12] त्वद् अग्ने काव्या त्वन् मनीषास् त्वद् उक्था जायन्ते राध्यानि ४।११।३।[13] एता विश्वा विदुषे तुभ्यं वेधो नीथान्य अग्ने निण्या वचांसि, निवचना कवये काव्यान्य अशंसिषं मतिभिर् विप्र उक्थैः ४।३।१६; तु. ४।२।२०, ५।१।१२।

दिशा निर्देशक हैं; हमारा लक्ष्य क्या है वह उनकी प्रज्ञा दृष्टि में स्पष्ट दिख जाता है एवं उसके ही प्रति नियोजित होती है उसकी प्रेषणा या प्रेरणा। यही उनके क्रतु का स्वरूप है [१३२६]। इस कारण से अन्तर की दहकती अभीप्सा में हम परमार्थ का जो आभास पाते हैं वही हमारे भीतर उत्तरायण का उद्दीपन सुरक्षित रखता है। तब अग्नि को 'प्रेतीषणि' कहते हैं।[1]

वैश्वानर रूप में अग्नि जिस प्रकार अतुर; प्रचेता हैं उसी प्रकार हमारे भीतर आयु के स्कम्भ और अतन्द्र कविक्रतु हैं एवं वेदान्त की भाषा में वे सत् हैं, वे चित हैं वे आनन्द भी हैं। सोम के साथ उनके घनिष्ठ सम्बन्ध से यही सूचित हुआ। इसके अलावा हमने देखा है कि अग्नि की कुछ विशिष्ट संज्ञाएं ज्यों की त्यों सोम की भी संज्ञाएं हैं। सोमयाग सभी यागों से श्रेष्ठ है जो मनुष्य के परम पुरुषार्थ अमृतत्व का साधक है [१३२७]। सोम इस यज्ञ की आत्मा है, यज्ञ की ज्योति है और अग्नि उसकी नाभि है. दोनों ही यज्ञ के साधन हैं। अग्नि से यज्ञ का आरम्भ और सोम से उसका समापन होता है। साधना के आरम्भ में अभीप्सा और अन्त में आनन्द। अभीप्सा के सहचर के रूप जो शक्ति या बल है उसके मूल में आनन्द की ही प्रेरणा है।[2] सोम आनन्द के देवता हैं।[3] अतः वैदिक भावना में अग्नि सोम एक विशिष्ट देवयुग्म है। वे अन्धतमिस्रा के कवल से बहुतों के लिए वह एक ज्योति छीनकर ले आते हैं जो हम सब के बृहत् की भावना द्वारा संवर्द्धित होकर चेतना के अनिबाध वैपुल्य में हमें मुक्ति प्रदान करती है।[4]

संहिता में इस सोम्य आनन्द का पारिभाषिक नाम 'मद' या मत्तता है। यह मत्तता मुख्यतः देवता से सम्बन्धित है; अतएव 'मन्दान, मन्दमान, मन्दसाने, मन्दत, मन्दन, मन्दिन और मन्द्र' उनके विशेषण हैं।

कविर् विप्रेण

१४ तु. १०।८८।१४; अग्निः प्रत्नेन मन्मना शुम्भानस् तन्वं स्वाम, कविर् विप्रेण वा वृधे ८।४४।१२। १५ तु. ३।२८।१२।

[१३२६] 'क्रतु': 'क्रतुं कर्म वा प्रज्ञां वा' नि. २।२८ ('कर्म' निघ. २।१, 'प्रज्ञा' ३।९)। 'अग्निं वृणाना वृणते कविक्रतुम्' ५।११।४, ६।१६।२३ — अग्नि को जो वरण करते हैं वे वरण करते हैं कविक्रतु को ही किन्तु अन्य किसी का नहीं तु. ९।९। 'कविक्रतु': तु. ऋ. १।१।५, ३।२।४, १४।७, २७।१२, ८।४४।७। यह संज्ञा सोम का भी विशेषण है — ९।२५।५, ६२।१३)। अभीप्सा साधना का आदि है, आनन्द उसका अन्त : देवता की क्रान्तदर्शी प्रज्ञा और वीर्य (शक्ति) दोनों का आधार है। १ द्र. टी मू. २९५, १३२१। ९।२।१०, ६।८,

[१३२७] तु. ऋ. ९।११३।८, ११, ८।४८।३। [1] आत्मा यज्ञस्य पूर्व्यः ९।२।१०, ६।८, ज्योतिर् यज्ञस्य ८।६।१०; नाभिं यज्ञानाम् ६।७।२। तु. अग्निं प्रथमो यज्ञसाधः १०।९।२।२ (विदथे; १२८।२, १४५।३, ३।२७।२, ८, ९।४४।११, विदथस्य साधनम् ८।२३।९; सोम 'मनुषो विद्या, प्रज्ञा', उसके साधन के रूप में यज्ञ विदथ) ८।२३।९; सोम मनुषो यज्ञ साधनः ९।७२।४, त्वं विप्रो अभवो ऽङ्गिरस्तमो मध्वा यज्ञं मिमिक्ष नः १०।७।६ (अग्नि का विशेषण सोम में)। [2] तु. इन्द्र ... पिबा सोमं शश्वते वीर्याय ३।३२।२५। इसके अलावा 'सोम इन्द्रियो रसो वज्रः सहस्रसा' — सोम इन्द्र का वही रस और वज्र है जो सहस्र सम्पद छीनकर लाता है ९।४७।३ (तु. ८।६।१०)। इन्द्र की समस्त कीर्ति के मूल में उसकी ही मत्तता है (तु. २।१५ सूक्त)। और भी तु. पुराण में 'बल'राम का मधुपान और महिषासुर में देवी का। सर्वत्र आनन्द वीर्य (शक्ति) का प्रचोदक अथवा प्रेरक है। [3] सोमेना नन्दं जनयन् ९।११३।६ सोमयाग के फलस्वरूप स्वधा (१०), ज्योति (७, ९) एवं आनन्द (११) =

जिस प्रकार 'सोमस्य मद:' है, उसी प्रकार 'सोम्य मधु' है [१२२८]। एक का आनन्द उद्दीपक उत्तेजक है और दूसरे का स्निग्ध है, कोमल है। वृत्रहन्ता इन्द्र की उत्पत्ति ओज से हुई है इसलिए वे जो कुछ करते हैं वह 'सोमस्य मद' में करते हैं; और जो अश्विद्वय द्युलोक की ज्योति के प्रथम आभास हैं वे 'मधुपातम' हैं, उनसे जुड़ा सब कुछ ही मधुमय है। अर्थात अन्तरिक्ष में जो आनन्द धीरोद्धत है, वही द्युलोक में धीरोदात्त और कभी धीरललित है। 'सोमस्य मद:' का पर्यवसान 'सोम्यं मधु' में है।

आग्नि के 'मद' अथवा मत्तता के बोध के लिए उनकी एक संज्ञा 'मन्द्र' है [१२२९]। वस्तुत: इस विशेषण पर आग्नि का ही एकाधिकार[1] है। विशेष रूप से 'मन्द्र: होता' के रूप में बहुत बार उनका वर्णन किया गया है।[2] उनका आवाहन देवताओं के

सत, चित, आनन्द की प्राप्ति। ४ द्र. टी. १२३१ : अवातिरतं बृसयस्य शेषोऽ विन्दतं ज्योतिर एकं बहुभ्य: ... ब्रह्मणा वावृधानोऽ यज्ञाय चक्रथुर उ लोकम् १।९३।४, ५। अग्नि 'सुषुमान' १०।३।१, सायण के अनुसार : 'ओषध्यात्मना स्थित: अंशु: सुष्ठु सूयते इति सुषु: सोम:, तेन तद्वान् शोभन प्रसवो वा'। किन्तु द्वितीय अर्थ में 'सुषु' नहीं 'सुषू', तु. सुषूर असूत माता ५।७।८।

[१२२८] 'सोम्य मद' का वर्णन ऋ. २।२५ सूक्त। 'सोम्य मधु' पान के लिए अग्नि को आमंत्रण १।१४।१०, १९।९, २।३६।४, ३७।२, ६।६०।१५; वायु को १।१४।१०, विश्वदेवगण को, वही; इन्द्र को ६।६०।१५, ८।२४।१३, ३३।१३, ६५।८, १०।९४।९; अश्विद्वय को ७।६७।२, ८।५।११, ८।९, ४, १०।४, ३५।२२; सूर्य को १०।१७०।१; मित्रावरुण को २।३६।६। [1] तु. मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धव: ...१।९०।६-८, मधुमतीर ओषधीर द्याव आपो मधुमन् नो भवत्व अन्तरिक्षम्, क्षेत्रस्य पतिर (तु. गीता का 'क्षेत्रज्ञ' फिर 'क्षेत्रवित्' ऋ. १०।३२।७, क्षेत्रवित्तर सोम १०।२५।८ ९।७०।९) मधुमान नो अस्तु ४।५७।३ (भीतर-बाहर सब मधुमय), मधु नो द्यावा पृथिवी मिमिक्षतां (क्षरण करते हैं) मधुश्चुता मधुदुघे मधुव्रते ६।७०।५ (द्युलोक भूलोक सब मधुक्षर हैं), 'मधुमन् मे परायणम् मधुमत् पुनर आयनम्' — मधुमय हो यहाँ से मेरा गमन, फिर मधुमय हो यहाँ मेरा पुनरागमन (तु. नचिकेता का 'साम्पराय' अथवा वैवस्वत यम के घर जाना और लौट कर आना) १०।२४।६। सुपर्ण अथवा आलोक के पक्षी 'मध्वद' (१।१६४।२२), एवं जीव 'पिप्पलाद' (२०, २२) अथवा 'मध्वद' (क. २।१।५)। [2] तु. ऋ. अश्वावद् अश्विना ... मधुपातम ... गोमत् ... हिरण्यवत् ('गो' पार्थिव आधार में अवरुद्ध ज्योति का प्रतीक, 'अश्व' प्राण अथवा ओज:शक्ति का एवं 'हिरण्य' परम ज्योति का) ८।२२।१७; 'मध्वा मदेम सह नू समाना:' — मधुपान में मत्त होंगे अब हम अश्विद्वय के साथ एक होकर ३।५८।६। उनके साथ मधु के सम्पर्क का उल्लेख अधिक है ४।४५ सूक्त।

[१२२९] मन्द्र < √मद॥मन्द् 'मत्त होना'। निघन्टु एवं निरुक्त में इस धातु का अर्थ इस प्रकार है : 'मत्सर:' सोमो मन्दतेस्, तृप्तिकर्मण: नि. २।५; 'मन्दते। मदति। मन्द्रयते', अर्चति कर्माण: (गीत गाने के अर्थ में) निघ. ३।१४; 'मन्दते' ज्वलतिकर्मा निघ. १।१६ (यह अर्थ विशेष रूप से आग्नि को लक्ष्य कर के); 'मन्द्रा' मदना ('हर्षकरी तर्पयित्री वा लोकस्य' – दुर्ग) नि. ११।२८; निघन्टु में 'मन्द्रा' वाक् १।११ (पास में ही गभीरा। गभीरा, इसी अर्थ की ध्वनि है) 'मदेमहि' याच्ञा कर्मा निघ. ३।१९; 'मदाय', 'मदनीयाय' जैत्राय (तत्र दुर्ग : जैत्राय इत्यध्याहृतं भाषा कारणे, द्विविधो हि मद: सम्मोह करो जैत्रश्च तयोर जैत्र इष्ट: संग्रामे; वही इन्द्र का मद है) 'मन्दू' मदिष्णू ('हर्षशीलौ नित्य प्रमुदितौ' – दुर्ग नि. ४।१२); 'मन्दमानाय' मोदमानाय, स्तूयमानाय, शब्दायमानाय इति वा नि. ११।९; 'मन्द्रजिह्वम्'

उनका आवाहन देवताओं के उद्देश्य से आनन्द का आवाहन है, और[3] हम सब की ऊर्ध्वमुखी अभीप्सा की आनन्दमय आकूति है। अतएव वे 'मन्द्रजिह्वः', मधुजिह्वः मधुवचाः हैं। लक्ष्य करने योग्य है कि 'मन्द्रः' सोम का भी एक सार्थक विशेषण है; जिस प्रकार अग्नि की शिखा मन्द्रा है, उसी प्रकार सोम की धारा भी मन्द्रा है।[4] साधना का आदि-अन्त सब ही उद्दीप्त वीर्य या शक्ति से आनन्दमय है।[5]

---

मन्दनजिह्वं मोदनजिह्वम् इति वा नि· ६।२३। मूल अर्थ 'आनन्द'; सहचरित 'ज्वाला, उद्दीपना', उसका परिणाम 'स्तुति, गान'। उससे वाक् 'मन्द्रा'। तु· IE. mad 'to wet, to trickle', GK madao 'flow'। १ तु· ऋ· मन्द्रो विश्वानि काव्यानि विद्वान् ३।१।१७, २।४, ४।२।७, 'असंमृष्टो जायसे मात्रोः शुचिर् मन्द्रो कविर् उद् अतिष्ठो विवस्वतः' — अपरामृष्ट तुम जन्मते हो माता-पिता से शुचि रूप में, आनन्दमग्न कवि तुम हो विवस्वान के (यहीं से) उठ आए हो (अग्नि के माता-पिता दो अरणियाँ उन्हें छुआ जा सकता है किन्तु अग्नि को जो इतने शुचि हैं कि उन्हें नहीं छुआ जा सकता; वे विवस्वान अथवा परम ज्योति के आनन्द और प्रज्ञा के वाहन हैं) ५।११।२, 'तं नाकं चित्रशोचिषं मन्द्रं परो मनीषया' — विशोक वे चित्रज्वालामय हैं, आनन्दमय हैं, मनीषा के उस पार हैं (शोकातिग पंचम लोक 'नाक' है, 'मनीषा' मन के भी उस पार है जो उपनिषद् की विज्ञानभूमि है, उसके बाद ही आनन्दभूमि है) ५।१७।२, 'त्वां हि मन्द्रतमम् अर्कशोकैर् ववृमहे महि नः श्रोष्य अग्ने, इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति राधसा नृतमाः' — इसी से हे परमानन्द तुम्हें हम गान के दहन या उद्दीपन द्वारा वरण करते हैं, महा (वाणी) हम सब की सुनो हे अग्नि: इन्द्र की तरह तुम शौर्य में एवं देवत्व में अथवा तुम आयु जिसे पुरुषोत्तम जन ऋद्धि से पूर्ण कर देते हैं ('अर्क' सुर की आग तु· अर्चिः, ऋक्; 'आयु' तु· अग्निं... अत्रेः सूनुम् आयुम् आहुः १०।२०।७; अग्नि की उपासना में पुरुष का जीवन ऋद्धि से भर जाता है ६।४।७, १०।१, 'आ याह्य अग्ने पथ्या अनु स्वा मन्द्रो देवानां सख्यं जुषाणः' — आओ अग्नि अपने सारे रास्ते तय करके, देवताओं के सख्य में तृप्त आनन्दमय रूप में (सोम की तरह अग्नि भी नाड़ी-संचारी तु· ८।११।२ और १०।३।१, विश्वदेवगण का अर्थात् चिद्वृत्तियों या चेतना की तरंगों का सौषम्य ही आनन्द है) विश्वदेवगण का अर्थात्... मन्द्र और वाक की सहचरता लक्षणीय ४, ७।७।२, 'अग्निर् मन्द्रो मधुवचा ऋतावा' मन्द्र और वाक की सहचरता लक्षणीय ४, ७।७।२, 'अग्निं मन्द्रं ... हृदयिर... ईमहे (हम पाना चाहते हैं) ८।४३।३१, ७४।७।२ १।२६।७, ३६।५, १४१।१२, ३।२।१५, ६।७, ७।८, १०।७, १४।१, ४।६।२, ५, ७।२, ५।२२।१, ६।१।६, ११।२, ७।८।२, ८।१, २, १०।५, ४२।३, ८।४४।६, ६०।३, १०३।६, १०।६।४, १२।२, ४६।४, ८। २ तु· ८।४३।३१ (किन्तु अग्नि को चाहने का उद्देश्य है विश्वदेवता को पाने के लिए)। अग्नि 'मन्द्रजिह्वः' ५।२५।२, ४।११।५, 'मधुजिह्वः' १।१३।३, ६०।३, ४४।६; 'मधुवचाः' ४।६।५, ७।७।४; और भी तुलनीय· १।७६।५, ५।२६।१, ७।१६।७ इसके अतिरिक्त वाक् भी 'मन्द्रा': 'मन्द्रां गिरो देवयन्तीः' (जो देवता को चाहते हैं) ७।८।३, ८।७५।४, 'वाक्... राष्ट्री (वाणी) देवानाम् मन्द्रा १००।१०, मन्द्रेषम् (एषणा) ऊर्जं (अन्तरावर्तन की शक्ति) दुहाना धेनुर् वाक् ११' अग्नि 'मन्द्रहोता' इस परिचय के साथ इस भावना का सम्बन्ध है (तु· 'परमपुरुष के मुख से अग्नि की उत्पत्ति, १०।९०।१३, और वाक की भी', ऐउ· १।४, २।४...)। भावार्थ सुस्पष्ट है कि आन्तरिक उद्दीपन एवं आनन्द ही कवि के मुख से दिव्य वाक् के रूप में व्यक्त होता है। ४ तु· 'मन्द्रं...सोमम् ४।२६।६, ९।६५।२८, 'मन्द्र ओजिष्ठो (सब से अधिक ओजस्वी) अध्वरे पवस्व (बहता रहे) मंहयद्रयिः' (संवेग को प्रवृद्ध, समृद्ध करो तुम; सीधे ऊपर की ओर ज्वार की तरह आनन्दधारा के बहते रहने की व्यंजना है) ६७।१, मन्द्रस्य रूपं विविदुर् मनीषिणः .... तत मर्जयन्त (शोधित किया) सुवृधं नदीष्व आ (नदी यहाँ स्पष्टतः नाड़ी) ६८।६· 'मन्द्रः स्वर्वित्' १०७।८ मन्द्रया सोम धारया वृषा पवस्व देवयुः (देवकाम) ६।१, १०७।८ ...। ५ अग्नि 'चन्द्र', एवं 'चन्द्ररथ' (२।२।५; चन्द्र < √ चन्द्॥ छन्द्) झिलमिलाना, चमकना, प्रकाश पाना, ऋग्वेद में इसी अर्थ में प्रयुक्त है);

सोम्य मद का पर्यवसान सोम्य मधु में होता है, उसका धारक एवं वाहक अग्नि है। यही भाव मेधातिथि काण्व के इस एक मंत्र में स्पष्ट रूप में व्यक्त हुआ है। ऋषि कह रहे हैं; 'हे अग्नि, वायु और इन्द्र के साथ पान करो सोम्य मधु मित्र के समस्त धाम लेकर [1330]।' अग्नि पृथिवी स्थान देवता हैं, वायु एवं इन्द्र अन्तरिक्ष स्थान और मित्र द्युस्थान देवता हैं। कविक्रतु अग्नि अभीप्सा की ऊर्ध्वशिखा हैं, वायु शुद्ध प्राण हैं;[1] इन्द्र शुद्ध मन हैं[2] और मित्र सर्वतोभास्वर आदित्य चेतना की द्युति हैं। उनकी अजस्र ज्योति में ही पवमान सोम का अमृतलोक है जो हम सब का परम काम्य है।[3] पृथिवी से इस परमपद तक मित्र के सात 'धाम' अथवा धर्म के क्रम हैं।[4] वे यज्ञ के भी सात धाम हैं जिनके भीतर से होकर पवमान सोम प्रवाहित होता है।[5] अभीप्सा की अग्निशिखा प्रत्येक धाम में उस सोम्य मधुर धारा का पान करके परम व्योम की ओर उठती जा रही है। यह साधना देवयान के ज्योतिर्मय मार्ग को पार कर आदि से अन्त तक एक आनन्द का अभियान है और अग्नि उसके 'मन्द्रः कवितमः' दिग्दर्शक हैं।

यहाँ हमने देखा कि अग्नि, स्वधावान, प्रचेताः, मन्द्र एवं कविक्रतु हैं। वे सत्य, चैतन्य, आनन्द एवं शक्ति हैं। उनका यह स्वरूप जिस प्रकार एक ओर विश्वोत्तीर्ण, विश्वातीत है, उसी प्रकार दूसरी ओर विश्व में विलसित है, विश्वमय है [1331]। विश्वातीत में जो अधिष्ठान रूप में सत्य है वही विश्व में ऋतच्छन्द में लीलायित है। सृष्टि के आरम्भ में आविर्भूत सत्य और ऋत एक युगनद्ध तत्व है, जिसके मूल में सर्वतोज्वलित एक तपःशक्ति है; यह परमव्योम में निषण्ण या प्रसुप्त अग्नि की ही शक्ति है।[1] अतएव अग्नि जिस प्रकार[2] अद्भुत सत्य, विज्ञान और ऋतचित् सत्य हैं उसी प्रकार फिर

---

सोम की धारा भी 'चन्द्र' √166।25, सोम 'हरिश (स्वर्णवर्ण) चन्द्रः' 26। अग्नि और सोम दोनों ही 'चनोहितः' आनन्द में निहित (3।2।2, 11।2, √1651, 'अद्रिभिः सुतो मतिभिश्चनोहितः' — पत्थर से दबा कर निचोड़ना और मनन द्वारा आनन्द में निहित 4; चनः <√ चन् ॥ कन् 'खुश होना, आनन्दित होना; आदर करना' तु. 'चा-रु', Lat carus 'dear', beloved', It. carezza 'endearment, caress')

[1330] ऋ. विश्वेभिः सोम्यं मध्व अग्न इन्द्रेण वायुना, पिबा मित्रस्य धामभिः 1।14।10

1. वायु विराट् पुरुष के प्राण से उत्पन्न 10।90।13। वे 'श्वेत' 7।90।3, √1।2।

2. इन्द्र 'जात एव प्रथमो मनस्वान्' 2।12।1। कौषी. में वे 'प्रज्ञात्मक प्राण' हैं 3।2। यास्क के मतानुसार अन्तरिक्ष स्थान देवताओं के आदि में वायु, किन्तु इन्द्र भी अन्तरिक्ष स्थान। अर्थात् अन्तरिक्ष के एक छोर पर वायु और दूसरे छोर पर इन्द्र — द्युलोक के सीमान्त पर। प्राणोच्छ्वासरूपिणी 'शवसी' उनकी माता, किन्तु वे वस्तुतः मन के निकटस्थ, प्राण वहाँ गुणीभूत। इन्द्र-वायु की सहचरता का उल्लेख ऋक्संहिता में अनेक स्थानों पर है। वही कौषीतकि उपनिषद् की भावना के मूल में है।

3. तु. √113।6, √,10। 4 तु. विष्णु के सात धाम 1।22।16, मित्र के धर्म; 'विष्णुस्त्रीणि पदा विचक्रम उप मित्रस्य धामभिः' 8।52।3 (तु. 1।154।4)।

5. अभक्त (आविष्ट हुए) यद् गुहा पदम्, यज्ञस्य सप्त धामभिः √1102।2। तु. अग्नि के सप्तधाम 4।7।5, 10।122।3। ये सात धाम अध्यात्म साधना की सप्तपदी; द्र. 9।62।16

[1331] ऋ. 10।8।8; अग्नि रात में वरुण अथवा लोकोत्तर अव्यक्त ज्योति, और दिन में मित्र की व्यक्त ज्योति। द्र. 61।11, टी. 1223,। 1 तु. ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत 10।190।1। 2 त्वं हि सत्यो अद्भुतः 5।23।2; —

ऋतस्वरूप भी हैं। ऋत विश्व का शाश्वत छन्दोमय विधान है।[3] जीवन जब उसका अनुगामी होता है तब ही हमारे भीतर द्युलोकाभिसारी अभीप्सा की शिखा जल उठती है। इसलिए 'ऋतजात'—यह अग्नि की एक विशिष्ट संज्ञा है।[4] जो ऋतजात, वे अवश्य ही [5]धृतव्रत अप्रमत्त एवं ध्रुव हैं,—वे अपने स्वधर्म से तनिक भी विच्युत नहीं होते। इसलिए वे 'ऋतावा:' (ऋतवान्)—[6]मर्त्यों में 'अमृत ऋतावा' हैं। ऋतवान् होने के कारण ही वे तारों से आच्छादित द्युलोक की तरह चिन्ता हैं, घर-घर में हँसी-खुशी से निखार देते हैं ऋजुता की समस्त साधना को। युवा कवि हैं वे अनेक के भीतर

---

सहि सत्यो यं पूर्वे चिद् यम् ईधिरे (समिद्ध किया है) २५।२, अग्निर् विद्वां ऋतचिद् धि सत्यः १।१४५।५; तु० ४।३।४, ५।३।७। अग्नि का सत्य उनकी भद्रकारिता, कल्याणकारिता, तु० यद् अंग दाशुषे (जो देता है उसके लिए) त्वम् अग्ने भद्रं करिष्यसि तवे तत् सत्यम् अंगिरः १।१।६। [3] ऋत (<√ऋ 'चलना') गति, विशेष रूप से आदित्य की एकनिष्ठ अविचलित एवं ज्योति से उद्भासित गति। उससे ऋतु का विधान। आदित्य का उदय-बिन्दु दाहिने-बाएँ डोलता है, उससे पृथिवी में प्राणलीला का पर्याय या क्रम दिखाई पड़ता है। आकाश की ज्योति अथवा आलोक में और पृथिवी के प्राण में जिस छन्द का दोलन है, वही ऋतुपरिवर्तन है। जिसमें प्राण और चेतना का ज्वार-भाटा या चढ़ाव-उतार होता रहता है। ऋतु के इस रहस्य को जान कर जो यजन करते हैं उन्हें 'ऋतुयाजी' या 'ऋत्विक्' कहते हैं। ऋक्संहिता में ऋतप्रशस्ति: 'ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर् ऋतस्य धीतिर् वृजिनानि हन्ति, ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः। ऋतस्य दृळ्हा धरुणानि सन्ति पुरूणि चन्द्रा वपुषे वपूंषि, ऋतेन दीर्घम् इषणन्त पृक्ष ऋतेन गाव ऋतम् आ विवेशुः। ऋतं येमान ऋतम् इद् वनोत्य् ऋतस्य शुष्मस् तुरया उ गव्युः, ऋताय पृथ्वी बहुले गभीरे ऋताय धेनू परमे दुहाते'—ऋत की स्निग्ध धारा ('शुरुधः' शुच अथवा ज्वाला को जो रुद्ध करते हैं, जल नि० ६।१६) सब कितनी हैं। ऋत का ध्यान करता है सारे पापों का मोचन ('वृजिनानि' <√वृज 'मोड़ना, मरोड़ना') ऋत की श्रुति लोगों के ('आयोः') बधिर कान को बेधकर बोधयोग्य और दीप्तिमान कर देती है। ऋत की जितनी है दृढ़मूल प्रतिष्ठा एवं जितना है दृष्टि को विभ्रान्त करने वाला सुदीप्त विस्मय ('वपूंषि'); ऋतद्वारा ही दीर्घकाल तक संचारित कर रखा है उन्होंने अमृतस्पर्श को ('पृक्षः'), ऋत के द्वारा ही किरणयूथ ('गावः') ने प्रवेश किया है ऋत में (अन्धकार में गुहाहित ज्योति का प्रकाश)। ऋत को जो जकड़े-पकड़े रहता है, वह ऋत ही प्राप्त करता है; ऋत का उद्धूसन त्वरित गति से खोजता है (गुहाहित) किरणों को; ऋत के लिए ही (द्यावा-) पृथिवी विपुल एवं गहन, ऋत के लिए ही वे दोनों परम धेनुएँ क्षरण करती हैं दुग्ध (४।२३।८-१०)। जीवन में ऋत की प्रतिष्ठा होने पर सूर्य-पवन, द्युलोक-भूलोक, ओषधि-वनस्पति, दिन-रात सब मधुमय हो जाता है (१।९०।६-८)। ऋत का चरम परिचय है 'ऋतं बृहत्', 'ऋतं महत्', 'सत्यं ऋतं बृहत्'। वेद के सारे प्रधान देवता 'ऋतावो' अथवा ऋतमय हैं। [4] 'नि त्वाम् अग्ने मनुर् दधे ज्योतिर् जनाय शश्वते, दीदेथ कण्व ऋतजात उक्षित'—हे अग्नि, मनु (आदिपिता) ने सब के लिए निहित किया है तुमको ज्योति रूप में, ऋत से उत्पन्न होकर तुम कण्व रूप में जल उठे हो, प्रवृद्ध होकर (सूक्त के ऋषि घोर कण्व, इसके अलावा अग्नि ही कण्व, ऋषि और देवता एक) १।३६।१९, १४४।७, ९८७।६ ऋत प्रजात: ६५।१०,

ऋतवान होकर छितरा दिया है स्वयं को, धारण किए हैं कर्षकों को उनके भीतर सम्भिद्र होकर। [८] उनका ऋतच्छन्द हम सब को अवीरता से, मन के इस दुर्बासा दारिद्र्य से तथा क्षुधा एवं राक्षसों से बचाएगा — घर या वन में कहीं भी हमें भूलकर टेढ़े मेढ़े रास्ते पर नहीं ले जाएगा। ऋतवान होने के कारण ही वे बृहत् हैं। [१०] केवल वही नहीं, [११] वे ही ऋत हैं, इसलिए सारे देवता उनके व्रत के अनुगामी हैं। चित्त-संवेग या मनश्चेतना के साथ इस ऋत स्वरूप अमृत की परिचर्या करके ही सब लोग देवता का नाम और देवत्व प्राप्त करते हैं। वे ऋत की प्रेषा हैं, ऋत के ध्यान हैं। [१२] वे विश्व के महत् हैं ऋत के चक्षु और रक्षक हैं; वे वरुण होकर ऋत के पथ पर चलते हैं। [१३] ऋत के लिए ही है उनकी सप्तपदी और उसीसे उनके अपने तनु से मित्र का जन्म।

---

३।६।१०, २०।२, ६।७।१, १३।३। [५] 'धृतव्रत' : अग्ने धृतव्रताय ते समुद्रायेव सिन्धव:, गिरो वाश्रास ईरते (वाणियाँ मुखर होकर दौड़ती चलती हैं) ८।४४।२५; तु. त्वे विश्वा संगतानि व्रता ध्रुवा यानि देवा अकृण्वत १।३६।५ अदब्ध व्रत प्रमति: (उनके व्रत अथवा इच्छाओं के स्वातंत्र्य की उपेक्षा सम्भव नहीं, तु. २।८।३, ६।७।५) २।८।१, 'अधा धर्माणि सनता न दूदुषत्' — और किसी समय भी धर्म का उल्लंघन वे नहीं करते ३।३।१। 'अप्रमत्त' (अप्रयुच्छत्), १।१४३।८, ३।५।६, १०।८८।१६। 'ध्रुव' ६।७।४,५, 'यो मर्त्येषु निध्रुविर्' (गहराई में प्रतिष्ठित, अवस्थित) ऋतावा ७।३।१। [६] १।७७।१, २,५; ऋतुपा ऋतावा २।२०।४ (तु. 'अग्ने देवाँ इहा वह सादया योनिषु त्रिषु, परि भूष पिब ऋतुना' — हे अग्नि, देवताओं को यहाँ बुलाकर लाओ, उनको निवेशित करो तीन योनियों में; दिशा-दिशा में फैल जाओ और ऋतु के साथ सोमपान करो १।१५।४ 'तीन योनि' तीन अग्निजननस्थान, आध्यात्मिक दृष्टि से मूर्धा, भ्रूमध्य एवं हृदय के तीन आवसथ तु. ऐउ. १।३।१२; 'ऋतु' इस मंत्र में ग्रीष्म का उत्तरार्द्ध मास शुचि; तु. २।३६।४, विशेष विवरण द्र. 'द्रविणोदा:') [७] तु. ऋतावानं विचेतसम् पश्यन्तो द्याम इव स्तृभि:, विश्वेषाम् अध्वराणां हस्कर्तारं दमेदमे ४।७।३ ('विचेता:' तु. चित्तिम् अचित्तिं चिनवद् वि विद्वान् ४।२।११; तारों से आच्छादित आकाश में वारुणी चेतना की ध्वनि, सारी रात अग्निहोत्री के अग्निमंत्र का मनन चलता है, उसके बाद भोर के समय उषा की हँसी फूट पड़ती है १।८२।६, दोनों ही आग्नेयी चेतना अथवा अभीप्सा का परिणाम), सदम् (सर्वदा) इत् ऋतावा ७। [८] युवा कवि: पुरुनि:ष्ठ ऋतावा धर्ता कृष्टीनाम् उत मध्य इद्ध: ५।१।६। तु. क. अंगुष्ठमात्र: पुरुषो ज्योतिर् इवाधूमक: .... मध्य आत्मनि तिष्ठति २।१।१३, १२। 'कृष्टय:' निघ. २।३, मूलत: कर्षक, पवर्त साधक का उपमान। [९] ऋ. मा नो अग्ने अवीरते परा दा दुर्वाससेऽमतये मा नो अस्यै, मा न: क्षुधे मा रक्षस ऋतावो मा नो दमे मा वन आ जुहूर्था: ५।१।१९। प्राण की वीर्यहीनता, मन की निर्लज्ज दरिद्रता, लोलुपता, कार्पण्य, कौटिल्य — ये सब 'अनृत' हैं। [१०] तु. प्र मंहिष्ठाय गायत ऋतावने बृहते ८।१०३।८; अग्ने मित्रो न बृहत ऋतस्यासि क्षत्ता (ईश्वर) ६।१३।२; यजा देवाँ ऋतं बृहत् (सारे देवता एवं अग्नि दोनों का बोध होता है) १।७५।५। अग्नि 'बृहत्' : 'त्वं वाजं प्रतरणो बृहन्न् असि' — तुम वही ओजस्विता हो जो सामने आगे-आगे लेकर चलती है, तुम वही बृहत (ओजस्विता बृहत् को प्राप्त करवा देती है) हो, २।१।१२, १०।१।१, जातो बृहन्न् अभि पाति तृतीयम् (विष्णु का परमधाम; अग्नि और विष्णु की एकता) ३.... । [११] तु. ऋतस्य (अग्ने:) देवा अनुव्रता गु: १।६५।२ भजन्त विश्वे देवत्वं नाम ऋतं (अग्निं सपन्तो अमृतम् एवै:

शाकल्य पराशर का कथन है कि ऋतप्रजात यह अग्नि सोम की तरह ही **'वेधाः'** अर्थात् वेधक [१२२२] है। ऋक्संहिता में यह विशेषण विशेष रूप से अग्नि का है अर्थात वे ही 'वेधस्तमः' हैं।[१] शर लक्ष्य वेध करता है; उसके साथ हम पुरुषार्थ सिद्धि की उपमा उपनिषद् में पाते हैं।[२] संहिता में बतलाया जा रहा है कि जो शरक्षेप करना चाहता है अग्नि अपने सृष्टि बल के कारण उसके वेधाः अर्थात् देवता का बल अथवा शौर्य ही साधक की ओर से लक्ष्य वेध करता है।[३] शर इधर उधर हिलता डुलता नहीं; वह ठीक रास्ता पहचान कर लक्ष्य तक पहुँचता है।[४] उसी प्रकार वेधा अग्नि भी सीधे समस्त घाट बाट जानते हैं क्योंकि देवयान के वे ही दिग्दर्शक हैं। इस मार्ग पर राक्षसबाधा है;[५] सुधन्वा अग्नि तप्ततम शरजाल से 'विद्ध करते हैं' — उनका हृदय एवं मर्म।[६] फिर ऊर्ध्वशिख होकर शरक्षेप द्वारा हमारे रास्ते से उनको हटा देते हैं, हमारे निकट प्रकट करते हैं अपनी समस्त दिव्य शक्ति; जो शत्रु जादू का प्रयोग

---

(संवेग के द्वारा) ६८४; ऋतस्य (अग्नेः) प्रेषा ऋतस्य धीतिः (यह सब क्रिया है; विश्व के सब कुछ के मूल में अग्नि का अनुध्यान और प्रेरणा)[५]। तु. अग्निर्जातर् ऋतस्य कविः ८।६०।५; ३।५।८, ७।७।६।१२ भुवश् चक्षुर् मह ऋतस्य गोपा भुवो वरुणो यद् ऋताय वेषि १०।८।५। तु. ५।१२।१-२ (द्र. टीका १२२०)।१२ ऋताय सप्त दधिषे पदानि जनयन् मित्रं तन्वे स्वायै १०।८।४, ८।७२।१६। तु. टी. १२२०[५]। सप्तम भूमि पर मित्र अथवा 'विश्वरुचि' का प्रकाश अग्नि में ही।

[१२२२] तु. सोमो न वेधा ऋत प्रजातः १।६५।१०। **वेधाः** मेधावी निघ. ३।१५; सायण की व्युत्पत्ति < वि√ विधाताऽभिमत फलस्य कर्ता १।६०।२। वस्तुतः <√विध ॥ विद्, व्यध् (विद्ध करना, शर की तरह लक्ष्य तक पहुँचना : तु. 'न विन्धे अस्य सुष्टुतिम्' — इनकी शोभन स्तुति के पार नहीं पहुँच सकता १।७।७। ; 'अयं वां वत्सो मतिभिर् न विन्धते' — (हे अश्विद्वय) यह तुम्हारा वत्स (ऋषि का नाम; इसके अलावा 'सन्तान') मनन द्वारा तुम तक नहीं पहुँच पाता ८।९।६, 'य उक्थेभिर् न विन्धते' — जो (इन्द्र) वाणी से परे हैं उन तक वचन द्वारा पहुँचना सम्भव नहीं ५।१३। √विध् के परिचरण अर्थ का मूल यहाँ है, लक्ष्य तक पहुँचने का प्रयास ही परिचर्या है। अतएव 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' = किस देवता के निकट आत्माहुति द्वारा पहुँचेंगे हम (१०।१२१ सूक्त की टेक); √विध् गत्यर्थक होने से ही 'देवाय' इस चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग संगत होता है। इसके अतिरिक्त निघण्टु में 'वेधाः' ऋत्विक अर्थात जिनकी सिद्ध चेतना लक्ष्य तक पहुँच चुकी है : तु. शंसात् उक्थम् उशनेव वेधाः ४।१६।२ (उशना वहाँ सिद्ध चेतना का आदर्श है, ऋक्संहिता के विख्यात ऋषि, एक कवि उशना इन्द्र के साथ जिनका सायुज्य है ४।२६।१ और एक हैं काव्य उशना) वेधसे स्तोमैर् विधेमाग्नये ८।४३।११ (अग्नि वेधा, लक्ष्य तक पहुँचे ही हुए हैं अब हम उनके निकट पहुँचेंगे गीत की लहर लहर में)। लक्ष्य तक पहुँचना संहिता में 'मेधा' (< मनस् √धा, तु. मन्धाता) योग में 'समाधि'; निघण्टु में इसी लिए 'वेधाः' मेधावी (तु. 'सनिं मेधाम् अयासिषम्' — पहुँचे हम उस मेधा तक जिससे लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है १।१८।६)। तु. टी. १२६१[६]। [१] १।६०।२, अग्निर् वेधस्तम ऋषिः ६।१४।२ ऋषि भी वेधाः, वे भी लक्ष्य की ओर अग्रसर हैं)।[२] तु. मु. २।२।३,४ : उपनिषत अथवा प्रणव धनु उपासानिशित (उपासना द्वारा तीक्ष्णीकृत) आत्मा शर और अक्षर ब्रह्म लक्ष्य; अप्रमत्त होकर लक्ष्य वेध करना होगा, शर की तरह तन्मय होना होगा।[३] ऋ. 'क्रत्वा वेधा इषूयते ... वह्निर् वेधा अजायत' अर्थात् हव्य अथवा आकूति को वहन

मारते हैं उनके कठिन चर्म को अलग कर देते हैं और वे चाहे आत्मीय हों या अनात्मीय उनको चूर-चूर कर देते हैं, उन्हें नष्ट कर देते हैं। उनकी यह वेध शक्ति चर्षणि मनुष्यों के ही प्राणोच्छ्वास से उत्पन्न है। इसके अतिरिक्त ये वेधा अग्नि ही देवयान के मार्ग पर आवेगकम्प्रता की समस्त ज्योति लेकर चलते हैं। [9] इसलिए वेधा रूप में वे कवितम हैं। [10]

अग्नि की एक अन्य विशिष्ट संज्ञा 'गोपाः' अथवा रक्षक है [1323]। प्रति दिन जब आकाश में उषा की ज्योति फूटती है और सूर्य के उदय होने पर नये जीवन की सूचना होती है तब ये अग्नि होते हैं हम सब के 'गोपाः' अथवा ज्योतिरक्षक। [1] नित्य जाग्रत अतएव 'अदब्धो गोपाः' हैं [2] वे प्रवर्त साधकों के [3] ऋजुता के पथ पर [4]

करके वे लक्ष्य तक पहुँचते हैं १।१२८।४। [4] वेत्था हि वेधो अध्वनः पथश्च ६।१६।३ (तु. अग्ने नय सुपथा राये... विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् १।१८९।१। [5] अस्ता.सि (तुम धानुकी; धनुर्धर), 'विध्य' रक्षसस् तपिष्ठैः ४।४।१ (तु. रक्षोहा अग्नि के सम्बन्ध में १०।८७।४, ६, १२, १७)। [6] ऊर्ध्वो भव प्रति विध्या ध्य अस्मद् आविष्कृणुष्व दैव्यान्य अग्ने, अव स्थिरा तनुहि यातुजूनां जामिम् अजामिं प्र मृणीहि शत्रून् ४।४।५ प्रत्यक्ष शत्रु 'अजामि' और मुखौटा धारी 'जामि'। अध्यात्म साधना में अविद्या कभी-कभी मुखौटा लगाकर आती है। वही 'यातु' अथवा 'अदेवी माया' है (तु. अग्नि 'प्र.देवीर् मायाः सहते दुरेवाः' — दुश्चरित अदिव्य माया जितनी भी है सब को वे अभिभूत करते हैं ५।२।९; तु. 'पतङ्गम् अक्तम् असुरस्य मायया हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः, समुद्रे अन्तः कवयो वि चक्षते मरीचीनां पदम् इच्छन्ति वेधसः' — असुर की माया से आच्छन्न इस पक्षी को मर्मज्ञ हृदय और मन द्वारा देखते हैं, कविगण समुद्र की गहराई में देखते हैं और वेधागण अथवा मेधावी मरीची समूह का धाम पाना चाहते हैं १०।१७७।१; 'पतंग' अन्तर्ज्योति; 'समुद्र' हृद्य समुद्र; 'मरीचियों का धाम' जहाँ चेतना का रश्मिजाल संहत है; किन्तु (द्र. टी. ११८[2])। [7] स विप्रश् चर्षणीनां शवसा मानुषाणाम्, अति क्षिप्रेव विध्यति ४।८।८ (शवसा < √शू 'फूल जाना'; तु. इन्द्र 'शू-र', उनकी माता 'शवसी' ८।४५।५, ७७।२)। [8] विपां ज्योतींषि बिभ्रते न वेधसे ३।१०।५। द्रष्टव्य. अग्नि स्वयं 'विप्र' अथवा आवेगकम्पित। हृदय के आवेग की ज्योति ही योग की हार्दज्योति है। अग्नि अथवा अभीप्सा उसका भर्ता या प्रतिपालक है। [9] कवितमः स वेधाः ३।१४।१, ४।११।२०, ३।१६, अग्ने कविर् वेधा असि ८।६०।३, वेधसे कवये वेद्याय ५।१५।१। कवि क्रान्तदर्शी; अतएव समस्त अग्निपथ बोधि अथवा हृदय की दीप्ति से उज्ज्वल है। [10] अग्नि की तरह इन्द्र एवं सोम भी वेधा। सात अथवा इक्कीस पाषाणपुरी की ओट में जो वराह है उसे इन्द्र विद्ध करते हैं (द्र. सायण भाष्य ८।७७।१० १।६१।७ तै.सं. ६।२।४।२)। सोम: 'त्री ष पवित्रा हृद्य अन्तर् आ दधे, विद्वान्त्स विश्वा भुवनाभि पश्यत्य अवाजुष्टान् विध्यति कर्ते अव्रतान्' — तीन छालनी या छलनी उन्होंने अन्तर्हृदय में स्थापित किया है; वे विद्वान हैं विश्वभुवन की ओर दृष्टि रखते हैं; जो अजुष्ट एवं अव्रत हैं उन्हें विद्ध करके गहरे में फेंक देते हैं ९।७३।८ ('पवित्र' सोमरस को शुद्ध करने के लिए मेषलोम की छलनी; ये तीन छलनी या चलनी हैं अग्नि, वायु और सोम तत्व, — सायण ९।९७।५५। अजुष्ट, जो देवता द्वारा असम्भुक्त या देवता के प्रसाद से वंचित हैं। कर्त, गर्त, गुहा — जहाँ अविद्या का अँधेरा है। हृदय में अवरुद्ध सौम्य आनन्द की धारा देवता की वेधाशक्ति से मुक्त होती है)। अग्नि-सोम का वेधकर्म १।६५।१०। इन्द्र-सोम: 'इन्द्रासोमा दुष्कृतो वव्रे अन्तर् अनारम्भणे तमसि प्र विध्यतम्, यथा नातः पुनर् एकश् चनोदयत्' — हे इन्द्र, हे सोम, दुष्कर्मी दुराचारियों को कुएँ में गहरे अवलम्बन रहित अँधेरे में प्रविद्ध करो, जिससे उनमें एक भी वहाँ से फिर उठ कर न →

लेकर चलते हैं ऋत के छन्द में सब के चक्षु होकर[५], जो परम और चरम है उसके रक्षक होकर।[६] वे केवल यजमान के ही नहीं बल्कि विश्व में जो कुछ है और जो कुछ हो रहा है विचित्र रूप में उन सब के ही गोपा हैं।[७]

'तम आसीत् तमसा गूलहम' अग्रे अप्रकेतं सलिलं सर्वम् आ इदम' — अँधेरा, अँधेरे से ढँका था सब से पहले, यह जो कुछ सब था प्रचेतनाहीन सलिल रूप में सर्वत्र दिशा-दिशा में [१३३४]। उसी अँधेरे के भीतर ज्योति का आभास जागा। ज्ञान की क्रिया में अँधेरे से आलोक पृथक हुआ। चेतना की यह क्रिया 'चित्ति' है और उसका प्रथम प्रकटन या व्यंजना 'पूर्वचित्ति' है।

आ सके ७।१०४।३ (तु. ५। 'दुष्कृत' हमारे दुश्चरित की प्रेरक वृत्ति है, पुराण में पातालवासी असुर रूप में वर्णित; तु. योग का 'आशय')। मरुद्गण: 'विध्यता विद्युता रक्षः' — राक्षसों को विद्युत से विद्ध करते हैं, 'ज्योतिष् कर्ता यद् उश्मसि' — जो आलोक या ज्योति हम चाहते हैं उसे प्रस्फुटित करो १।८६।९,१०। हम सर्वत्र देखते हैं कि वेधशक्ति तमिस्रा के आवरण को विदीर्ण करके ज्योति प्रस्फुटित करती है, इसलिए वे 'वेधाः' हैं।

[१३३३] ८ गो-√पा, गोपालक, रखवाला। 'गो' अन्तर्ज्योति, अतएव **गोपा:** आलोकरक्षी, ज्योति का रखवाला। पदपाठ में इस शब्द में अवग्रह नहीं, किन्तु व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के लिए द्र. ऋ. पशून् न गोपा: ७।१३।३ (१०।२२।६), यूथेव पश्वो व्युनोति गोपा: ५।३१।१। इससे संहिता में ही धातुरूप गोपायतम् ६।७४।८; 'गोपायन्ति' १०।१५४।५। गोपा पथप्रदर्शक एवं विचक्षण अर्थात् जिनकी दृष्टि चारों ओर हो (२।२३।६ बृहस्पति), इसलिए वे 'अदब्ध' हैं अर्थात् कोई उन्हें धोखा नहीं दे सकता। (२।७।६, ६।७।७ अग्नि)। वे 'अविता' हैं अर्थात् उपासक की चारों ओर से रखवाली करते हैं (१०।७।७ अग्नि)। गोपा जिस प्रकार अग्नि का विशेषण है, उसी प्रकार विशेष रूप से आदित्यगण, सूर्य और विष्णु का विशेषण है। आदित्यगण विश्वभुवन के गोपा हैं (२।२७।४, ७।५१।२), सूर्य विश्व के स्थावर-जंगम के गोपा हैं ७।६०।२), वरुण मित्र अर्यमा एवं पूषा सब के गोपा हैं (८।३१।१३, 'पूषा अनष्टपशुर् भुवनस्य गोपा:' १०।१७।३), विष्णु 'अदाभ्यो गोपा:' १।२२।१८), 'गोपा: परमं पाति पाथ:' (३।५५।१०) इससे वैष्णव के भगवान 'गोपाल'। इसके अतिरिक्त सारे तैंतीस देवता ही सभी दृष्टियों से सब के गोपा हैं। ते नो गोपा अपाच्यास (पश्चिम में) त उदक् (उत्तर में) इत्था न्यक् (नीचे अर्थात् दक्षिण में, अतः ऋषिगण हिमवद्वासी), पुरस्तात् (पूरब में) सर्वया विशा ८।२८।३। ये गोपा आदित्य रूप में परम देवता हैं, जिनकी रश्मि हम सब के भीतर आविष्ट है (१।१६४।२१), एवं वायु रूप में विश्वप्राण हैं जो विश्वभुवन के अन्तर में वर्तमान हैं (३१) इस संज्ञा से जुड़ा आध्यात्मिक भावना का उल्लास लक्षणीय। ईसाई धर्म में ईसा मसीह भी मेषपाल। १ तु. त्वं नो अस्या उषसो व्युष्टौ त्वं सूर उदिते बोधि गोपा: ३।१५।२ (तु. उद् ईर्ध्वं जीव असुर् न आगात् (१।११३।१६)। उषा की ज्योति प्रातिभ संवित् का, सूर्य की ज्योति विज्ञान का प्रतीक। अभीप्सा रूपी अग्नि ज्योति दोनों के बीच सेतु स्वरूप। २ जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृवि: ५।११।१। ३ विशां गोपा: १।९४।५, ९६।४। द्र. 'विशां कवि:' टी. १३२५। तु. ८।३५।१५-१६: वहाँ 'ब्रह्म' अथवा ब्राह्मण का परिचायक 'धी', 'क्षत्र' अथवा क्षत्रिय का 'नृ' (पौरुष) और 'विश' का 'धेनु' है। उसके साथ 'गोपा' का सम्बन्ध सुस्पष्ट है। भागवत के गोपाल-कृष्ण क्षत्रिय कुल में जन्म लेकर भी विश या सामान्य जनों के बीच पले; वे केवल भक्तों, ब्राह्मणों और राजर्षियों के देवता नहीं हैं बल्कि स्त्रियों, वैश्यों एवं शूद्रों के भी देवता हैं (गीता ९।३२) अर्थात् वेद की भाषा में वे भी विशां गोपा:। ४ राजन्तम् अध्वराणां गोपाम् ऋतस्य १।१।८। 'गोपाम्' का अन्वय उभयत:। अध्वर (<√ध्व॥

चिन्ति में जो अनुभूत होता है, वह 'चित्र' अर्थात एक अपरूप दर्शन एक विस्मय है।[2] यह संज्ञा अग्नि के लिए अनेक रूपों में प्रयुक्त हुई है। जड़ता की अन्धतमिस्रा को विदीर्ण करके अग्नि का आविर्भाव होता है, इस अपूर्व अद्भुत आविर्भाव के साथ उनका एक और विशेषण 'दस्म' अर्थात (तिमिर-)नाशन जुड़ा हुआ है।[3] अग्नि दस्म होने के कारण ही चित्र हैं। इसी आधार या स्थान पर वे गुहाहित थे,[4] देवता अथवा विप्र की चिन्ति की प्रेषणा से[5] चारों ओर व्याप्त अँधेरे को दूर करके वे चित्र शिशुरूप[6] में आविर्भूत हुए और उषा के चित्र प्रचेतना रूप में;[7] बढ़ते रहे जलदर्चि के चित्र विभाति रूप में, हृदय के निकट दमक उठे सोने की तरह, द्युलोक के वज्र की तरह (गरज उठा) उनका प्राणोच्छ्वास, चिन्मय सूर्य की तरह आँखों के सामने उन्होंने अपावृत किया अपना भानु। इसलिए वे[10] 'चित्रभानु', 'चित्रमहा:' 'चित्रशोचि' 'चित्रश्रवस्तम' अर्थात उनकी भाति, महिमा, ज्वाला एवं श्रुति सभी एक चिन्मय अथवा चैतन्यस्वरूप विस्मय है। इसलिए इस

ह्वृ '(टेढ़े मेढ़े चलना') जिसमें चूर्ति अथवा टेढ़ी चाल नहीं (तु. ८।४८।३; १।१८९।१), आर्जव या ऋजुता की साधना। द्र. टी. १२४४[6]। [5] तु. १०।८।५, ३।१०।२, १०।११८।७, १।३१।८। [6] अदब्धो गोपा उत न: परस्पा: २।९।६। 'परस्पा:' — जो 'पर:' अथवा सब से परे है उसके रक्षक (तु. २; अश्विद्वय के प्रति : यातं छर्दिपा उत न: परस्पा भूतं जगत्पा उत नस्तनूपा ८।९।११ — देह, गेह, विश्व एवं विश्वातीत के भी रक्षक (पाता)। [7] सताशचगोपां भवतश्च भूरे: १।९६।७।

[१२३४] ऋ. १०।१२९।३। [1] **चिन्ति** < √ चित ॥ कित् 'किसी कुछ के बारे में सचेतन होना'। तु. देवासो अग्निं जनयन्त चित्तिभि: ३।२।३; सब कुछ ही अव्याकृत अव्याख्यात था, उसके भीतर विश्वदेवता के अभिनिवेश या अनुप्रवेश से वैश्वानर अग्नि के संवित अथवा सचेतनता का प्रस्फुटन हुआ। द्र. टी. ११४६। चिन्ति — कहीं 'चित स्पन्द' (१।६७।५, २।२१।६), कहीं चेतना की एकतानता (८।५९।२, ३।२।३), कहीं विवेक दर्शन (४।२।११), और कहीं केवल चितशक्ति की क्रिया है (१०।८१।७)। [2] **चित्र** नि. चायनीय ४।४ < √ चाय 'दर्शन करना', <IE, q(u)ei 'to watch', IE 'squit', 'Bright', 'to shine', सूर्योदय का वर्णन : चित्रं देवानाम् उद् अगाद् अनीकम् १।११५।१। [3] **दस्म** < √ दस 'नष्ट कर देना' < दस्यु (नि. ७।२३), 'दास' नि. २।१७)। अनुरूप शब्द 'दस्र' अश्विद्वय की रूढ़ संज्ञा है, अँधेरे के भीतर से उनकी ज्योति का अभियान उषा के पूर्ववर्ती काल तक जारी रहता है 'दस्म', इन्द्र का भी विशेषण है, क्योंकि वे भी 'वृत्रहा' वृत्रहन्ता अथवा तिमिर-नाशन हैं। भूलोक के केन्द्र में अग्नि, अन्तरिक्ष के केन्द्र में इन्द्र और द्युलोक के केन्द्र में अश्विद्वय — ये तीनों देवता ही दस्म हैं — अँधेरे का आवरण हटाकर गुहाहित ज्योति को चित्र अथवा दर्शनीय करते हैं। दूसरी ओर 'दस्यु' अथवा 'दास' अँधेरे से ज्योति को आच्छादित करते हैं (तु. ऋ. २।११।१८, ४, ४।१६।९...)। [4] चित्रं सन्तं गुहाहितं ४।७।६, [5] तु. ३।२।३ ३।२। [6] चित्रो नयत परि तमांसि ६।४।६, चित्र: शिशु: परि तमांस्य अक्तून् १०।१।२, [7] चित्र: प्रकेत उषसो महाँ असि १।९४।५; [8] चित्रो विभात्य अर्चिषा २।८।४, [9] विद्युद् रुक्मो न रोचस उपाके, दिवो न ते तन्यतुर् एति शुष्मश् चित्रो न सूर: प्रति चक्षि भानुम ७।३।६। [10] चित्रभानु : १।२७।६, २।१०।२, तं त्वा... ईमहे (माँगो चाहते हैं)। चित्रभानो स्वर्दृशम् ५।२६।२, चित्रभानुर उषसां भात्य अग्रे ७।९।३, चित्रभानु रोदसी अन्तर् उर्वी १२।१, ८।४४।६, तं त्वा यमो अचिकेच् चित्रभानो १०।५१।३ (वैवस्वत मृत्यु चेतना के द्वारा गुहाहित अग्नि का प्रथम दर्शन, यहाँ न मरने पर वहाँ नहीं पाया जाता) ६९।११। चित्रमहा: : १०।१२२।१। चित्रशोचि: ५।१७।२ (द्र. टीका १२२९), 'यो अग्नये ददाश विप्र उक्थै:, चित्राभिस् तम् ऊति भिश् चित्रशोचिर् व्रजस्य साता गोमतो दधाति' — आवेग कम्पित होकर जो अग्नि को

तिमिरनाशन चिन्मय आविर्भावकेनिकट बार्हस्पत्य भरद्वाज प्रार्थना करते हैं; 'हे चित्र, तुम्हारा चिन्मय संवेग जो सजग सचेतन कर देता है, हे चित्रवीर्य, जो चित्रतम एवं तारुण्य का आधाता है जो आनन्दमुखर एवं प्रभूतवीर्य या बल में बृहत् है, हे आनन्ददीप्र, अपना आनन्द हिल्लोल (शिखाओं द्वारा) हम सब के भीतर एवं इस गीतिकार या कवि के भीतर निहित करो'।[११]

अग्नि के गुणों का एक संक्षिप्त परिचय यहाँ समाप्त हुआ। यहाँ हमने देखा कि हम सब के ही भीतर वे अजर, अमृत की एक गोपन शिखा अर्थात् अतन्द्र अभीप्सा के साथ द्युलोक की ओर ऊर्ध्वमुख रूप में हैं। स्वरूप में वे अक्षर, नित्य, स्वधावान और शुद्ध सन्मात्र हैं, प्रज्ञान में क्रान्तदर्शी कवि हैं और ऋतच्छन्द में आनन्दमय हैं। वे कविक्रतु हैं, देवयान के मार्ग में हमारे नित्य सहचर हैं, रक्षक हैं और अध्यात्म चेतना के प्रथम उन्मेष के रूप में एक परम विस्मय हैं। ध्यान देने योग्य है कि उनका यह परिचय जिस किसी भी देवता के परिचय के रूप में ग्रहण किया जा सकता है और अग्निगुणबोधक संज्ञाओं के प्रायशः अन्य देवताओं के सम्बन्ध में प्रयुक्त होने के प्रति कोई आपत्ति नहीं। अर्थात् सारे देवता ही स्वरूपतः परम देवता हैं, और देवता-देवता में सौषम्य जितना अधिक है, वैषम्य उतना नहीं है। देवता का इन्द्रियग्राह्य प्रतीक उपासक की चेतना के विस्फोट का एक उपलक्ष्य मात्र है। इस विस्फोट की संज्ञा अधिदैवत दृष्टि से संहिता में 'ऋतं बृहत्' और अध्यात्म दृष्टि से उपनिषद् में 'ब्रह्म' है। क्रमशः बाह्य एवं आन्तर दृष्टि से दोनों ही उसी परम देवता के स्वरूपाख्यान हैं। देवभावना की परिनिष्ठिति ब्रह्मभावना में है। सारे देवता ही स्वरूपतः 'ऋतं महत्' 'स्वर् बृहत्' हैं— यह हमने पहले ही देखा है। [१३३५]। अग्नि भी स्वरूपतः

---

दिया उसे चित्रशोचि अपनी चिन्मय परिरक्षणी शक्ति द्वारा प्रतिष्ठित करते हैं गोयुक्त व्रज के अधिकार में ('गोमान् व्रज' जहाँ आलोकरश्मियों का समूहन, तु. भागवत जनों का 'व्रजधाम' 'गोलोक') ६।१०।३, ८।१९।२। चित्रश्रवस्तमः: 'अग्निर् होता कविक्रतुः सत्यश् चित्रश्रवस्तमः' १।१।५ (यह विशेषण देवताओं में केवल अग्नि का तु. १।४५।६; इसके अलावा 'मद' ८।८२।१७, 'रयि' ८।२४।३ एवं द्युम्न ३।५९।६ अथवा दिव्य ज्योति चित्रश्रवस्तम, चित्रश्रव के साधन के रूप में: श्रव; ॥ श्लोक:॥ श्रुतम् ८।५९।५, परा वाक् को परमव्योम में सुनना १।१६४।४१, जो सिद्धि का चरम है क्योंकि यह सुनना सब के भाग्य में नहीं होता १०।७१।४, ६, ७; साधना के आरम्भ में अग्नि ही वाक् अथवा मंत्रशक्ति है एवं अन्त में उस वाक् की ही श्रुति— तुरीय पद में १।१६४।४५; 'चित्रं श्रवः' वह चिन्मय श्रुति जो श्रोता को विस्मित करती है, तु. क. १।२।७; यह उसी वाक् की श्रुति है जिसे विश्वामित्र ने 'ससर्परी अथवा विद्युतचरिता कहा है, जिसने "आ सूर्यस्य दुहिता ततान श्रवो देवेष्व् अमृतम् अजुर्यम्"— सूर्य की दुहिता के रूप में देवगण के भीतर मंत्रशक्ति को अमृत एवं अजर रूप में प्रसारित किया है ३।५३।१५)। [११] स चित्र चित्रं चितयन्तम् अस्मे चित्रक्षत्र चित्रतमं वयोधाम्, चन्द्रं रयिं पुरुवीरं बृहन्तं चन्द्र चन्द्राभिर् गृणते युवस्व ६।६।७ 'चित्र' एवं 'चन्द्र' की सहचरता लक्षणीय: एक चैतन्य की ओर एक आनन्द का द्योतक (चन्द्र हिरण्य, निघ. १।२); 'चन्द्रश् चन्दतेः कान्ति कर्मणः, चारु द्रमति, चमेर वा पूर्वम्, नि. ११।५; धात्वर्थ चारुत्व का अनुषंग लक्षणीय; तु. √छद ॥ छन्द 'दीप्ति देना, इच्छा करना': IE quand— 'to shine', Lat. qaund: 'I shine')।

[१३३५] ऋ. १०।६६।४ सारे देवता ही 'ऋतं महत्,'— स्वर बृहत्; १।१६४।४६ ट. दीमू. ११६८।

ब्रह्म हैं। संहिता में उनके वैश्वानर रूप के भीतर हमें उनका ब्रह्म-स्वरूप प्राप्त होता है। उसके बारे में आगे चलकर प्रकाश डालेंगे।

अब गुण के बाद अग्नि के कर्म के सम्बन्ध में चर्चा करेंगे। वैदिक देवताओं का वैशिष्ट्य गुण की अपेक्षा कर्म में अधिक स्पष्ट है, क्योंकि गुण का आधार भाव है और कर्म का आधार शक्ति है। भाव के अन्तिम बिन्दु पर सारे देवता ही एक हैं, हम उन्हें चाहे जिस किसी भी नाम से क्यों न पुकारें किन्तु शक्ति की स्फुरत्ता या चेतना के स्वाभाविक स्पन्दन में सूर्य के रश्मि विच्छुरण की तरह उनका वैचित्र्य एवं वैशिष्ट्य प्रकट होता है।

अग्नि का सर्वप्रधान कर्म 'दूत्य' या दौत्य है। मनुष्य एवं देवता के बीच वे 'दूत' हैं। वेद में यह उनकी एक बहुप्रयुक्त संज्ञा है[१३३६]। अग्नि पृथिवीस्थान देवता हैं, मनुष्य के साथ उनका सम्बन्ध सब से अधिक घनिष्ठ है। वे हमारे 'गृहपति'[१] हैं, घर के देवता हैं और कभी कभी आड़ या अन्तराल से आने पर भी हमारे अत्यन्त प्रिय 'अतिथि' हैं।[२] अग्नि[३] अत्यन्त निकट के प्रत्यक्ष देवता हैं और अत्यन्त दूर के प्रत्यक्ष देवता 'विवस्वान सूर्य' हैं। हम उन्हें ही और उनकी विभूति विश्वदेव गण[४] को चाहते हैं इसलिए इस अग्नि को ही उनके निकट

[१३३६] **दूत** < √ जू 'दौड़ना' 'बहुत तेजी से चलना' नि. जवतेर् वा द्रवतेर् वा वारयतेर् वा ५।१; तु. IE *dū* 'to move forward', MG *zuwen* 'to move forward'। देवताओं में विशेष रूप से अग्नि ही दूत। इसके अलावा कहीं-कहीं सोम दूत, ऋ. ९।४५।२, ९९।५, पूषा ६।५८।३, सूर्य अथवा वेन १०।१२३।६, सरमा १०।१०८।२-४। अग्नि के सम्पर्क में मातरिश्वा दूत १।७१।४, ३।५।९, ६।८।४। वैष्णव शास्त्रों में सखियों का दौत्य स्मरणीय। महाजनों, महापुरुषों का कथन है कि सखियाँ वस्तुतः मनोवृत्तिरूपा हैं। यह भाव ऋक्संहिता में भी है: तु. ६।९।६, 'अच्छा म इन्द्रं मतयः स्वर्विदः सध्रीचीर् विश्वा उशतीर् अनूषत, परि ष्वजन्ते जनयो यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्युं मघवानम् ऊतये' — इन्द्र के प्रति मेरी सुदीप्त भावनाएँ सब एक होकर उत्कण्ठित हुई, मुखर हुई; निविड़ आलिंगन में इस प्रकार जकड़ लिया उन्होंने मघवा को उनका प्रसाद चाहकर,— जिस प्रकार पत्नियाँ पति को, (तरुणियाँ) जिस प्रकार तरुण को बाँहों में (कस लेती हैं) १०।४३।१। अग्नि का दौत्य हमारी 'उशती मति' का ही दौत्य है। [१] तु. कविर् गृहपतिर् युवा १।१२।६, मन्द्रो होता गृहपतिर् अग्ने दूतो विशाम् असि ३।६।५, दमूना (जो घर को प्यार करते हैं) गृहपतिर् दम आँ ६०।४, ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे (ब्रह्मा जिस प्रकार सोमयाग के रक्षक हैं तुम भी उसी प्रकार हमारे घर के रक्षक हो) २।१।२ (४।९।४), दमूनसं गृहपतिम् अमूरम् ४।११।५ (५।८।१); ६।१५।१३, १९, ७।१६।२, 'अप्रोषिवान् गृहपतिर् महाँ असि दिवस् पायुर् दुरोणयुः' — अप्रवासी गृहपति तुम महान, द्युलोक के रक्षक एवं आधार में नित्य युक्त हो ८।६०।१९...। पहले ही देखा है कि अग्नि आयु अथवा प्राणचेतना (टी. सू. १२०६[१], १२२९[१]); इस रूप में ही वे गृहपति हैं और आधार में निविष्ट चित् शक्ति हैं। [२] **अतिथि**: प्रायः अग्नि को ही सर्वत्र अतिथि कहा गया है, केवल एक जगह सूर्य को ४।४०।५ (किन्तु तु. अग्नि ५।४।५), और एक जगह विश्वदेवों को अतिथि कहा गया है ५।५०।३ ('गा: आतिथिनीः' संचरणशील १०।६८।३) नि. अभ्यतितो गृहान् भवति, अभ्येति तिथिषु परकुलानी-ति वा परगृहाणी-ति वा ४।५ (किन्तु 'तिथि' शब्द संहिता में नहीं है)। अतिथि का मौलिक अर्थ है जो घुमक्कड़ है और घूमते-फिरते अचानक किसी के भी घर उपस्थित होता है फिर चला

दूत के रूप में भेजते हैं। अग्नि-चैतन्य और विश्व-चैतन्य के बीच अभीप्सा की ऊर्ध्व-शिखा ही अतन्द्र और निःशब्द संवाद वाहक होती है।

अनादि काल से मनुष्य ने अग्नि को ही दूत रूप में वरण किया है, क्योंकि वे अध्वर (सिद्धि) के अभिलाषी होने के कारण दूत के सारे कर्तव्य जानते हैं, भूलोक और द्युलोक दोनों के अन्तराल की सम्यक् चेतना उनमें है, द्युलोक में आरोहण के सोपानों की जानकारी और किसी को नहीं है उनकी जैसी [१३३६]। उनका दौत्य मनुष्य के लिए, उत्कण्ठित देवताओं को जगा देने के लिए है जिससे वे यहाँ उतर कर 'बर्हि' पर आसन स्थापित करें।[१] इसके अलावा यह दौत्य केवल हमारे

---

जाता है' (<√अत् 'चलना'; तु. IE et, 'to go', Lat annus 'year', <* atnos) देवता का आविर्भाव भी इसी तरह होता है, वे अकस्मात आते हैं, हम उन्हें आप्यायित करते हैं, फिर वे अन्तर्धान हो जाते हैं। तु. ब्रह्म का आविर्भाव विद्युत के उन्मेष और निमेष की तरह (केनोपनिषद् ४।४)। इस चकित अथवा क्षणिक (कौंध) आविर्भाव को 'अतिथिग्व' अथवा अकस्मात प्रकाश की झलक कहा जाता है। अग्नि को ही विशेष रूप से 'अतिथि' कहा गया है क्योंकि उनकी 'चित्ति' अथवा चकित आविर्भाव के प्रत्यक्ष से ही चेतना के उत्तरायण का आरम्भ होता है। ब्राह्मण में सोमयाग में क्रीत सोम अतिथि हैं, उनके प्रति आतिथ्येष्टि का अनुष्ठान होता है किन्तु ऋक्संहिता में सोम अतिथि नहीं। अग्नि अतिथि हैं: १।४४।४, १२८।४, विशाम् अतिथिः २।२।८ (४।१, ३।२।२), कविप्रशस्तो अतिथिः शिवो नः ५।१।८, जुष्टो (अर्थात तुम्हें पाकर हम प्रसन्न हैं, तुम सादर अभिनन्दनीय हो) दमूना अतिथिर् दुरोण इमं नो यज्ञम् उपयाहि विद्वान्, ४।५, त्वाम् अग्ने अतिथिं पूर्व्यं ... गृहपतिं न योदिरे तु. ८।२ (६।१६।४२, १०।१२२।१; गृहपति के रूप में उनकी नित्य स्थिति है अथवा संभवत कभी अव्यक्त; किन्तु अतिथि रूप में आविर्भाव एवं आवेश), 'विश्वायुर् यो अमृतो मर्त्येषूषर्भुद् अतिथिर् जातवेदाः' — जो विश्व-प्राण के आधार हैं वे मर्त्यों में अमृत हैं, उषा में अतिथि रूप में जागे, जिन्हें जातवेदा कहते हैं (श्रद्धा के आवेश से प्रातिभ संवित् का उन्मेष होता है, वही अध्यात्म जीवन की उषा है; उस समय अभीप्सा के रूप में जातवेदा का आविर्भाव होता है) ६।४।२, अतिथिम् उषर्बुधम् १५।१ (तु. ८।४४।१; अमूर दस्मा (तिमिरनाशन) ऽतिथि ८।७४।७, प्रेष्ठं वो अतिथिं ... मित्रम् इव प्रियम् ८।४।१, वामं (प्रिय) शेवम् (शिवमय) अतिथिम् अद्विषेण्यम् १०।१२२।१, प्रियो नो अतिथिः ६।२।७, 'अमूरः कविर् अदितिर् विवस्वान् सुसंसन् मित्रो अतिथिः शिवो नः' — वे अमूर्त कवि, अदिति, विवस्वान और मित्र के एक सुचारु संसत अथवा समाहार हैं, हमारे शिवमय अतिथि हैं ७।९।३ (द्र. टी. १३१७[४], १३२५[५]; इन कई मंत्रों में अतिथि के प्रति मनोभावों का सुन्दर चित्रण, तु. क. १।१।७-८), अतिथिर् गृहे गृहे १०।९१।२, ३।३।८, २६।२, अतिथिं जनानाम् ६।७।१ (१०।१।५), आतिथिं मानुषाणाम् १।१२७।८ (४।१।२०, ८।२३।२५)। २ किन्तु तै.उ. में अन्तरिक्ष स्थान वायु प्रत्यक्ष (द्र. शान्तिपाठ), ऋक्संहिता में 'दर्शत' (१।२।१); तु. 'अपश्यं' गोपाम् अनिपद्यमानम् १।१६४।३१। अधिदैवत वायु अथवा अध्यात्म प्राण को लेकर भी साधना की एक धारा संवर्ग विद्या जैसी थी (छा. ४।२-३) ऋक्संहिता में मातरिश्वा अथवा वायु का आनयन एवं मन्थन इत्यादि ऋ. १।७१।४, ६०।१, ६।८।४, ३।५।१०, ९।५ ...। मातरिश्वा के दूत रूप में विवस्वान के निकट से अग्नि को यहाँ लाने पर भी (६।८।४), दौत्य प्रधानतः अग्नि का ही। ४ तु. 'आकीं सूर्यस्य रोचनाद् विश्वान् देवाँ उषर्बुधः, विप्रो होतेह वक्षति' — उषाकाल में जागे विश्वदेव गण को आवेगकम्प्र ये होता यहाँ ले आएँ (१।१४।९)। आकीम् अनन्य प्रयोग। पदपाठ में अवग्रह नहीं है। निघण्टु में 'सर्वपद समाम्नाय खण्ड में उपसर्ग और निपात के उदाहरण के रूप में उल्लिखित ३।१२। विश्वबन्धु शास्त्री की उपस्थापना के

आत्मदान की अपेक्षा रखता है : जो मर्त्य मानव समिध और हवि की आहुति देता है इस अमृत देवता के लिए, उसके ही वे होते हैं होता, उसके दूत बनकर देवताओं के निकट बतलाते हैं उसकी बात, और होते हैं उसके ऋत्विक, उसके अध्वर्यु।[2] आध्यात्मिक जीवन के आरम्भ में श्रद्धा के उन्मेष से आत्मदान की प्रेरणा जागती है। इसलिए उषा का प्रकाश जब झिलमिलाता है तब अग्नि भी आलस्य के दूत रूप में चमक उठते हैं क्योंकि वे ऋत का चिरन्तन सम्यक् दर्शन ही चाहते हैं।[3] दीर्घकाल से वही होता आया है; आकाश में उषा की ज्योति जब से फूटी है तब से ही हमारे पूर्वपुरुषों ने इस देवता को द्युलोक का दूत बनाया है, आहुतिकउपचार से किया है उसका यजन; और तब

---

अनुसार : आ+घ+ईम्, 'आ' बध्नाति, का उपसर्ग, 'ईम्' इनके अर्थात् पूर्व मंत्र में उल्लिखित देवताओं के)। **विश्वदेव** के सम्बन्ध में ब्राह्मण ग्रन्थों की उक्ति : 'रश्मयो ह्य अस्य (सूर्यस्य) विश्वेदेवा:' श. ३।८।२।६, १२, ४।३।१।२६ २।३।१।७, १२।४।४।६; 'अथ यद एनम् (अग्निम्) एकं सन्तं बहुधा विहरन्ति तद अस्य वैश्वदेवं रूपम्' ऐ. ३।६; 'सर्वे वै विश्वेदेवा:' श. ३।८।१।१४, ४।४।१।८, १।७।४।२२, ५।५।२।१०...। द्र. टी. १२८७ मू.।[4] अतन्द्र : तु. ऋ. अन्तर् विद्वाँ अध्वनो देवयानान् अतन्द्रो दूतो अभवो हविर्वाट् १।७२।७, अतन्द्रो दूतो यजथाय देवान् ७।१०।५। निःशब्द : तु. 'न योर् उपब्दिर् अश्व्यः शृण्वे रथस्य कशचन, यद अग्ने यासि दूत्यम्' — तुम्हारे चलते हुए रथ के घोड़े की टाप बिल्कुल सुनाई नहीं देती, जब हे अग्नि, तुम दूत बनकर जाते हो १।७४।७। [१३३७] तु. ऋ. वेर् अध्वरस्य दूत्यानि विद्वान् उभे अन्ता रोदसी संचिकित्वान्, दूत ईयसे प्रदिव उराणो विदुष्टरो दिव आरोधनानि ४।७।८। वेः < √वी 'कामना करना, संभोग करना'। 'उराणः' < √वृ 'वरण करना'। 'आरोधनानि' तु. ४।८।२, ४; द्र. ८।७२।१६। यज्ञ के सप्तधाम द्वारा गुह्यपद में आविष्ट होना ७।१०२।२; अनुरूप विष्णु का सप्तधाम १।२२।१६।[1] तु. 'ताँ उशतो वि बोधय यद अग्ने यासि दूत्यम्, देवैर् आ सत्सि बर्हिषि १।१२।४; **बर्हि** कुश का आस्तरण, इसके अलावा अग्नि के प्रतीक रूप में आप्री सूक्त के चतुर्थ देवता, अध्यात्म दृष्टि से हृदय में स्थापित उन्मुख, उत्सुक प्राण का आसन (तु. छा. ५।१८।२; विस्तृत विवरण के लिए द्र. 'आप्रीदेवगण')। द्रष्टव्य है कि देवता उद्विग्न हैं किन्तु जाग नहीं पा रहे हैं, उन्हें मेरी अभीप्सा जगा देगी।[2] ऋ. यस् तुभ्यम् अग्ने अमृताय मर्त्यः समिधा दाशद उत वा हविष्कृति, तस्य होता भवसि यासि दूत्यम् उप ब्रूषे यजस्य् अध्वरीयसि १०।९१।११। और भी तु. 'शश्वत्तमम् ईळते दूत्याय हविष्मन्तो मनुष्यासो अग्निम्' — शाश्वततम इस अग्नि को दौत्य के लिए जाग्रत कर लेते हैं वे लोग जिनके पास आहुति का उपचार है १०।७०।३;[3] पूर्वीर् ऋतस्य संदृशश् चकानः सं दूतो अद्यौद् उषसो विरोके ३।५।२। **संदृश** < सम् √दृश् (देखना) सम्यक् दर्शन; तु. 'सूरो न संदृक्' (अग्निः) १।६६।१, अस्य (अग्नेः) ... श्रेष्ठा ... संदृक् चित्रतमा मर्त्येषु ४।१।६; तव (अग्ने) प्र यक्षि संदृशम् ६।१६।८। तव (अग्ने) ... आ संदृशि श्रियः २।१।१२...। पूर्वीः परिपूर्ण, चिरन्तन। अत्र तु. षल् अस्त्ना (इन्द्र) विष्टिरः पंच संदृशः परि परो अभवः २।१३।१०; यहाँ पाँच लोकों या भुवनों के पाँच सम्यक् दर्शन की चर्चा। षष्ठ भुवन में इन्द्र का दर्शन, फिर वे भुवनातीत भी हैं। कुल सात धाम। यह 'पंच संदृशः' आलोच्य मंत्र का 'पूर्वीः संदृशः' है। इस प्रकार विश्वरूप का सम्यक् दर्शन ही अभीप्सा का लक्ष्य है। तु. त्वाम् इद् अस्या उषसो व्युष्टिषु (प्रारम्भ में) दूतं कृण्वाना अयजन्त मानुषाः, त्वां देवा महयाय्याय (महिमा के लिए)

ये देवता भी मर्त्य मानव और ज्योति के देवताओं द्वारा समिद्ध हो गए हैं संवेगों के संगम से।[4] उषा की ज्योति फूटते ही वे सूर्य की तरह दीप्तिमान हो गए हैं और यज्ञ को वितत या विस्तृत कर रहे हैं उत्कंठ ऋत्विकगण मनन के साथ-साथ; देवता अग्नि सब जन्मों का रहस्य जानते हैं, इसलिए देवताओं के निकट जाने के लिए तीव्र गति से चले ये सब से अधिक प्रिय उनके दूत होकर।[5] लोक और लोकोत्तर के बीच यह उनका दौत्य है, वे अलख के अभिसारी हैं।[6]

मनुष्य जिस प्रकार अभीप्सा की शिखा को देवता की ओर दूत रूप में आगे बढ़ा देता है और चुपचाप उससे कह देता है, देवता को यहाँ उतार ले आने के लिए [1338], उसी प्रकार देवता भी उत्कंठ अथवा उतावले हैं मनुष्य के लिए[1], वे भी अग्नि को दूत बना कर मनुष्य के निकट भेजते हैं।[2] अग्नि जब मनुष्य के दूत होते हैं, तब वे उसके समिद्ध चित्त की देवयानी अभीप्सा हैं; और जब वे देवताओं के दूत होते हैं तब वे उसी चित्त के परम आवेश हैं।[3] पहले श्रद्धा उसके बाद रुचि — जिस प्रकार वैष्णव कहते हैं; पहले देवता व्यग्र होते हैं मेरे लिए, फिर मैं उनके लिए व्यग्र होता हूँ। संभवतः प्रथा के अनुसार मैं ही हव्यवहन के लिए वेदी में अग्नि को समिद्ध करता हूँ किन्तु एक दिन वह अग्नि समिन्धन अकस्मात् सार्थक

वावृधुः 10।122।6, 1।44।3। [4] त्वाम् अस्या व्युषि देव पूर्वे दूतं कृण्वाना अयजन्त हव्यैः, संस्थे यद् अग्न ईयसे रयीणां देवो मर्तैर् वसुभिर् इध्यमानः 5।3।8। देवता 'वसु' अथवा ज्योतिःस्वरूप। देवता के प्रसाद या अनुग्रह से और मनुष्य के प्रयास से अग्नि समिन्धन (तु. 'देवाँ अच्छा यातवे जातवेदसम् अग्निम् ईळे व्युष्टिषु' — भोर के उजाले में देवताओं के निकट जाने के लिये मैं अग्नि को उद्दीपित करता हूँ 1।44।4)। 'संस्थे रयीणाम्' तु. संगथे रयीणाम् 2।38।10, अपाम् अनीके समिथे 4।58।11 — प्राण की समस्त धारायें जहाँ आकर मिली हैं, वहाँ ही अग्नि का आविर्भाव; अतः अग्नि 'अप्सुजाः' (तु. यद् अग्ने दिविजा अस्य् अप्सुजा वा सहस्कृत 8।43।28; 'सहस्कृत' मंथनजात पार्थिव अग्नि)। [5] स्वरण वस्तोर् उषसाम् अरोचि यज्ञं तन्वाना उशिजो न मन्म, अग्निर् जन्मानि देव आ वि विद्वान् द्रवद् दूतो देवयावा वनिष्ठः 7।10।2। उशिज् < √वश 'आकुल होकर चाहना' नि. उशिग् वष्टेः कान्तिकर्मणः 6।10; निघ. कान्तिकर्मा 2।6, 'मेधावी' 3।15; तु. IE *uek* — 'To wish' Gk. *hekōn* 'willing'। उशिकों द्वारा यज्ञ का वितनन अथवा अनुष्ठान और मनन का वितनन एक ही कार्य के अगल-बगल हैं, द्र. टी. 1147। मंत्र के तृतीय पाद में 'जातवेदा' की व्युत्पत्ति पाई जाती है। [6] तु. 'त्वं दूतस् त्वम् उ नः परस्पास्, त्वं वस्य आ वृषभ प्रणेता' — तुम दूत हो, तुम ही हमारे लोकोत्तर के रक्षक हो, हे वीर्यवर्षी, तुम ही उत्तर ज्योति के अग्रणी हो 2।9।2। 'वस्यः' < वसु + ईयस् ('तर' प्रत्यय के अर्थ); तु. 'वसिष्ठ'; द्र. 1।50।10। 'परस्पाः' द्र. टी. 1332[6]।

[1338] तु. ऋ. अग्निं दूतं पुरो दधे हव्यवाहम् उप ब्रुवे, देवाँ सादयाद् इह 8।44।3। 'पुरो दधे', उसी से अग्नि 'पुरोहित' 1।1।1; गुहाहित थे, अब वे सामने हैं। [1] देवता की व्यग्रता, उत्कंठा, उतावलापन तु. 1।12।4, 6।35।4, 8।60।4, 10।1।6, 2।1, 60।4…। अग्नि और देवता दोनों व्यग्र एक दूसरे के लिए; उशन् देवाँ उशतः पायया हविः 2।37।6, 'यथा होतर् मनुषो देवताता यज्ञेभिः सूनो सहसः यजासि, एवा नो अद्य समना समानान् उशन्न् अग्न उशतो यक्षि देवान्' — हे होता, हे शक्तिपुत्र मनुष्य के देवात्मभाव के लिए बार-बार जिस प्रकार तुम यज्ञ के द्वारा यजन करते हो, उसी प्रकार आज हमारे लिए एक समान व्यग्र देवताओं के लिए यजन करो हे अग्नि, व्यग्र होकर 6।4।1, 'उत द्वार उशतीर् वि श्रयन्ताम्, उत देवाँ उशत आ वहेह' — इस बार बेचैन द्वारों का

हो उठता है, जब वे तरुणतम अग्नि, देवता के दूत बनकर आधार की गहराई में एक प्रज्वल चक्षु के रूप में मंत्रचेतना के प्रचोदक या उत्प्रेरक के रूप में मेरे भीतर आविर्भूत होते हैं तब मैं समझता हूँ कि अग्नि मैंने नहीं प्रज्वलित किया है बल्कि देवताओं ने ही उनके दूत रूप में वरुण, मित्र और अर्यमा होकर प्रज्वलित किया है; मैं मर्त्य मानव हूँ मैं केवल उनमें अपना सब कुछ उड़ेल दे सकता हूँ और देवता मेरे लिए विश्व की समस्त सम्पदा जीतकर ले आ सकते हैं।[5] सभी देवता जानते हैं कि ये अग्नि मर्त्यों में अमृत-चेतना की नाभि अथवा मध्य विन्दु हैं, इसलिए इस हव्यवाहन को अपना 'अरति' अथवा दूत बनाया है।[6] देवताओं के ये दूत विचित्र रूप से प्रेरित होकर हमारे निकट आते हैं, समस्त मालिन्य दग्ध करके हम सब को निरंजन, निर्विकार, कल्मषशून्य करते हैं और सर्वात्मभाव या आत्मा की विश्वरूपता के अनुभव के योग्य पात्र के रूप में हमें घोषित करते हैं।[7]

का कपाट खुल जाए, इस बार उतावले देवताओं को यहाँ लेकर आओ (तु० आप्रीसूक्त का 'देवीर् द्वारः' अथवा ज्योति का द्वार, अग्नि का ही एक रूप; द्र. 'आप्रीदेवगण') ७।१७।२। दिव्य पितृगण अग्नि एवं मनुष्य का उतावलापन: 'उशन्तस् त्वा नि धीमहय उशन्तः सम् ईधीमहि, उशन् उशत आ वह पितृन् हविषे अत्तवे' — आकुल आग्रहान्वित होकर हम सब तुम्हें स्थापित करते हैं, उत्सुक होकर समिद्ध करते हैं, तुम जल्दी से आकुल उतावले पितृगण को हविर्भक्षण के लिए ले कर आओ १०।१६।१२। [2] त्वां विश्वा सजोषसो (तृप्ति में सन्तुलित सुषम होकर, क्योंकि सारे देवता उस एक ही देवता की विभूति हैं; द्र. टी. १२८४ और मूल) देवासो दूतम् अक्रत, सपर्यन्तस (मनुष्य परिचारक) त्वा कवे यज्ञेषु देवम् ईलते ५।२१।३। तु. ८।१९।२१। [3] आवेश श्रद्धा के रूप में, तु. नचिकेता में श्रद्धा का आवेश, क. १।१।२, और भी तु. 'श्रद्धयाग्निः सम् इध्यते श्रद्धया हूयते हविः १०।१५१।१, यही श्रद्धा 'कामायनी' अथवा कामजा। द्र. टी. १३४६[2]। [4] तु. त्वाम् अग्ने समिधानं यविष्ठय देवा दूतं चक्रिरे हव्यवाहनम्... त्वेषं चक्षुर् दधिरे चोदयन्मति ५।८।६। [5] देवासस् त्वा वरुणो मित्रो अर्यमा सं दूतं प्रत्नम् इन्धते, विश्वं सो अग्ने जयति त्वया धनं यस्ते ददाश मर्त्यः १।३६।४। वरुण अव्यक्त ज्योति के देवता हैं जो सत्स्वरूप हैं; मित्र व्यक्त ज्योति के देवता हैं जो चित्स्वरूप हैं, और अर्यमा संभोग या उपभोग के देवता हैं (२।४।२) जो आनन्दस्वरूप हैं। इस त्रयी का उल्लेख में ऋक्संहिता में अनेक स्थलों पर है। सच्चिदानन्द ही अग्नि को हमारे भीतर दूत रूप में समिद्ध या संदीप्त करते हैं। **धन** <√ धन् 'दौड़ना', मनुष्य जिसके पीछे दौड़ता भागता है, लक्ष्य, द्र. टी. १२८८[1]। [6] तु. त्वां दूतम् अरतिं हव्यवाहं देवा अकृण्वन्न् अमृतस्य नाभिम् ३।१७।४। अरति <√ ऋ, 'चलना' जो आवाजाही (आना-जाना) करता है, चंचल। दूत का पर्याय शब्द विशेषरूप से अग्नि के लिए प्रयुक्त। अग्नि 'अरति' देवताओं के (२।४।२), द्यावापृथिवी के (११५९।२, २।२।२, ६।४९।२, १०।३।७) द्युलोक के (२।२।२, १०।३।२), पृथिवी के (६।७।१), तु. देवासो देवम् अरतिं न्येरिरे (दौड़ाया) ८।१९।१। नाभि : जिस प्रकार चक्र अथवा मनुष्य की देह का मध्य विन्दु, वहाँ सब आकर संहत होता है। तु. द्युलोक के सहस्रधार स्रोत या उत्स से चार 'नाभ' अथवा नाभि के भीतर से होकर सोम्य अमृत प्रवाह का उतर आना ७।७४।६। [7] तु. देवानां दूतः पुरुध प्रसूतो अनागान् नो वोचतु सर्वताता ३।५४।१९। अनागाः अनपराधः (नि. १०।११)। ऋक्संहिता में अनागास्त्व के साथ अदिति का विशेष सम्बन्ध है जो अनन्तता की देवी हैं : द्र. टीका १३१८; तु. यच् चिद् धि ते पुरुषत्रा (पुरुष अथवा मनुष्य रूप में) यविष्ठा अचित्तिभिश् (अविवेक के कारण) चकृमा कच्चिद् आगः, कृधी ष्व अस्माँ अदितेर् अनागान् ४।१२।४, मित्रो नो अत्रा.

सारी देवज्योतियों के मूल में एक परम ज्योति है जिसकी संज्ञा 'विवस्वान' है। संहिता में विशेष रूप से अग्नि को विवस्वान का दूत कहा गया है [१२३८]। उसी परम चैतन्य से ही आधार में अग्नि समिन्धन की प्रेरणा प्राप्त होती है। देवयजन की भूमि पर हम जिन्हें दुःसाहस के वीर्य से उत्पन्न जानते हैं और देवताओं के निकट जिनके महाघोष में अपना आह्वान भेजते हैं, वे वस्तुतः उसी विवस्वान के ही अमृत दूत हैं जो स्वतः प्रसन्नता पूर्वक हमारे निकट दौड़कर आते हैं, उन्हें उत्तेजित करना या उकसाना नहीं पड़ता; वे

---

अदितिर् अनागान् त्सविता देवो वरुणाय वोचत् (अदिति के साथ वरुण की सहचरता द्रष्टव्य, अदिति और वरुण दोनों ही आकाश के देवता हैं एवं आकाश ही निरंजन है) १०।१२।८, ८।१०१।१५, १।२४।१५ (वरुण सहचरित) ८।४।१५ ...।
**सर्वताति** : उसके लिए अदिति के निकट विशेष रूप से प्रार्थना, तु. १।९४।१५, आ सर्वतातिम् अदितिं वृणीमहे (१०।१०० सूक्त की टेक) आदित्यगण के साथ सम्बन्ध (१।१०६।२, १०।३५।११) उसका सम्बन्ध स्वस्ति के साथ : तु. आ ते स्वस्तिम् ईमहे (हम चाहते हैं) ... अद्या च सर्वतातये श्वश् च सर्वतातये (पूषन्) ६।५६।६, अजीतये (जिससे पराजय न हो) अहतये पवस्व (सोम) स्वस्तये सर्वतातये बृहते (बृहत का सम्बन्ध लक्षणीय) ९।९६।४। शम्बर के ९९ पुरों के नष्ट होने के बाद सौवें पुर में सर्वताति आविष्कृत होता है : तु. अहं (इन्द्रो वा वामदेवो वा) पुरो मन्दसानो (सोमपान में मत्त होकर) व्यैरं (लुटाया है) नव साकं नवतीः शम्बरस्य (पहुँचा हूँ) शततमं वेश्यं (धाम) सर्वताता (शततम पुरी में वृत्र का नहीं बल्कि इन्द्र का अधिष्ठान है, इसलिए वे शतक्रतु हैं) ४।२६।३। इसके अतिरिक्त जब सविता मेरे आगे, पीछे, उत्तर दक्षिण हैं अर्थात उन्हें जब सर्वत्र अनुभव करता हूँ तभी सर्वताति का आविर्भाव : तु. सविता पश्चातात् सविता पुरस्तात् सवितोत्तरात्तात्, सविता धरात्तात्, सविता नः सुवतु सर्वतातिम् १०।३६।१४। इस प्रकार 'यज्ञ' एवं 'धी' को सिद्ध करके सभी देवता हमारे भीतर 'रत्न' की दीप्ति विकसित करना चाहते हैं इस सर्वताति के लिए : तु. इयम् एषाम् अमृतानां (अमृत देवताओं के लिए) गीः सर्वताता ये कृपणन्त (आकांक्षा करते हैं, कृपण जिस प्रकार धन चाहता है, उसी प्रकार ; ८√ कृपण, नामधातु, तु. तत् तद् अग्निर् वयो दधे यथा यथा कृपण्यति ८।३९।४) रत्नम्, धियं च यज्ञं च साधन्तस् ते नो धान्तु वसव्यम् (देवज्योति, तु. १०।७३।४) असामि (अविकल, पूर्ण) १०।७४।३। अतएव 'सर्वताति', उपनिषद का सर्वात्म भाव (ई. ७, छा. ७।२५।२, प्र. ४।११ ...)। अदिति चेतना के बिना यह सम्भव नहीं। सर्वताति जैसा ही है 'देवताति' अथवा देवात्मभाव। सर्वताति की व्युत्पत्ति करते हुए यास्क कहते हैं, 'सर्वासु कर्मतातिषु' अर्थात 'ताति' ८√ तन्। सायण देवताति की व्याख्या करते हुए कहते हैं 'देवानां विस्तारयुक्ताय यागाय' (१।१२७।८), अतएव उनकी भी व्युत्पत्ति ८ √तन्। लक्षणीय, पदपाठ में अवग्रह है। अथच पाणिनि की व्युत्पत्ति सर्व अथवा देव + तातिल् स्वार्थे (४।४।१४१); किन्तु शिवताति इत्यादि की व्याख्या करते हुए कहते हैं 'शिवं करोतीति शिवस्य भावो वा इति शिवतातिः' (द्र. १२८४, १२८५)। तो फिर सर्वताति एवं देवताति के बारे में ही क्यों नहीं ? जान पड़ता है यहाँ दो भाववाची प्रत्ययों का समावेश हुआ है जिस प्रकार प्रत्यय की आवृत्ति 'पश्चातात' प्रभृति शब्दों में देखते हैं (तु. १०।३६।१४ ...)। देव॥ देवता, उसके बाद भाव में 'ति' एवं फिर उसी आदर्श के अनुसार अन्य शब्दों का गठित होना संभव। 'सर्वताति' अवेस्ता में *hauruvatat*।

[१२३८] विवस्वान और मातरिश्वा के निकट ही द्युलोक में अग्नि का प्रथम आविर्भाव : तु. ऋ. त्वम् अग्ने प्रथमो मातरिश्वन आविर् भव सुक्रतूया (स्वच्छन्द प्रज्ञावीर्य या प्रज्ञाशक्ति द्वारा) विवस्वते १।३१।३; स जायमानः परमे व्योमन्य् आविर्

सर्वापेक्षा सहज, सुगम पथ से आते हैं, विश्व भुवन में छा जाते हैं और हमारी ही हवि द्वारा देवताओं की परिचर्या करते हैं देवात्मभाव के लिए।[1] विवस्वान के ये शीघ्रगामी दूत सभी व्यग्र उपासकों के ही निकट दौड़े चले आते हैं; उस समय जो प्राणवान हैं उन्होंने-

---

अग्निर् अभवन् मातरिश्वने १४३।२। तो फिर ये अग्नि स्वयम्भु एवं विश्वादि। उनका दौत्य उसी आदिकाल से है, वे 'पूर्व्यः, शिवो दूतो विवस्वतः' (८।३९।३)।

[1] तु. नू चित् सहोजा अमृतो नि तुन्दते होता यद् दूतो अभवद् विवस्वतः, वि साधिष्ठेभिः पथिभी रजो मम आ देवताता हविषा विवासति १।५८।१। 'सहोजाः' सर्वाभिभावी वीर्य से उत्पन्न (द्र. टी. १२४७)। 'नू चित्... नि तुन्दते' जिन्हें उकसाना नहीं पड़ता, अश्व की उपमा। **देवताति** : द्र. 'सर्वताति' टी. १२२८। सायण अन्यत्र पाणिनि का अनुसरण करते हुए कहते हैं 'स्वार्थिकम् तातिल् प्रत्ययः, तेन देवताति शब्देन देवसम्बन्धी यज्ञो लक्ष्यते, देवताता मखः (निघ. ३।१७) इति तन्नामसु पठितं' (१।२४।५)। एक अन्य रूप 'देवतात्', तृतीया में 'देवताता' (१।१२८।२), चतुर्थी में 'देवताते' ५।८६।३, ८।७।१९, २७), सप्तमी में 'देवताति' ८।७४।३, १०।८।२)। तृतीया का यह एकमात्र उदाहरण : तं यज्ञ साधम् (अग्निम्) अपि वातयामस्य (हम अनुकूल करते हैं) ऋतस्य पथा नमसा हविष्मता देवताता हविष्मता १।१२८।२, वहाँ साधन अथवा यज्ञ अर्थ उपयुक्त है; अन्यत्र सिद्धि अथवा यज्ञ के परिणाम में देवात्मभाव का बोधक है (तु. अविदाम देवान् ८।४८।३, ५।११३।७-११, १।५०।१०...)। लक्षणीय, ऋक्संहिता में अग्नि के सम्बन्ध में ही देवताति शब्द का प्रयोग सब से अधिक हुआ है उसके बाद ही सोम के सम्बन्ध में। देवताति के लिए ही अग्नि का आविर्भाव होता है एवं वे जैसे उसी परम लक्ष्य के प्रति एक तीव्र संवेग हैं; तु. (त्वम् अग्ने सहसा (सर्वाभिभावी वीर्य या अजेय शक्ति में) सहन्तमः शुष्मिन्तमो (प्राणोच्छ्वास में प्रबलतम) जायसे देवतातये रयिर् न देवतातये १।१२७।९। यह 'मनुषो देवतातिः' अथवा मनुष्य का ही देवता होना है: उसके लिए ही शुभ्र वैश्वानर अग्नि का आवाहन — जो विश्वप्राण मातरिश्वा एवं बृहत भावना के नायक बृहस्पति (३।२६।२) हैं, होतृरूप में विचित्र यज्ञ के द्वारा परमदेवता का यजन उनका (६।४।१), अर्यमा और मरुद्गण के द्युलोक में तीन ज्योतिर्मय लोकों का स्थापन है (५।२९।१; अर्यमा यहाँ आदित्यगण का उपलक्षण या बोधक है; दो गणों का समावेश लक्षणीय — एक अन्तरिक्ष अथवा प्राणलोक का और एक दिव अथवा प्रज्ञालोक का बोधक है; यह सूक्त इन्द्र का है जिनके भीतर प्राण और प्रज्ञा का समाहार है — उसके बाद ही है 'त्वम् एषाम् ऋषिर् इन्द्रासि धीरः'; तु. अध्वर या यज्ञ जब आगे बढ़ता चलता है तब देवताति के लिए प्रेमभरा आवाहन' ८।३१।५, उनका वृत्रहन्ता अनुत्तम शौर्य इसके लिए ही है ६।२।८, इन्द्र और वरुण ही देवताति के श्रेष्ठ प्रचोदक या उत्प्रेरक हैं ६।६८।२)। देवताति के लिए, बृहत होने के लिए हम अग्नि के पास ही दौड़कर जाते हैं — क्योंकि वे ही हमारे अपने हैं, हम सब के अधिक निकट हैं : तु. त्वाम् इद् धि नेदिष्ठं देवतातय आपिं नक्षामहे वृधे ८।६०।१। उनके निकट हमारी प्रार्थना : 'त्वं नो अग्ने अग्निभिर् ब्रह्म यज्ञं च वर्धय, त्वं नो देवतातये रायो दानाय चोदय' — हे अग्नि, तुम अग्नियों द्वारा हमारी बृहत की भावना एवं उत्सर्ग की साधना को संवर्धित करो; तुम हमें देवात्मभाव के लिए प्रेरित करो, देवता को प्रेरित करो संवेग प्रदान करने के लिए (१०।१४१।६; यह सूक्त अग्नि का है किन्तु ऋषि 'अग्नि तापस' अर्थात् अग्नि के साथ एकात्मकता है उनकी; 'अग्निभिः' एक ही अग्नि की अनेक वृत्तियाँ हैं जिसका परिचय आप्रीदेवगण में और उपनिषद् की पञ्चाग्नि में मिलता है)। यह देवताति विशेष रूप से धी-योग का साध्य : तु. 'कविर् बुध्नं परि मर्मृज्यते धीः सा देवताता समितिर् बभूव' — क्रान्तदर्शी धी पूरी तरह गहराव के बोध को परिमार्जित करती है (और उसी लिए ही तो) वही (धी) देवात्मभाव की साधना में एक समाहार (अर्थात् अनेक भावनाओं का पुंज) हुई है १।५२।८; धी 'कवि' यानी क्रान्तदर्शी अर्थात् उसकी दृष्टि सुदूर लक्ष्य

परम देवता के इस भृगुतुल्य संकेत को प्रवर्त साधक के लिए ग्रहण किया है।[2] अग्नि-ऋषि अथर्वा ने व्रती-ब्रह्मचारी के मूर्धन्य कमल का मन्थन करके अग्नि को अवश्य ही[3] उत्पन्न किया था किन्तु स्वरूपत: वे विवस्वान के ही दूत हैं और यम के काम्य प्रिय जन हैं।[4] जिस प्रकार वे जीवन की प्रभास्वरता में हैं, उसी प्रकार मरण की पर:कृष्णता में हैं।[5]

की ओर निबद्ध होती है; 'बुध्न' गहराई का बोध (द्र. टी. ११४६) जो खान के भीतर हीरे की तरह अभी अमार्जित है, धी उसे बार-बार परिमार्जन द्वारा सुव्यक्त करती है, तु. धीभिर् विप्रा: ... मृजन्ति [सोमं] देवतातये ९।१८।७; 'समिति' दिव्य भाव का समाहार, जो धी-योग का परिणाम, तु. यद् अग्न एषा समितिर् भवाति देवी देवेषु ... १०।११।८; धी का पुंजभाव योग की भाषा में चित्त की एकाग्रता है जो देवात्मभाव का प्रयोजक है)। देवताति ही यज्ञ का लक्ष्य है; इसलिए अग्नि 'प्रदक्षिणिद् देवतातिम् उराणं सं रातिभिर् वसुभिर् यज्ञम् अश्रेत' — दक्षता और श्रद्धा के साथ देवात्मभाव को वरण करके यज्ञ को आधार बनाया (मनुष्य का) दान और (देवता की) ज्योति लेकर (अर्थात् मनुष्य हवि देगा और उसके विनिमय में देवता देंगे ज्योति, यही यज्ञ का तात्पर्य है एवं उससे ही देवात्मभाव की सिद्धि और उस सिद्धि के सुनिपुण धारणकर्ता हैं अग्नि ३।१९।२। 'प्रदक्षिणित्' प्रदक्षिण क्रम से — यह श्रद्धा का ज्ञापक अथवा दक्षता की सहायता से, तु. २।४३।१, ३।३२।१५, ५।६०।१, १०।२२।१४; 'उराण:' <√वृ 'वरण करना')। अग्नि जिस देवमण्डली का यजन करते हैं वह हम सब के भीतर इस देवात्मभाव को उतार लाने के लिए है: तु. स आ वह देवतातिं यविष्ठ शर्धो (समूह) यद् अद्य दिव्यं (देवताओं का) यजासि ३।१९।४। यह देवताति रत्नसम्भवा है, सोमयाग की परमा सिद्धि है: तु. 'त्वम् अग्ने शशमानाय सुन्वते रत्नं यविष्ठ देवतातिम् इन्वसि' — हे अग्नि, तुम तत्पर सोमसेवन करने वाले को आच्छादित कर देते हो रत्न से, हे तरुणतम, जो शायद देवताति है (१।१४१।१०; स्मरणीय, अग्नि रत्नधातमम् १।१।१; इस मंत्र में ही उन्हें 'महिरत्न' कहा गया है; अन्यत्र वे 'दमेदमे सप्त रत्ना दधान:' ५।१।५, सोम एवं रुद्र वही ६।७४।१)। देवताति उसी बृहत् की चेतना है जिसके भीतर अमृत देवताओं का आसन है, जिसके ध्यान में सोम निरन्तर मग्न रहते हैं: तु. एष पुरु धियायते बृहते देवतातये, यत्रा-मृतास आसते ९।१५।२, उसके बाद के मंत्र में ही सोम को अन्तर के शुभ्र पथ पर स्रोत के प्रतिकूल बहा ले जाने का वर्णन है)। देवताति का प्रसंग अन्यत्र: ३।१९।१, ४।६।१, ७।३९।१, ७।१।५, १।३४।५। Geldner ने सब जगह 'Gottesdienst' divine service अर्थ नहीं किया है, कहीं कहा है 'Gotterschar' divine troop, या फिर कहीं 'Gotterschaft' — divine essence। पाणिनि के स्वार्थिक प्रत्यय को मान लेने पर देवताति = देव जो देवात्मभाव का ही व्यंजक है। [2] आशुं दूतं विवस्वतो विश्वा यश् चर्षणीर् अभि, आ जभ्रु: केतुम् आयवो भृगवाणं विशे विशे ४।७।४। 'भृगवाणं' भृगुर् इव चरन्तम् (सायण)। ऋक्संहिता में भृगुवंशीय ऋषिगण 'पितर: सोम्यास:' (१०।१४।६) एवं सिद्ध पुरुष:— 'सूर्या इव विश्वम् इद् धीतम् आनशु:' — जैसे सूर्य, जिसका ध्यान किया है वही पाया है (८।३।१६; तु. देवताओं के साथ उल्लिखित ३५।३)। अथर्वा और अंगिरा की तरह वे भी मानव समाज में अग्निविद्या के प्रवर्तक। गुहाहित अग्नि का उन्होंने आविष्कार किया था (१०।४६।२), उसके कारण अग्नि मनुष्य के निकट भृगुओं का दान है (३।२।४)। मनुष्य के भीतर देवता के आविष्ट होने से मनुष्य और देवता एकाकार हो जाते हैं इसलिए अग्नि भी अंगिरा १।१।६; अथवा भृगु (तु. १।७१।४)। गुहाहित अग्नि का प्रथम प्रकाश 'केतु' (तु. 'चित्ति' 'एवचित्ति') जो परम देवता का संकेतवाहक है। इसी मंत्र में विवस्वान परम देवता। साधक के तीन पर्याय — विश, चर्षणि, आयु; भृगु सिद्ध। [3] द्रष्टव्य ६।१६।१३, [4] भुवद् दूतो विवस्वतो ... प्रियो यमस्य काम्य: १०।२१।५। [5] यम के साथ अग्नि का सम्बन्ध

हम देखते हैं कि अग्नि मनुष्य के दूत के रूप में देवताओं के निकट जाते हैं फिर देवताओं के दूत के रूप में मनुष्य के बीच उतर आते हैं। भूलोक और द्युलोक के बीच उनके दौत्य का उल्लेख और इसपार-उसपार में आदान-प्रदान का वर्णन संहिता में अनेक रूपों में वर्णित है। त्रित आप्त्य का कथन है, 'देवताओं और मर्त्य मानवों के बीच तुम दूत हो, और दोनों के बीच महान रूप में अपनी प्रभा के साथ गतिशील हो। [१२४०]।' पथ पर चलते हुए सिन्धु की प्रस्वनित ऊर्मियों की तरह चमक उठती हैं उनकी अर्चियाँ, शिखाएँ[१]। द्युलोक और भूलोक के बीच दूत रूप में उनका यातायात होता रहता है अँधेरे को चीर-चीर कर,[२] सत्य का वाहन होकर[३] और कवि की क्रान्तदर्शिता में देवता और मानव दोनों का जन्म रहस्य जान कर।[४] इसलिए उनका यह अभियान प्रज्ञा का अभियान है, दो विद्याओं के बीच — मनुष्य होकर देवता को और देवता होकर मनुष्य को जानने के बीच — आवागमन कवि की दृष्टि के साथ।[५] उनके स्वधर्म के अनुसार मनुष्य और देवता दोनों के ऊपर ही उनका अधिकार है; उसी से देवता के दूत रूप में द्युलोक और भूलोक में वे छाये हुए हैं। यदि हम उनकी धीति और सुमति को वरण कर लें तो तीन वर्म (कवच) द्वारा हम सब की रक्षा करेंगे शिव रूप में।[६]

---

अन्त्येष्टि में, द्र. १०।१६ सूक्त। उस समय अग्नि 'क्रव्यात्' एवं 'कव्य वाहन' (९-११)। किन्तु जातवेदा अग्नि वह नहीं बल्कि वे दिव्य तनु के निर्माता हैं (१-८)। यहाँ तक कि यज्ञ यम के निकट जाते हैं अग्निदूत रूप में (१०।१४।१३), अर्थात् मृत्यु के बाद उत्सर्ग की साधना अग्नि को दूत बनाकर परमधाम में पहुँचती है (तु. मु. १।२।६)। ये यम वैवस्वत हैं कठोपनिषद के यम की तरह (तु. विवस्वन्तं हुवे यः पिता ते १०।१४।५)। ये एवं अव्यक्त के देवता वरुण एक ही तत्व (तु. उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं ~~पश्यासि~~ वरुणं च देवम् १०।१४।७) अग्नि अन्त्येष्टि में हम सब को इसी यम के निकट ले जाते हैं। ~~उत्क्रान्ति~~ की धारा इस प्रकार है — अग्नि — मातरिश्वा — सूर्य — यम (तु. १।१६४।४६; द्र. टी. ११८४)।

[१२४०] ऋ. दूतो देवानाम् असि मर्त्यानाम् अन्तर् महाँश्च चरसि रोचनेन १०।४।२। [१] यद् ... अन्तरो यासि दूत्यम्, सिन्धोर् इव प्रस्वनितास ऊर्मयो ऽग्नेर् भ्राजन्ते अर्चयः १।४४।१२। [२] ३।३।२, [३] ७।२।३, [४] २।६।७ ('जन्म' आविर्भाव — मनुष्य के भीतर देवता का एवं 'आरोधन' अथवा आरोहण के फलस्वरूप देवता के भीतर मनुष्य का ४।८।२,४; ७।८; तु. जातो जाताँ उभयाँ अन्तर् अग्ने, दूत ईयसे ४।२।२)। [५] ८।३९।१, द्र. टी. १२२५[२]। [६] तु. विभूषन्न् अग्न उभयाँ अनु व्रता दूतो देवानां रजसी सम् ईयसे। यत् ते धीतिं सुमतिम् आवृणीमहे ऽध स्मा नस् त्रिवरूथः शिवो भव ६।१५।९। अभीप्सा और आवेश के रूप में मनुष्य एवं देवता के बीच सम्बन्ध स्थापित करना अग्नि का 'व्रत' है। यही सम्पर्क स्थापित करने का मार्ग देवयान का मार्ग है (द्र. १।७२।७)। देवता की 'धीति' हमारा शिवानुध्यान है एवं 'सुमति' सौमनस्य अथवा प्रसाद है। 'त्रिवरूथ' प्रायशः 'शर्म' शब्द का विशेषण है — ८।४२।२, ६।४६।९, ५।४।८, १०।६६।७, १४२।१। तु. ब्रह्मकृतो अमृता विश्ववेदसः शर्म नो यंसन् त्रिवरूथम् अंहसः १०।६६।५: 'अंहः' चेतना संकोच, सिकुड़न, 'वरूथ' (<√वृ आच्छादित करना) का विलोम है वैपुल्य, जिसकी एक और संज्ञा है 'उरुलोक' (द्र. टी. ११७६, १२७१[२])। ये तीन वरूथ तीन लोक में चेतना की व्याप्ति है, वही यथार्थ शर्म अर्थात् शरण अथवा

इस प्रकार प्रत्येक मर्त्य आधार में निषण्ण येही 'अमृतज्योति' हैं, और परम देवता के येही 'प्रथम होता' [१३४१] हैं, केवल उपासक के नहीं,[१] बल्कि सर्वजन के दूत हैं; विश्व के दूत हैं। इसके अतिरिक्त वे प्रबुद्ध जीवन के प्रभात[२] में देवकाम मनुष्य के आधार में समिद्ध 'दूतः कविः प्रचेताः' हैं, जो [३]आनन्दमय हैं, कामना में व्यग्र, आवेग कम्प्र हैं, [४]वरेण्य और [५]अमर्त्य हैं किन्तु [६]पलित या शुभ्रकेश दूत हैं।

दूत के रूप में अग्नि के ये दो कार्य– आवाहन एवं आवहन हैं एक में उनकी संज्ञा 'होता' आवाहन कर्त्ता है और दूसरे में 'वह्नि' हैं। 'हव्यवाह' अथवा 'हव्यवाहन' के रूप में वे मनुष्य के 'वह्नि' हैं— देवता के निकट उसकी आहुति दूत के रूप में ले जाते हैं। तब वे 'यशस्वी वह्नि, विद्या के केतन, सुतर्पण दूत, लक्ष्य तक अविलम्ब पहुँचनेवाले, द्विजन्मा, श्लाघ्य संवेग की तरह होते हैं— जिन्हें मातरिश्वा भृगु के निकट से दान रूप में लेकर आए हैं' [१३४२]। [१]हव्यवाहन

स्वस्ति (६।४६।८) हैं; वही देवता का वर्म अथवा 'कवच' भी हैं।

[१३४१] तु. ऋ. ६।८।४। [१] १।३६।५, ४४।८, ४।७।२, विश्वस्य दूतम् अमृतम् ७।१६।१। [२] आ देवयुर् इनधते दुरोणे ४।२।७+ १०।११०।१। [३] 'उशिग् दूतश् चनोहितः' ३।११।२। [४] ८।१०२।१८, १०।१२२।५। [५] १।४४।११, ६।१६।६। [६] 'नि वेवेति पलितो दूत आस्व् अन्तर् महाँश् चरति रोचनेन, वपूंषि बिभ्रद् अभि नो वि चष्टे महद् देवानाम् असुरत्वम् एकम्'— शुभ्रकेश दूत वे ओषधियों में रममाण हैं, व्याप्त हैं, (द्युलोक और भूलोक) के अन्तर में महान होकर विचरण करते हैं, दमकती द्युति के साथ, विचित्र तनु की प्रच्छटा के साथ हम सब की ओर देख रहे हैं: निश्चय ही देवताओं का महत् असुरत्व एक ही है ३।५५।९। 'वेवेति' < √वी 'सम्भोग करना'। ओषधि जड़ पदार्थ में प्राणचेतना का प्रथम प्रकटन, 'ओष' अथवा अग्नि का तेज उनके भीतर निहित। अश्वत्थ उनका आश्रय है और सोम उनका राजा है (१०।९७।५, १८,१९)। भावों का यह अनुषंग द्रष्टव्य: अश्वत्थ ब्रह्मवृक्ष; अग्नि वनस्पति; देह एक ऊर्ध्वमूल अवाक्शाख वृक्ष की तरह, नाड़ीतंत्र उसकी शाखा-प्रशाखा; अग्नि अथवा सोम उनके भीतर संचरण करते हैं; सोमलता मध्यनाड़ी– सुषुम्ना। इससे जान पड़ता है कि यहाँ ओषधि में अग्नि का रमण नाड़ीतंत्र में द्रविणोदा अग्नि का संचरण है। यह अग्नि सनातन है, इसलिए पलित (तु. १।१६४।१); और, ओषधियाँ प्राणशक्ति का वाहन होने के कारण नित्य तरुणी, शाश्वत नवयौवना हैं (द्र. १०।९७ सूक्त)। नाड़ी तंत्र में अग्नि का यह संचरण धीरे-धीरे विश्वव्यापी अग्नि संचरण का बोध ले आया, योग की भाषा में पिण्ड और ब्रह्माण्ड एकाकार हो गए। उसके बाद द्युमूर्धा में वैश्वानर अग्नि के विचित्र 'वपु' का दर्शन, वहाँ वे सर्वसाक्षी हैं (तु. १०।५।१)। यही देवता का 'महत् असुरत्व' अथवा अनिर्वचनीय महिमा है।

[१३४२] ऋ. 'वह्निं यशसं विदथस्य केतुं सुप्राव्यं दूतं सद्योअर्थम्, द्विजन्मानं रयिम् इव प्रशस्तं रातिं भरद् भृगवे मातरिश्वा' १।६०।१। यशस् < √ यश ॥ ईश् (तु. √यज् ॥ ईज्, यह् ॥ ईह्) 'ईश्वर अथवा प्रशास्ता होना'; विशेषण होने पर

ये देवता हम सब के नित्य तरुण पिता हैं, [2] हम मर्त्य मानव उन्हें पकड़े हुए हैं क्योंकि हम जानते हैं कि देवता के निकट हमारी आहुति वहन करके वे ही ले जाएँगे और हमारे उत्सर्ग की समस्त साधना की वे ही युवतम मनुष्य रूप में अपने सामर्थ्य द्वारा रख-वाली कर रहे हैं। [3] वे देवताओं के मध्य विराजमान थे किन्तु हमारा हव्य वहन करने के लिए आविष्ट हुए इस मर्त्य आधार में। उनके आवेश से हम जाग उठे, आवेग कम्पित हम सब का कंठ स्मृतिमुखर हुआ, अपने उत्साह से वर्धमान अमर्त्य हव्यवाहन को समिद्ध किया। उस समय द्युलोक के अभियात्री देवताने वह्नि रूप में अपावृत किया तमिस्रा का द्वार, और [6] रहस्य के प्रज्ञान द्वारा हमारे लिए खोज कर प्राप्त की ज्योति। तब यही हव्यवाट् अग्नि ही नित्य तरुण आनन्द-धान वैश्वानर हुए। [8]

अन्तोदात्त। 'विदथ' प्रज्ञान, अग्नि उसका केतु है अथवा प्रज्ञापक है। 'सुप्रावी' सुष्ठु प्रावयति प्रत्यर्पयति यो देवता: स सुप्रावी यष्टा (स्कन्द १।३४।४, तु. १०।१२५।२; सायण 'रक्षिता' १।६०।१); यहाँ वह्नि रूप में अग्नि ही यजमान। 'अर्थ' लक्ष्य, परमदेवता। 'द्विजन्मा': अग्नि के दो जन्म: अधियज्ञ दृष्टि से उत्तरारणि एवं अधरारणि से ३।२९।१) आधिदैवत दृष्टि से द्यावा-पृथिवी से (१०।१।२)। मातरिश्वा ने अग्नि विद्या भृगु को प्रदान की एवं भृगु ने मनुष्य समाज को (द्र. टीका १२३८[2])। इस अग्नि में है ईशना (तु. क. २।१।१२, १३), प्रज्ञान एवं संवेग; तब भी वे देवता के प्रसाद। हम सब की अभीप्सा भी वही। [1] ऋ. हव्यराल्. अग्निर् अजर: पिता न: ५।४।२, [2] तं त्वा मर्ता अगृभणत देवेभ्यो हव्यवाहन, विश्वान् यद् यज्ञाँ अभिपासि मानुष तव क्रत्वा यविष्ठ्य ३।८।६। 'मानुष': देवता और मनुष्य स्वरूपत: एक। इन्द्र को भी मानुष (मनुष्य) सम्बोधित किया गया है १।८४।२०। उपनिषद् में 'इस पुरुष में जो है और आदित्य में जो है दोनों ही एक' तै. २।८, ई. १६; तु. ऋ. १।१६४।२०। [3] अग्निर् देवेषु राजत्य् अग्निर् मर्तेष्व् आविशन्. अग्निर् नो हव्यवाहन: ५।२५।४। [4] तं त्वा विप्रा विपन्यवो जागृवांस: सम् इन्धते, हव्यवाहम् अमर्त्यं सहोवृधम् ३।१०।९। सह: वही वीर्य या शक्ति जो सारी बाधाओं को पराभूत करे। सह् धातु की प्राचीन व्यंजना 'साहस' अथवा उत्साह में है किन्तु 'सहन' में उसकी अवनति हुई है। [5] अप द्वारा तमसो वह्निर् आव: ३।५।१। [6] उपविदा वह्निर् विन्दते वसु ८।२३।३। उपवित् (तु. निवित्) अग्नि-विद्या अथवा प्रज्ञान (तु. २।६।७, ८।१०२।१५, ७।५४।२ 'सूर्य इवोपदृक्'। [7] हव्यराल्. अग्निर् अजरश् चनोहित: ३।२।२ (वैश्वानर सूक्त)। [8] अग्नि मुख अथवा जिह्वा द्वारा अर्थात् शिखा द्वारा हव्य वहन करते हैं १०।११५।२, वह्निर् आसा १।७६।४, ६।१६।९ (७।१६।९); तु. 'त्वं होता मन्द्रतमो नो अध्रुग् अन्तर् देवो विदथा मर्त्येषु, पावकया जुह्वा वह्निर् आसाऽग्ने यजस्व तन्वं तव स्वाम्' — तुम सब से अधिक आनन्द में मतवाले हमारे द्रोहहीन होता हो मर्त्य के अन्तर में देवता होकर (सिद्ध करते हो) विद्या की साधना, पावक अपनी जिह्वा और मुख में वहन करते हो (हवि:); हे अग्नि, तुम्हारे अपने तनु का यजन तुम स्वयं करते हो (६।११।२; अग्नि देवयाजी होकर आत्मयाजी, मनुष्य भी वही, तु. बृ. १।४।१०)। और भी द्रष्टव्य: 'हव्यवाहन': त्वां देवासो मनवे दधुर् इह हव्यवाहन: ६।१६।२२ (८।२३।६...) ७।१५।६...। 'हव्यवाट्': १।१२।२, ६, १२८।८, ३।११।२,

ये देवता हम सब के नित्य तरुण पिता हैं, [2] हम मर्त्य मानव उन्हें पकड़े हुए हैं क्योंकि हम जानते हैं कि देवता के निकट हमारी आहुति वहन करके वे ही ले जाएँगे और हमारे उत्सर्ग की समस्त साधना की वे ही युवतम मनुष्य रूप में अपने सामर्थ्य द्वारा रखवाली कर रहे हैं। [3] वे देवताओं के मध्य विराजमान थे किन्तु हमारा हव्य वहन करने के लिए आविष्ट हुए इस मर्त्य आधार में। उनके आवेश से हम जाग[4] उठे, आवेग कम्पित हम सब का कंठ स्तुतिमुखर हुआ, अपने उत्साह[5] से वर्धमान अमर्त्य हव्यवाहन को समिद्ध किया। उस समय द्युलोक के अभियात्री देवताने वह्नि रूप में अपावृत किया तमिस्रा का द्वार, और [6] रहस्य के प्रज्ञान द्वारा हमारे लिए खोज कर प्राप्त की ज्योति। तब यही[7] हव्यवाट् अग्नि ही नित्य तरुण आनन्दघन वैश्वानर हुए। [8]

अन्तोदात्त। 'विदथ' प्रज्ञान, अग्नि उसका केतु है अथवा प्रज्ञापक है। 'सुप्रावी' सुष्ठु प्रावयति प्रत्यर्पयति यो देवताः स सुप्रावी यष्टा (स्कन्द १|३४|४, तु. १०|१२५|२; सायण 'रक्षिता' १|६०|१); यहाँ वह्नि रूप में अग्नि ही यजमान। अर्य' लक्ष्य, परमदेवता। 'द्विजन्मा': अग्नि के दो जन्म: अधियज्ञ दृष्टि से उत्तरारणि एवं अधरारणि से ३|२९|१) आधिदैवत दृष्टि से द्यावा-पृथिवी से (१०|१|२)। मातरिश्वा ने अग्नि विद्या भृगु को प्रदान की एवं भृगु ने मनुष्य समाज को (द्र. टीका १३३८[2])। इस अग्नि में है ईशना (तु. क. २|१|१२,१३), प्रज्ञान एवं संवेग; तब भी वे देवता के प्रसाद। हम सब की अभीप्सा भी वही। १ ऋ. हव्यराल्. अग्निर् अजरः पिता नः ५|४|२, २ तं त्वा मर्ता अगृभ्णत देवेभ्यो हव्यवाहन, विश्वान् यद् यज्ञाँ अभिपासि मानुष तव क्रत्वा यविष्ठ्य ३|८|६। 'मानुष': देवता और मनुष्य स्वरूपतः एक। इन्द्र को भी मानुष (मनुष्य) सम्बोधित किया गया है १|८४|२०। उपनिषद् में 'इस पुरुष में जो है और आदित्य में जो है दोनों ही एक' तै. २|८, ई. १६; तु. ऋ. १|१६४|२०। ३ अग्निर् देवेषु राजत्य् अग्निर् मर्तेष्वा. विशन्. अग्निर् नो हव्यवाहनः ५|२५|४। ४ तं त्वा विप्रा विपन्यवो जागृवांसः सम् इन्धते, हव्यवाहम् अमर्त्यं सहोवृधम् ३|१०|९। सह: वही वीर्य या शक्ति जो सारी बाधाओं को पराभूत करे। सह धातु की प्राचीन व्यंजना 'साहस' अथवा उत्साह में है किन्तु 'सहन' में उसकी अवनति हुई है। ५ अप द्वारा तमसो वह्निर् आवः ३|५|१। ६ उपविदा वह्निर् विन्दते वसु ८|२३|३। उपवित् (तु. निवित्) अग्नि-विद्या अथवा प्रज्ञान (तु. २|६|६, ८|१०२|१५, ७|५४|२ 'सूर्य इवोपदृक्'। ७ हव्यराल. अग्निर् अजरश् चनोहितः ३|२|२ (वैश्वानर सूक्त)। ८ अग्नि मुख अथवा जिह्वा द्वारा अर्थात् शिखा द्वारा हव्य वहन करते हैं १०|११५|२, वह्निर् आसा १|७६|४, ६|१६|९ (७|१६|९); तु. 'त्वं होता मन्द्रतमो नो अध्रुग् अन्तर् देवो विदथा मर्त्येषु, पावकया जुह्वा वह्निर् आसाऽग्ने यजस्व तन्वं तव स्वाम्' — तुम सब से अधिक आनन्द में मतवाले हमारे द्रोहहीन होता हो मर्त्य के अन्तर में देवता होकर (सिद्ध करते हो) विद्या की साधना, पावक अपनी जिह्वा और मुख में वहन करते हो (हविः); हे अग्नि, तुम्हारे अपने तनु का यजन तुम स्वयं करते हो (६|११|२; अग्नि देवयाजी होकर आत्मयाजी, मनुष्य भी वही, तु. वृ. १|४|१०)। और भी द्रष्टव्य: 'हव्यवाहन': त्वां देवासो मनवे दधुर् इह यजिष्ठं हव्यवाहन १|३६|१०, ८|१९|२१, १|४४|२, ५|११|४, ३|४१|१८, ५|२८|६, दूतो हव्यवाहनः ६|१६|२२ (८|२३|६...) ७|१५|६...। 'हव्यवाट्': १|१२|२,६, १२८|८, ३|११|२,

इसके अलावा वे देवताओं के भी 'वह्नि' हैं, मनुष्य के निकट उनके दूत हैं [१२४३]। मनुष्य की भी प्रार्थना है कि [१] उत्सुक ज्योति के द्वार एक एक करके खुल जाएँ और ये पुरोगामी दूत व्यग्र देवताओं को यहाँ आवहन कर हमारे निकट लाएँ और वहन करके ले आएँ [२] वसु, रुद्र और आदित्य इन तीन गणों में विभक्त [३] तैंतीस देवताओं को, [४] वहन करके लाएँ देवपत्नियों को, [५] देवयान के मार्ग में ले आएँ सुषम सन्तुलित होकर महती एवं बृहती ऋतस्रा रूपिणी देवी अरमति को मधुपान में मत्त होने के लिए — जिन्हें हमने हव्य दिया है एक नमस्कार में; और उसके ही परिणाम स्वरूप ये तरुणतम देवता हमारे लिए वहन कर देवात्मभाव की महिमा ले आएँ। मनुष्य और देवता के बीच अभीप्सा के अतन्द्र दौत्य का यह सार्थक परिणाम है।

देवकाम की जिस सुकृति [१२४४] को अवलम्बन करके

---

१७।४, ४।८।१, ५।६।५, ६।१५।४, ७।१०।३, ८।४४।३, १०।४६।४... और भी द्र. १०।१२।२, ५१।५, ११८८।१...।

[१२४३] तु. ऋ. वह्निं देवा अकृण्वत ३।११।४ (७।१६।१२), देवो दूतं चक्रिरे हव्यवाहनम् ५।८।६ (द्र. टी. १२३७[४])। [१] ७।१७।२ (द्र. टी. १२३७[१]); पुरोगामी: अग्निर् देवानाम् अभवत् पुरोगाः १०।११०।११, १२४।१, १।१८८।११। वहन करके ले आने के अर्थ में आ√वह् धातु का प्रचुर प्रयोग है देवताओं के सम्बन्ध में: १।१२।३, १४।१२, २।३।२, २।३।६, ४।२।४, ५।२६।१, ६।१६।६, १०।११०।१...। [२] १०।१५०।१, ७।१०।४, [३] १।४५।२, ३।६।९, [४] ३।६।९, १।२२।९-१०, [५] आ नो महीम् अरमतिं सजोषा ग्नां देवीं नमसा रातहव्याम्, मधोर् मदाय बृहतीम् ऋतज्ञाम् आग्ने वह पथिभिर् देवयानैः ५।४३।६ (देवी **अरमति** का विशेष परिचय ऋक्संहिता में नहीं प्राप्त होता। अवेस्ता में वे 'पृथिवी' एवं 'प्रज्ञा'; सायण बतलाते हैं 'भूमि' ७।३६।८, ४।२।३; पदपाठ में अवग्रह नहीं है; शौनक संहिता में 'रमति' विश्रान्ति ६।७३।२, ३, ७।७९।२; तो फिर नञ् समास के साथ अरमति = जगती? तु. अरममाणः ऋ. ७।८२।३। द्र. वैदिक पदानुक्रम कोष; एकाधिक स्थान पर उनका 'मही' विशेषण; शौनक संहिता का पृथिवी सूक्त, द्र. १२।१: वे हिरण्यवक्षा हैं ६, २६, अदिति ६१, परमव्योम में उनका अमृत हृदय सत्य के द्वारा आवृत है ८ जो कुछ 'प्राणद् एजत्' उसकी वे धात्री हैं ४, वे माता मैं उनका पुत्र हूँ १२; ऋक्संहिता में भी अरमति को दो बार 'पनीयसी' अथवा स्तुत्यतरा बतलाया गया है १०।६४।१५, ९२।४; वर्तमान मंत्र की स्तुति शौनक संहिता की स्तुति के अनुरूप है)। [५] ३।१९।४ (द्र. टी. १२३८[१])।

[१२४४] याज्ञिक की एक संज्ञा 'सुकृत' ऋक्संहिता में बहुप्रयुक्त। 'उरुलोक' अथवा अनिबाध चेतना का वैपुल्य (द्र. टीका ११२६)। उनका पुरुषार्थ — जिस प्रकार जीवन में उसी प्रकार मरण में। तु. 'यस्मै त्वं सुकृते जातवेद उ लोकम् अग्ने कृणवः स्योनम्, अश्विनं स पुत्रिणं वीरवन्तं गोमन्तं रयिं नशते स्वस्ति' अर्थात् हे अग्नि, हे जातवेदा जिस सुकृत के लिए तुमने उरुलोक को किया है सुखकर, सुकर, वह प्राप्त करता है अश्ववान्, पुत्रवान्, वीरवान्, गोमान् संवेग, (जिसका परिणाम) स्वस्ति (५।४।११; सन्धा भाषा में अभ्युदय एवं निःश्रेयस दोनों के अनुकूल सम्पद् या सौभाग्य का वर्णन: 'अश्व' ओजः अथवा प्राणशक्ति १०।७३।१०, 'गो' ज्योति अथवा प्रज्ञा, 'वीर' वीर्य 'पुत्र' साधक के भीतर देवता का आविर्भाव नवजात के रूप में और सब के अन्त में 'स्वस्ति' अथवा निःश्रेयस तु० १०।३२ सूक्त की टेक 'स्वस्त्य् अग्निं समिधानम् ईमहे');

अग्नि का यह दौत्य है उसका पारिभाषिक नाम 'यज्ञ' है।[1] यज्ञ देववाद का साधनांग है, जिस प्रकार उपासना एवं ध्यान ब्रह्मवाद का साधनांग है। अग्नि के सहारे ही हम देवता को प्राप्त करते हैं क्योंकि वे ही देवताओं के पुरोहित हैं[2] और इस कारण यज्ञ के साथ उनका सम्बन्ध सब से अधिक घनिष्ठ है। यज्ञ के पर्यायवाची शब्दों में 'अध्वर', 'ऋत', 'विदथ' मुख्य हैं।[3] 'यज्ञ' एक साधारण संज्ञा है जिसका तात्पर्य है देवताओं के उद्देश्य से द्रव्य त्याग एवं परिणाम स्वरूप 'देवताति' अथवा देवता का सायुज्य प्राप्त करना।[4] 'अध्वर' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है 'धूर्ति' अथवा टेढ़ी चाल का अभाव, ऋजुता, अमायिकता, निष्कपटता; इससे यजमान के चारित्र अथवा चालचलन का परिचय मिलता है। 'ऋत' विश्व के छन्द के साथ जीवन के छन्द का सामंजस्य स्थापित करना है अर्थात व्यक्ति के स्वभाव एवं आचरण में धर्म और न्याय का स्फुरण ऋत है, जो उसी चारित्र का फल है।[5] और उसका परिणाम 'विदथ'

---

यास्ते शिवास् तन्वो जातवेदस् ताभिर् वहैनं सुकृताम् उ लोकम् १०।१६।४ (तु. मु. एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः १।२।६)। इस ज्योतिर्मय उरुलोक की प्राप्ति ही सोमयाग फल है: तु. तन नु सत्यं पवमानस्यास्तु ... ज्योतिर् यद् अह्ने (अनस्तमित दिन के लिए) अकृणोद् उ लोकम् ऋ. ९।९२।५; लोका यत्र ज्योतिष्मन्तः ९।११३।९, यस्मिन् लोके स्वर् हितम् ... अमृते लोके अक्षित ७। **यज्ञ** 'देवकर्म'; तु. 'यो यज्ञो विश्वतस् तन्तुभिस् तत एक शतं देवकर्मेभिर् आयतः, इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्र वया प वयेत्य् आसते तते' — जो यज्ञ चारों ओर से अनेक तन्तुओं द्वारा वितत (प्रसारित) है और एक सौ एक देवकर्मों द्वारा आस्तृत है उसको वयन किया है इन पूर्व पुरुषों (पितृगण) ने जो यहाँ आए हैं, इस वितत यज्ञ में बैठे हैं और कह रहे हैं 'उस ओर बुनते चलो, इस ओर बुनते आओ' १०।१३०।१। तन्तुओं से निर्मित वस्त्र के साथ यज्ञ की उपमा (तु. ६।९।२, ३)। पितृपुरुषों ने जिस रूप में यज्ञ किया है, हम सब उसका ही अनुसरण कर रहे हैं। वे हमारे यज्ञ में अधिष्ठित रहकर देवकर्म में हमें प्रेरित करते हैं। 'प्रवयन' बुनते बुनते सामने की ओर जाना अर्थात पृथिवी से द्युलोक की ओर; और 'अपवयन' उधर से बुनते बुनते इधर उतर आना अर्थात फिर द्युलोक से पृथिवी तक (तु. नचिकेता का प्रथम वर, क. १।१।१०-११)। अनुष्ठान की दृष्टि से यज्ञ 'तंत्र' है और परिनिष्ठिति की दृष्टि से **कल्प** (< √क्लृप 'गढ़ना') तु. 'तेन चाक्लृप्रे ऋषयो मनुष्याः' देवयज्ञ के आदर्शानुसार मानव ऋषियों ने मनुष्य यज्ञ की कल्पना की १०।१३०।५, ६। इसके अलावा तमिस्रा का हनन करके सोमयाग द्वारा दिव्य तनु गढ़ लेना भी 'कल्प' है (तु. ९।९।८; ऐब्रा. यजमानं संस्कृत्याग्नौ देवयोन्यां जुहोति, अग्निर्वै देवयोनिः, सो ऽग्नेर् देवयोन्या आहुतिभ्यः सम्भूय हिरण्यशरीर ऊर्ध्वः स्वर्गं लोकम् एति २।१४, ३।१९)। देव यज्ञ में विश्वदेव यजमान, और परमदेव यजनीय: देवा देवम् अयजन्त विश्वे (१०।१३०।३; तु. १०।९०।१६...)। [2] तु. ३।२।८। [3] निघन्टु में यज्ञ के नामों में 'ऋत' नहीं है। किन्तु तु. नि. ऋतं सत्यं वा यज्ञं वा ४।१९; ऋ. ७।२१।२; द्र. टी. १२०८।४ तु. 'यज्ञैर् अथर्वा प्रथमः पथस् तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि, आ गा आजद् उशना काव्यः सचा यमस्य जातम् अमृतं यजामहे' — यज्ञ द्वारा अथर्वा ने पहले पथ को वितत किया उसके बाद व्रतरक्षक एवं प्रिय बन्धु सूर्य ने जन्म लिया; साथ ही साथ कवि-गोत्रीय उशना गायों को हाँक कर ले आए, यम से उत्पन्न अमृत का हम यजन करते हैं (१।८३।५; पृथिवी से द्युलोक का मार्ग यज्ञ के परिणाम स्वरूप खुल गया और उसी के अन्तर में सूर्य का उदय हुआ; आलोकधेनुएँ गुहा की आड़ में थीं,

अथवा विद्या, प्रज्ञान है।[6] अग्नि के प्रसंग में यज्ञ का वर्णन संहिता में नाना रूपों में अनेक स्थानों पर बिखरा हुआ है। उपर्युक्त चारों संज्ञाओं के बारे में हम एक बहुत संक्षिप्त विवृति दे रहे हैं। ऋक्संहिता के प्रथम मण्डल के प्रथम मंत्र से आरम्भ कर रहे हैं। मधुच्छन्दा वैश्वामित्र का कथन है; 'अग्नि को मैं उद्दीप्त करता हूँ, उनका स्तवन करता हूँ, वे पुरोहित हैं, वे दिव्य ऋत्विक हैं, होता हैं, वे अनुत्तम रत्नधा हैं।'[8]

पहले ही हम बतला चुके हैं कि ऋग्वेद होतृवेद है, जिसकी संहिता देवप्रशस्ति का संकलन है। देवताओं के आदि में अग्नि

---

के सामने आई; देवजन्म में हम मृत्यु के देवता यम के निकट से ही नचिकेता की तरह अमृत अथवा अमरता का अधिकार प्राप्त करते हैं। 'उशना काव्य' सायण के मतानुसार 'भृगु' हैं। यज्ञ के प्रवर्तक पितृगण का उल्लेख किया जा रहा है। इसके पूर्वमंत्र में अंगिराओं का उल्लेख है और पणियों के गोधन हरण का संकेत भी है। 'अमृत' को वेंकट, सायण, स्कन्द सब ने इन्द्र समझा है, केवल स्कन्द का मन्तव्य: 'यम इति यज्ञनाम शाकपूणिना पठितम्, अथवा यमोऽऽदित्य एव, षष्ठी निर्देशाच्च सकाशाद इति वाक्यशेषः, आदित्य सकाशाज् जातम् अमृतं सजागह इति'); ये (अंगिरागण) ऋतेन दक्षिणया समक्ता ('संगताः' सायण ऋषि रूप में) इन्द्रस्य सख्यम् अमृतत्वम् आनश (प्राप्त किया) १०।६२।१, 'य ऋतेन सूर्यम् आरोहयन् दिवि' २; 'अग्ने यं यज्ञम् अध्वरं विश्वतः परिभूर् असि (व्याप्त हो) स इद् देवेषु गच्छति' १।१।४; अंगिरागण 'देवपुत्रा ऋषयः' १०।६२।४; 'यः समिधा य आहुती (आहुति द्वारा) यो वेदेन (वेद अथवा प्रज्ञान द्वारा) ददाश (दिया है) मर्तो अग्नये, यो नमसा स्वध्वरः (जिसकी अध्वर साधना अनायास) ... न तम् अंहः (संकोच) देवकृतं कुतश् चन न मर्त्यकृतं नशत् (निकटता प्राप्त करना) ८।१९।५, ६ (अर्थात यज्ञ के फलस्वरूप उसका अभ्युदय एवं निःश्रेयस दोनों ही उदार होता है); 'शुभ्रम् अग्निं ... हवामहे ... मनुषो देवतातये' ३।२६।२।

५ 'अध्वर इति यज्ञनाम, ध्वरतिर् हिंसाकर्मा। तत्प्रतिषेधः' नि. १।८; तु० यजुःसंहिता की व्युत्पत्ति: 'अध्वर में देवता असुर द्वारा अध्वृत अथवा अधर्तव्य' तै. ब्रा. ३।२।२।३, मै. ३।६।१०, काठ. २३।७। <√ध्वर॥ ध्वृ॥ ह्वृ 'टेढ़ा तिरछा' (तु. 'जुहुराणम् एनः' ऋ. १।१८९।१)। अध्वर का विलोम धूर्ति, उससे बचने की प्रार्थना १।१८।३ (७।४४।८), 'पाहि नो अग्ने रक्षसः पाहि धूर्तेर् अराव्णः (जो देवताओं को देता नहीं)' १।३६।१५, ७।१।१३, 'न तं धूर्तिर् वरुण मित्र मर्त्यं [प्राप्नोति] यो वो धामभ्योऽविधत् (लक्ष्य पर एकाग्रचित्तता)' ८।२७।१५, ४८।३; इसके अलावा 'धूर्ति' माया जैसे वरुण की १।१२८।७। और एक रूप है 'ध्वरस': 'न तम् अंहो न दुरितं (दुश्चरित, बदचलन, गलत रास्ते पर चलना, तु. क. १।२।२४) कुतश्चन नारातयस् तितिरुर् (वश में किया है) न द्वयाविनः (दुमना, शंकाशील, प्रवंचक), विश्वा इद् अस्माद् ध्वरसो (संकोच, दुश्चरित, कार्पण्य, प्रवंचना आदि) वि बाधसे यं सुगोपा रक्षसि ब्रह्मणस्पते' ऋ. २।२३।५; 'द्रुहं जिघांसन् ध्वरसम् अनिन्द्राम्' (चित्त का जो द्रोह इन्द्र को स्वीकार नहीं करता) ४।२३।७। तो फिर अध्वर इन सब टेढ़ी चालों से रहित, तु. प्र. 'तेषाम् असौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्मम् अनृतं न माया चेति' १।१६। आधुनिक व्युत्पत्ति < IE ndh 'to go', Pali अन्धति 'he goes', GR anemathen 'He comes forth', hence 'a way, a course', 'अध्वन्' शब्द के बारे में प्रयोज्य है, अध्वर के नहीं। द्र. 'ह्वर' कौटिल्य, कुटिलता ऋ. २।२३।६, ५।२०।२ ... तु.

हैं। अतः संहिता के प्रायः सभी मण्डल अथवा उपमण्डल के आरम्भ में अग्नि की प्रशस्ति है। देववाद की साधना यज्ञ है, जो साधक हैं वे 'यजमान' हैं, साधना में सिद्ध होने पर वे 'ऋत्विक्' अर्थात 'ऋतुयाजी' हैं। यज्ञभावना एवं साधना आदित्यायन के छन्द के साथ ग्रथित है। ऋत्विक् उस अयन अथवा ऋतु के रहस्य को जानते हैं, वे 'अहर्विद' हैं [1345] मनुष्य-ऋत्विक् वस्तुतः देव-ऋत्विक् के प्रतिभू अथवा प्रतिनिधि हैं जिस प्रकार मनुष्य यज्ञ देव-यज्ञ का ही अनुवर्तन है [1346]। अग्नि ही वह दिव्य ऋत्विक् हैं जो ऋतु के अनुसार मनुष्य की ओर से देवता का यजन करते हैं।[1] देवयजन देवता की सायुज्यप्राप्ति के लिए ही किया जाता है। मर्मज्ञों की दृष्टि में वह यजन मैं नहीं करता बल्कि[2] मेरे भीतर ध्रुव या स्थिर ज्योति के रूप में निहित जो देवता हैं वे ही यजन करते हैं;[3] यह आधार उनका अपना घर है, उसी घर में वे स्वयं बढ़ते चलते हैं,[4] प्रचेता रूप में मेरे भीतर सारी विश्ववारा अथवा विश्ववरेण्य प्राण की धाराओं को परिव्याप्त करते हैं और उनकी ही[5] चेतना में मेरी अचित्ति को चित्ति में रूपान्तरित करते हैं, यही उनका 'सुक्रतु' अथवा अनायास सृष्टि-वीर्य है।[6]

---

Eng, whirl, whorl; whore कुलटा। ६ जो देवता को चाहता है, वह 'देवयु' है, उसी प्रकार ऋत को जो चाहता है वह **ऋतयु** अथवा **ऋतयत्**। तु. ८।७०।६, ५।८।१, ऋतावानम् [अग्निम्] ऋतायवो यज्ञस्य साधनं गिरा (वाणी द्वारा) उपो एनं जुजुषुर् (पाकर तृप्त हुए) नमसस्पदे (देवता के लिए जहाँ प्रणति है, हृदय में : तु. स्तोमो नमस्वान् हृदा तष्टः १।१७१।२) ८।२३।७, २।१।२, १।७०।६-८ (फलश्रुति...। ७ अग्नि 'विदथ्य' अर्थात विद्या की साधना द्वारा लभ्य ३।५४।१। ८ अग्निम् ईळे पुरोहितं यज्ञस्य देवम् ऋत्विजम्, होतारं रत्नधातमम् १।१।१।

[1345] ऋक्संहिता में ऋत्विक्-गण अहर्विद (१।२।२), अश्विद्वय (८।५।७, २१) एवं विष्णु (१।१५६।४)। 'अहः' अनस्तमित, अशेष आलोक या ज्योति का प्रतीक है उसको प्राप्त करना ही पुरुषार्थ है (तु. ७।७।२।५)। द्युलोक में ज्योति का अभियान अश्विद्वय के संवेग से शुरू होता है और विष्णु के परमपद में समाप्त होता है।

[1346] तु. ऋत्विक्वरण के समय ऋत्विक्प्रधान ब्रह्मा के लिए मंत्र है : 'ओम् अहं भूपतिर् अहं भुवनपतिर् अहं महतो भूतस्य पतिः, भूर् भुवः स्वः, देव सवितर् एतं त्वा वृणुते बृहस्पतिं ब्रह्माणम्... बृहस्पतिर् देवानां ब्रह्माहं मनुष्याणाम्' तैब्रा. ३।७।६। मनुष्य यज्ञ उत्सृष्टि अथवा उत्सर्ग है और देवयज्ञ विसर्ग या विसृष्टि है (द्र. टी. 1343)। दोनों के ही मूल में आत्माहुति है। १ ऋ. 'यत् पाकत्रा मनसा दीनदक्षा (अज्ञान मन एवं दीन सामर्थ्य लेकर; तु. ४।२४।७, वहाँ 'दक्ष' बुद्धिमान्) न यज्ञस्य मन्वते (यज्ञ का तत्व नहीं जानते) मर्त्यासः, अग्निष्टद् धोता क्रतुविद् विजानन् यजिष्ठो देवाँ ऋतुशो यजाति' ('ऋत्विक्' संज्ञा का मूल यहाँ ही) १०।२।५; अग्ने यज्ञं नय ऋतुथा ८।४४।८, दैव्या होतारा... देवान् यजन्ताव् ऋतुथा २।३।७, १०।११०।१०। अग्नि 'देवऋत्विक्' ५।२२।२ (२६।७)। २ तु. ६।९।५; ३ ६।९।४, वर्धमानं स्वे दमे १।१।८; ४ य इन्वति द्रविणानि प्रचेता विश्ववाराणि ६।५।१; ५ तु. ४।२।११। ६ 'क्रतु' निघ. कर्म २।१ प्रज्ञा ३।९; तु. नि. २।२८। आगे चलकर यज्ञार्थ में व्यवहृत। 'सुक्रतु'

किन्तु उनके इस दिव्य कर्म में मेरा भी हिस्सा है। वे ही मेरे भीतर अपना तनु रचते हैं [१३४८], तब भी मेरे निकट से अपना 'शंस',[1] अथवा स्वीकृति चाहते हैं और चाहते हैं कि उनका चंचल हृदय मेरे हृदय को भी चंचल करे।[2] उस समय उनके आवेश से मन के आकाश में श्रद्धा की अरुणिमा में मेरे हृदय की आकूति रूप धारण करती है।[3] वही श्रद्धा मुझे जिस प्रकार यज्ञ की दृष्टि से वेदी में उसी प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि से हृदय में अग्नि के समिन्धन में प्रवर्तित करती है।[4]

---

[illegible] का यज्ञ सम्बन्ध तु· इमं यज्ञं … देवत्रा धेहि सुक्रतो ३।१।२२, यजथाय [illegible] सुक्रतुः ५।११।२, देवयज्याय सुक्रतुः ७।३।८।

[illegible] तु· ऋ· 'स्वयं यजस्व दिवि देवान् किं ते पाकः (अज्ञान, निर्बोध) [illegible] अप्रचेताः, यथायज ऋतुभिर् देवान् एवा यजस्व तन्वं (स्वयं को) सुजात' ([illegible] अज्ञान मेरे ही भीतर है, उसे पराजित करके अनायास तुम्हारा [illegible] हो); ६।११।२ (द्र· टी· १३४२)। तु· 'विश्वकर्मा का आत्मयजन' [illegible]।१५, ६। [1] शंस देवता की प्रशस्ति, जिसके मूल में है उनका अनिराकरण [illegible] स्वीकृति (तु· छा· शान्ति पाठ); उसके विपरीत 'निद' जैसे देवनिदों [illegible] अग्नि 'आयोः शंसः' ४।६।११, प्राण उन्हें स्वीकार कर लेता है; इन्द्र 'यज-मानस्य शंसः' १।१७८।४, 'नराशंसः' ६।२४।२। अग्नि 'नराशंस', एक स्थान [illegible] 'शंसः' ७।२४।२। [2] तु· 'आ योनिम् अग्निर् घृतवन्तम् अस्थात् पृथु-[illegible] उशानम् उशानः' — यहाँ ही अग्नि ज्योतिर्मय उत्स में अधिष्ठित [illegible] फैल गया है जिसका पथ, अस्थिर है जो, वे भी तो अस्थिर हैं ३।५।७। [illegible] योनिम्'; तु· अग्ने … ऊर्णावन्तं प्रथमः सीद योनिम्, कुलायिनं घृतवन्तम् [illegible]; ऊर्णावान के अर्थ में बर्हि अथवा कुश बिछाया गया है जिस पर; अध्यात्म [illegible] में बर्हि हृदय (वक्षस्थल) के लोम, द्र· छा· ५।१८।२); श्येनो न [सोम] योनिं [illegible] आसदम् (आसन ग्रहण) — ९।८२।१; प्रजानन्न् अग्ने तव योनिम् ऋत्वियम् [illegible]) इलायास्पदे घृतवन्तम् आसदः (आसन ग्रहण किया) १०।८।१४; [illegible] ते [इन्द्र] घृतवन्तं योनिम् अस्वाः (स्तुति गान किया < √स्वर 'गीत गाना' [illegible] ।५। रहस्यार्थ, ज्योतिर्मय उत्पत्ति स्थल; आधियाज्ञिक दृष्टि में उत्तर-[illegible] आध्यात्मिक दृष्टि से हृदय। अभीप्सा की आग यहाँ ही जल उठती है। [illegible] हृत् शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ भी वही है (द्र· टी· १३४६)। 'घृत' [illegible] का प्रतीक है (द्र· टी· १३०७)। हृदय ही 'पृथुप्रगान' — [अनन्य [illegible] (अग्निः) पृथुप्रगामा सुशेवः १।२७।२। 'पृथु' फैल गया है 'प्रगान' [illegible] प्र √गा 'आगे बढ़ना') जिसका। तु· विष्णु 'उरुगाय', क्योंकि उनकी [illegible] ओर फैल जाती हैं।] वहाँ से अनेक रास्ते फैले हुए हैं (तु· अथ· [illegible])। उपनिषद् में 'हृदयस्य नाड्यः' अथवा हृदय की नाड़ी के रूप [illegible] (रास्ते) का वर्णन किया गया है (क· २।३।१६, बृ· ४।३।२)। [illegible] उशानः' — [< √वश 'चाहना', 'कामना करना'; एक तो योनि का विशेषण है [illegible] अग्नि का विशेषण है।] हृदय अग्नि को चाहता है, और अग्नि हृदय को चाहता है। [3] द्र· श्रद्धा सूक्त ऋ· १०।१५१। अनुक्रमणिकाकार का कथन है कि [illegible] 'कामायनी' अथवा कामजाता है हृदय की आकूति से उसकी उत्पत्ति होती है। ([illegible]।४), और फिर देवता के आवेश से भी श्रद्धा का जन्म होता है (तु· ऋ· १।३।२)। [illegible] का देवयजन ही सार्थक है (ऋ· २।२६।३)। 'श्रद्धा' श्रद्-धानात् नि· [illegible] IE. Kred-dhe 'to put in heart', Lat. credo 'I believe'; श्रद् ॥ हृद् Lat. [illegible]), cor, GK. Kardia, OE. heorte 'Heart'। पुनः हृद् ॥ √हृ ॥ √घृ 'दीप्त होना'। [4] तु· अस्माद् यद् भूरिजन्मा वि चष्टे १०।५।१ (द्र· टी· १२६२ और मूल)। और

इस समिन्धन से यज्ञ का आरम्भ [१३४८]। देवयज्ञ में जो अग्नि समिद्ध होते हैं, वे वैश्वानर हैं। वे द्युलोक के मूर्द्धा हैं, शीर्ष हैं, पृथिवी की नाभि हैं, पृथिवी और द्युलोक के बीच उनका उठना-गिरना, चढ़ाव-उतार जारी रहता है; देवताओं ने आर्यों के लिए उनको परम ज्योति के रूप में[1] चित्ति[2] या चेतना की सहायता से उत्पन्न किया। किन्तु मानव-यज्ञ में यजमान को मन्थन द्वारा अग्नि समिन्धन करना पड़ता है। ऋक् संहिता के दो सूक्तों में इस मन्थन की एक वर्णाढ्य विवृति प्राप्त होती है।[3] छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार यह एक 'वीर्यवत् कर्म' है, प्राण और अपान की क्रिया को रुद्ध करके व्यान की क्रिया द्वारा वह सिद्ध या निष्पन्न करना पड़ता है।[4] संहिता में वीर्य की संज्ञा 'सहः' है अर्थात् सारी बाधाओं को दूर करने का अधृष्य अजेय सामर्थ्य। अतएव अग्नि वहाँ 'सहसः सूनुः'[5] अथवा वीर्य के पुत्र हैं। बाधा इन्धन की जड़ता है।

भी तु॰ 'उर एव वेदिर् लोमानि बर्हिर् हृदयं गार्हपत्यं' छा॰ ५।१८।२। तु॰ ऋ॰ 'तं नव्यसी (नूतनतर) हृद आ जायमानम् अस्मत् [जायमाना] सुकीर्तिर् (यह सुन्दर कीर्ति) मधुजिह्वम् अश्याः (पहुँचे) १।६०।३। यहाँ Geldner की अपेक्षा सायण का अन्वय सरल है उससे वाक्य को मरोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं। [१३४८] संहिता के आप्रीसूक्तों में उसकी एक संक्षिप्त रूपरेखा प्राप्त होती है — आरम्भ 'समिद्ध' अग्नि द्वारा, और समापन 'स्वाहाकृति' द्वारा। द्र॰ 'आप्री देवगण'। [1] तु॰ ऋ॰ मूर्धा दिवो नाभिर् अग्निः पृथिव्या अथाभवद् अरती रोदस्योः, तं त्वा देवासो अजनयन्त देवं वैश्वानर ज्योतिर् इद् आर्याय १।५९।२। उनकी मूर्द्धा द्युलोक से ऊपर होने पर वो 'अतिष्ठा' हैं; और नाभि के रूप में पृथिवी के चित्केन्द्र में उनकी 'प्रतिष्ठा' है। तु॰ तंत्र में नाभि अथवा मणिपुर अग्निस्थान है, यह भाव जठराग्नि के अवगमन से आया है (गी॰ १५।१४)। मुक्त अथवा खाता हुआ अन्न शीर्षण्य प्राणों की शिखा में रूपान्तरित होता है (तु॰ श॰ १३।१।७।४...) उनका समाहार ही मनोज्योति है, जो उदान की प्रेरणा से शून्य में मिल जाती है (द्र॰ छा॰ प्राणाग्निहोत्र ५।११-२४)। विश्वप्राण मातरिश्वा इस अग्नि को पृथिवी में अथवा नाभि में प्रतिष्ठित करते हैं (ऋ॰ यं मातरिश्वा मनवे परावतो देवं भाः परावतः १।१२८।२, लोकोत्तर से मातरिश्वा का अग्नि-आनयन मनुष्यजाति के आदि पिता मनु के लिए)। [2] तु॰ ३।२।३; यह चित्ति अवश्य 'पूर्वचित्ति', अर्थात् अन्धकार के भीतर प्रथम चेतना की निकष रेखा है। [3] द्र॰ ३।२३, २९। [4] तु॰ अथ यः प्राणापानयोः संधिः स व्यानः।... अतो यान्य् अन्यानि वीर्यवन्ति कर्माणि यथाग्नेर् मन्थनम् आजेः सरणं दृढस्य धनुष आयमनम् अप्राणन् अनपानंस् तानि करोति १।३।३, ५। हठयोग का मूल इस वैदिक व्यानवृत्त प्राणायाम में है। वायुरोध के फलस्वरूप साथ-साथ पूरे शरीर में अग्नि का ताप फैल जाता है। तु॰ अग्निर् यत्राभिमथ्यते वायुर् यत्राधिरुध्यते, सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मनः - श्वे॰ २।६: अग्नि के अध्यात्म-मन्थन के समय (श्वे॰ १।१४) वायु का रोधन एवं उसके परिणाम स्वरूप अग्निवाहित सोम अथवा आनन्दचेतना का उपचय एवं मनोज्योति का नवजन्म — योगविधि का संक्षिप्त रूपायन या स्पष्टीकरण है। [5] ऋ॰ १।५८।८, १४३।१, ३।१।८, २५।५, ४।२।२, ११।५, ५।३।९, ४।८, ६।११।१०, १३।४, ७।१।२१, ३।८, ८।१९।७, ७५।३, १०।११६।६, ५।४ ... यह विशेषण एकमात्र अग्नि के लिए ही प्रयुक्त। [6] त्वाम् अग्ने अङ्गिरसो गुहा हितम् अन्व् अविन्दञ् छिश्रियाणं वनेवने, स जायसे मथ्यमानः सहो महत् त्वाम् आहुः सहसस् पुत्रम् अङ्गिरः ५।११।६। तु॰ यम् आपो अद्रयो (पाषाण) वना गर्भम् ऋतस्य पिप्रति (पोषण करते हैं), सहसा (उत्साहस द्वारा) यो मथितो जायते नृभिः पृथिव्या अधि सानवि

'इन्धन में अग्नि तो है ही'—इस श्रद्धा की सहवर्ती शक्ति द्वारा उसे अभिभूत करना होगा। अतः सुतम्भर आत्रेय बतला रहे हैं कि प्रति काष्ठ-खण्ड में अग्नि गुहाहित हैं, अग्नि ऋषि अङ्गिराओं द्वारा निर्मन्थन के फलस्वरूप वे 'महत् सहः' के रूप में आविष्कृत होते हैं और वे उन्हें 'सहसः पुत्र' कहकर पुकारते हैं। ६

मन्थन केवल बाहर नहीं बल्कि इस देह के भीतर भी एक अध्यात्म मन्थन चलता है। आग्नि ऋषि अथर्वा सारे व्रतचारियों के मूर्द्धन्य कमल से इस अग्नि को निर्मथित करते हैं [१३४५]। और उनकी ही प्रवर्तना अथवा प्रेरणा से [१] ऋषि दध्यङ् वृत्रहन्ता इस पुरन्दर को समिद्ध करते हैं और वृषा पाथ्य इस अनुत्तम, सर्वोत्तम दस्युहन्ता धनंजय को समिद्ध करते हैं जो प्रत्येक समर में विजयी है। यह मन्थन आज भी जारी है। आज भी लक्ष्य की ओर तन्मय वेधा[२] अथवा मेधावी, ऋत्विकगण अथर्वा की तरह ही इस आग्नि का मन्थन करते हैं और बाँकी-तिरछी इस अमूर्त ज्योति को अन्ध तमिस्रा से बाहर ले आते हैं। उसके बाद उन्हें पृथिवी की वरेण्य भूमि में, 'इलायास्पद' में स्थापित करते हैं इसलिए कि दिन का प्रकाश झिलमिला उठे;

(शिखर पर) ६।४८।५ : अग्नि स्वरूपतः 'ऋतस्य शिशु' हैं अर्थात् अभीप्सा ही संवर्द्धित होकर जीवन को ऋतमय करती है; वे निहित हैं चेतना के अन्धतामिस्र में अथवा ज्वलनोन्मुख इन्धन में अथवा विद्युत रूप में प्राण की धारा में; जो नर अथवा वीर्यवान पुरुष हैं उनके मन्थन से वे आविर्भूत होते हैं वेदी में अथवा हृदय में— जहाँ द्युलोक से अन्तरिक्ष पार करती हुई पवमान सोम की धाराएँ उतर आती हैं (९।६२।२८) पृथिवी का सानु (शिखर) अग्नि एवं सोम अर्थात् अभीप्सा एवं आवेश दोनों का ही आश्रय है।

[१३४५] त्वाम् अग्ने पुष्करादध्य अथर्वा निरमन्थत, मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः ६।१६।१३। मूर्द्धन्य कमल से अग्नि हृदय में उतर आते हैं। वहाँ भी एक कमल है; तु. 'उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधि जातः, द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्त'— हे वसिष्ठ, हे ब्रह्मन्, तुम तो मित्रावरुण के पुत्र हो, उर्वशी के मन से उत्पन्न हुए हो : परम-देवता की बृहत् भावना से जो बिन्दु च्युत हुआ, विश्वदेवों ने उसे कमल में ग्रहण कर लिया ७।३३।११। अग्नि की एक संज्ञा 'वसिष्ठ' (२।९।१, ७।१।८ वासिष्ठ मण्डल में; सौ. ६।११९।१ वैश्वानर अग्नि) अर्थात् प्रज्वलतम है। ऋषि वसिष्ठ पृथिवी में इस आग्नि के प्रतिभू हैं, अग्नि की तरह वे भी सर्वभूत की अन्तर्ज्योति हैं— यही उनकी महिमा है। मित्रावरुण व्यक्त और अव्यक्त आनन्त्य के देवता हैं, उर्वशी आदि जननी बृहद्दिवा हैं (५।४१।१९, ४२।१२)। एक ही देवता— जब पुरुषविध तब मित्रावरुण का युग्म, फिर जब अपुरुषविध तब केवल 'दैव्य ब्रह्म'। 'द्रप्स' उनका चिद्बीज है; परमार्थ दृष्टि में योनि उर्वशी है अध्यात्म दृष्टि में 'पुष्कर' अथवा 'कुम्भ' (७।३३।१३) अर्थात् निषिक्त बीज का तृतीय 'आवसथ' है (तु. ऐउ. १।३।१२)। आधार में अगस्त्य अथवा वसिष्ठ का जन्म मनुष्य का ऋषिजन्म है; इन दोनों संज्ञाओं से ही अग्नि का बोध होता है (७।३३।१३)। मूल 'वाघत्' निघ. 'ऋत्विक्' ३।१८, नि. वोढारो मेधाविनो वा ११।१६; तु. IE (e) weg 'w'h-', (e) wog 'w'h-', 'to offer sacrifice, Pray, vow', GK. eukhomai 'to Pray' euche vow, wish'। मूर्द्धन्य कमल में अग्निमन्थन के साथ तु. 'शिरोव्रत' मु. ३।२।१० ('शिरसि अग्निधारणलक्षणम्'—शंकर)। १ ऋ. तमु त्वा दध्यङ् ङृषिः पुत्र ईधे अथर्वणः, वृत्रहणं पुरन्दरम्। तमु त्वा पाथ्यो वृषा सम् ईधे दस्यु-

उस समय मनुष्य के भीतर अग्नि दृषद्वती, सरस्वती और आपया में प्रबल वेग से दीप्त हो उठते हैं। उपनिषद में बार-बार ध्यान-निर्मन्थन के द्वारा देवदर्शन का जो संकेत हमें मिलता है उसकी बुनियाद इन मंत्रों में है।[४]

मन्थन से उत्पन्न अग्नि इन्धन के आश्रय में संवर्द्धित होते हैं। इसलिए अग्निमन्थन का कर्म अग्निसमिन्धन है। दोनों में जो सूक्ष्म पार्थक्य है, वह संहिता में इस प्रकार व्यक्त हुआ है; हे अग्नि जब

हन्तमम्, धनञ्जयं रणे-रणे ६।१६।१४,१५। इन तीनों मंत्रों में भावना का एक क्रम है। प्रथमत: अथर्वा के मन्थन के फलस्वरूप आधार में चिदग्नि का आवेश। किन्तु अग्नि यहाँ आकर गुहाहित होकर रहे, सन्धाभाषा में वृत्र अथवा आवरणकारी शक्ति के 'पुर' में या दुर्ग में अवरुद्ध या बन्दी हो गए। इन्धन द्वारा दध्यङ् उन्हें मुक्त किया; किन्तु वृत्र की बाधा दूर होते ही 'दस्यु' की बाधा और तामसिक आवरण दूर होते ही राजसिक विक्षेप उपस्थित हो गए। 'इद्ध' अग्नि को वृषा ने 'समिद्ध' किया और 'रणे-रणे धनञ्जय' रूप में उनको आविष्कृत किया। 'धन' परमार्थ, परम सत्य और 'रण' आनन्द (तु. 'महे रणाय चक्षसे' — महान् आनन्द का दर्शन करूँगा १०।९।१)। दस्युहा (दस्युहन्ता) अग्नि आनन्दमय; संघर्ष है सत्य; किन्तु जय का आनन्द भी है। शब्रा. यहाँ तीन ऋषि क्रमश: प्राण, वाक् एवं मनोवृत्ति का उपदेश दे रहे हैं (६।४।२।२-४); प्राण सिद्ध, किन्तु वाक् और मन साधन। दध्यङ् अथर्वा के पुत्र हैं किन्तु वृषा पाथ्य का कोई परिचय नहीं प्राप्त होता। दध्यङ् ने अश्वशिर रूप में अश्विद्वय को मधुविद्या का उपदेश दिया था (ऋ. १।११६।१२, ११७।२२, ११९।९, १।८४।१४; शब्रा. ४।१।५।१८, १४।१।१।१८)। [२]तु. इमम् उ त्यम् अथर्ववद् अग्निं मन्थन्ति वेधस:, यम् अङ्कूयन्तम् आनयन्न् अमूरं श्याव्यास: ६।१५।१७ 'श्याव्या' अव्यक्त। उससे आहृत, उपार्जित अग्नि विद्युत की तरह टेढ़ी-तिरछी। मन्थन के फलस्वरूप मूर्द्धा से इस विद्युत के उतर आने के साथ [illegible] अग्नि ऋषि जमदग्नि की 'ससर्परी वाक्' (३।५३।१५, १६)। अगले मंत्र में कहा जा रहा है कि यह अग्नि 'सर्वताता स्वस्तये' अर्थात् सर्वात्मभाव के लिए है, स्वस्ति के लिए है। दोनों ही हम सब का परम पुरुषार्थ। [३]तु. नि त्वा दधे वर आ पृथिव्या इला.यास्पदे सुदिनत्वे अह्नाम्, दृषद्वत्यां मानुष आपयायां सरस्वत्यां रेवद् अग्ने दिदीहि ३।२३।४। 'इलायास् पदे'; 'इला' अग्निशक्ति, मनुष्य के भीतर द्युलोकाभिमुखी अभीप्सा (विशेष विवरण द्रष्टव्य 'इला' आप्रीदेवगण)। इलायास्पद हृदय आदि आध्यात्मिक केन्द्र स्थान। 'वर' अथवा श्रेष्ठ इलायास्पद के अर्थ में पूर्वोक्त मूर्द्धा। मंत्र में स्पष्ट ही कहा जा रहा है कि अग्नि प्रत्येक मनुष्य के आधार में प्रज्वलित हो उठते। आधिदैविक दृष्टि से जो प्रज्वलन नदी के तट पर, आध्यात्मिक दृष्टि से वही नाड़ी में। तीनों नदियों के नाम हैं यहाँ दृषद्वती, सरस्वती और आपया (महाभारत में 'आपगा', कुरुक्षेत्र में प्रवाहिता, ३।८३।६८) मनु के मतानुसार दृषद्वती और सरस्वती ये दोनों देवनदी हैं; दोनों के बीच मध्य देश (२।१७)। 'दृषद्' पत्थर उसके साथ इन्द्र के वज्र की उपमा है (७।१०४।२२)। दृषद्वती के साथ तु. तंत्र की ओजोवाहिनी वज्राणी नाड़ी जो अन्ध तामिस्र के आवरण को विदीर्ण करती है। दृषद्वती जाकर गिरती है सरस्वती में। (ताण्ड्य ब्राह्मण २५।१०।१३,१४)। सरस्वती ऋक्संहिता में 'पावीरवी कन्या चित्रायु:' — अर्थात् वज्रदुहिता कन्यका है जिसका प्राण चिन्मय है। सरस्वती का उत्स प्लक्ष प्रस्रवण है, स्वर्ग में जाने के लिए सरस्वती की धारा पार करके वहाँ जाना होगा (ताब्रा. २५।१०।१२,१६। अतएव दृषद्वती की धारा भी पार करना चाहिए। तंत्र की भाषा में वज्राणी पार करके चित्राणी में और उसे पार कर ब्रह्माणी में जाना होगा। आपया (लौकिक अर्थ 'जलपूर्ण') तो फिर ब्रह्माणी, ताण्ड्य ब्राह्मण में वर्णित 'प्लक्ष प्रस्रवण' है। प्लक्ष एक ब्रह्मवृक्ष (Ficus Religiosa), है जो ऊर्ध्वमूल अवाक्शाख के

तुम जन्मते हो, तब तुम वरुण हो; जब तुम समिद्ध होते हो, तब तुम मित्र होते हो; हे उत्साहस के पुत्र, तुम्हारे ही अन्तर्गत विश्वदेव गण हैं [१३५०]।' हम जानते हैं कि वरुण अव्यक्त ज्योति के और मित्र व्यक्त ज्योति के देवता हैं, दोनों अहोरात्र की तरह नित्य संगत हैं। गुहाशयन से अग्नि का प्रथम आविर्भाव होता है अतः वे वरुण हैं, उसके बाद प्रज्वल दीप्ति में मित्र हैं।[1] समिद्ध अग्नि वस्तुतः विश्वरुचि हैं।[2] उसका एक सुन्दर चित्र विश्ववारा आत्रेया ने इस सूक्त में आँका है;[3] 'समिद्ध हुए हैं अग्नि; द्युलोक में व्याप्त हुई है उनकी शुभ्र ज्वाला। उषा के सम्मुख फैल गई है उनकी विभा, प्रभा।'

प्रसंग की याद दिला देता है (क. २।३।१; तु. ऋ. १।२४।८)। इसी आपया अथवा लक्ष प्रस्रवण अथवा ब्रह्माणी नाड़ी के मुख से सहस्रधाराओं में सोम का क्षरण होता है (तु. ऋ. सहस्रधारं वृषभं दिवो दुहुः ९।१०८।११)। इस स्थिति में बोध होता है कि दृषद्वती एवं सरस्वती को पार कर आपया में पहुँचना आध्यात्मिक दृष्टि से प्राण और प्रज्ञा की साधना द्वारा बृहत के शतधार अक्षीयमाण उत्स की ओर आरोहण करना है। वहाँ केवल दिन का ही प्रकाश है।[4] तु. श्वे. २।१४, ऋ. ३।२९।२। मनुष्य का अग्नि मन्थन वस्तुतः विश्व प्राण मातरिश्वा का ही दिव्य कर्म है: तु. १।१४१।३, १४८।१, ३।९।५, समिन्धन ५।१०।

[१३५०] ऋ. त्वम् अग्ने वरुणो जायसे यत् त्वं मित्रो भवसि यत् समिद्धः, त्वे विश्वे सहसस् पुत्र देवाः ५।३।१। 'सहसस्पुत्र' सम्बोधन में मन्थन की द्योतना है। उसके बाद ही अग्नि की सर्वदेवमयता का वर्णन है (२, ३); तु. २।१।३-७। और भी तु. 'मित्रो अग्निर् भवति यत् समिद्धो मित्रो होता वरुणो जातवेदाः, मित्रो अध्वर्युर् इषिरो दमूना मित्रः सिन्धूनाम् उत पर्वतानाम्' — ये अग्नि जब समिद्ध होते हैं, तब मित्र होते हैं, वही होतृरूप में मित्र एवं जातवेदो रूप में वरुण होते हैं और अध्वर्यु रूप में घर को प्यार करके तेज गति से चलते हैं, वे मित्र हैं नदियों एवं पर्वतों के ३।५।४। सायण का कथन है कि यह ऋक् सर्वात्म रूप में अग्नि की स्तुति है। वे सारे रूपों में ही मित्र हैं; यह पद श्लिष्ट है, इससे विश्वज्योति एवं बन्धु दोनों का ही बोध होता है। 'अध्वर्यु' ऋजु पथ के पथिक (द्र. टी. १२४३)। 'इषिर' एषणशील (स्कन्द), वायु (सायण) — जो तीर की तरह सीधे तेज़ गति से चलते हैं। सिन्धु की साधना गति की साधना है और पर्वत की साधना स्थिति की साधना है — एक की साधना है अविच्छिन्न प्रवाह के साथ बहते रहना, और एक की साधना है थम थम कर ऊपर उठना। किन्तु व्यक्ति चेतना का अनुभव दोनों के ही अन्त में। प्राण की आग कभी एकबारगी ऊपर उठ जाती है, अथवा कभी दमक-दमक कर।... समिध् द्वारा अग्नि का संवर्द्धन तु. 'वयम् उ त्वा गृहपते जनानाम् अग्ने अकर्म समिधा बृहन्तम्, अस्थूरि नो गार्हपत्यानि सन्तु तिग्मेन नस् तेजसा सं शिशाधि' — जन साधारण के गृहपति हे अग्नि, हमने तुमको बृहत् किया समिध् द्वारा; पूर्ण हो, हम सब का गार्हपत्य, तीक्ष्ण तेज द्वारा हम सब को शाणित करो, नियोजित करो ६।१५।१९ ('स्थूरि' एकघोड़े की गाड़ी, द्र. सायण), १।९५।११, (९६।९)।[1] तु. १०।८८।६ (द्र. टी. १३३१), दृशेन्यो (दर्शनीय) यो महिना ('महिमा में समिद्धो ऽरोचत दिवियोनिर् विभावा (वरुण उनके उत्स हैं, मित्र रूप में विभामय हैं) ७, १।१४३।२ (परम व्योम में उनका जन्म, मातरिश्वा के निकट उनका प्रथम आविर्भाव, समिद्ध होकर द्युलोक भूलोक दोनों को जगमगा दिया)।[2] ३।५।९, १०; मु. १।२।४।[3] ऋ. ५।२८; समिद्धो अग्निर् दिवि शोचिर् अश्रेत् प्रत्यङ् उषसम् उर्विया वि भाति, एति प्राची विश्ववारा नमोभिर् देवाँ ईळाना हविषा घृताची ।१। समिध्यमानो अमृतस्य राजसि हविष् कृण्वन्तं सचसे स्वस्तये, विश्वं स धत्ते द्रविणं यम् इन्वस्य आतिथ्यम् अग्ने नि च धत्त इत् पुरः ।२।

आगे आगे चलती जा रही है विश्ववारा बहुत प्रणाम लेकर, आहुति में देवताओं को सम्बुद्ध प्रबुद्ध करती हुई- वह ज्योतिरभियात्रिणी॥ समिद्ध होते होते तुम होते हो अमृत के राजा; जो आहुति देता है उसे घेरे-अगोरे, जुड़े रहते हो स्वस्ति के लिए। तुम जिसे चाहते हो जिसकी रक्षा करते हो अर्थात जो तुम्हारी छाया में रहता है, उसके अधिकार में सारी प्राण की धाराएँ होती हैं; और तुम्हारे सामने वह उपस्थित करता है अतिथि का उपचार, हे अग्नि॥ अपनी शक्ति को प्रकट करो हे अग्नि, विपुल सौभाग्य के लिए; तुम्हारी समस्त ज्योतियाँ सर्वोत्तम हों। दाम्पत्य को सुन्दर सुसंयमित करो; विरुद्धाचारियों की महिमा खर्व (कम) करो॥ प्रज्वलित तुम्हारी महिमा उद्यत हुई; वन्दना करती हूँ हे अग्नि तुम्हारी श्री की। कार्यवर्षी हुए हो तुम ज्योतिर्मय, सभी अध्वर साधना में समिद्ध हुए हो॥ समिद्ध हुए हो अग्नि, आहुति प्राप्त हुई है तुम्हें; अध्वर के हे सहज साधक, देवताओं का यजन करो। हव्यवाहन तुम ही तो हो॥ अध्वर की साधना आगे बढ़ती जा रही है; तुम सब आहुति दो अग्नि को, उनकी परिचर्या करो; वरण करो इस हव्यवाहन को॥'

अग्नि को संवर्द्धित करना होता है 'समिध्' द्वारा। समिध- लकड़ी का एक टुकड़ा, जो एक बित्ता लम्बा होगा और अंगूठे से अधिक मोटा नहीं होगा। पलाश की लकड़ी हो तो सब से अच्छा नहीं तो खदिर, अश्वत्थ, शमी, बेल इत्यादि 'याज्ञिय' वृक्ष की होने से भी काम चलेगा। द्रव्य यज्ञ के मूल में ज्ञानयज्ञ है इसलिए यज्ञ से सम्बन्धित जो सब कुछ है उसको एक विशेष दृष्टि से देखने का विधान है। यही कारण है कि संहिता में और ब्राह्मण में समिध को असाधारण महत्व दिया गया है। संहिता के अनुसार [१३५१] अग्नि का समिध 'देवयानी' अर्थात पृथिवी से द्युलोक में

अग्ने शर्ध महते सौभगाय तव द्युम्नान्य उत्तमानि सन्तु, सं जास्पत्यं सुयमम् आ कृणुष्व शत्रूयताम् अभि तिष्ठा महांसि।३। समिद्धस्य प्रमहसोऽग्ने वन्दे तव श्रियम्, वृषभो द्युम्नवाँ असि सम् अध्वरेष्व् इध्यसे।४। समिद्धो अग्न आहुत देवान् यक्षि स्वध्वर, त्वं हि हव्यवाळ् असि।५। आ जुहोता दुवस्यताऽग्निं प्रयत्य् अध्वरे, वृणीध्वं हव्यवाहनम्।६। प्रथम ऋक् का 'विश्ववारा घृताची' अनुमेय जुहू का यदि विशेषण हो (Geldner) तो फिर स्पष्टत: ऋषिका स्वयं को उसके साथ अभिन्न समझती है एवं यही उनकी आत्माहुति का सूचक है। शर्ध, (२) उत्साहस्व बलम् आविष्कुरु (उव्वट भा. ३३।१२); मन्त्र के तृतीय पाद में नारी हृदय की आकांक्षा की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। इसी मण्डल में एक और समिन्धन सूक्त इष आत्रेय द्वारा रचित है [८]। जो पुरुष की रचना के रूप में जिस प्रकार सशक्त एवं समृद्ध है उसी प्रकार यह कोमल, सुकुमार और सरल है।

[१३५१] तु. ऋ. १०।४१।२; ते पनीयसी समिद् दीदयति द्यवि ५।६।४। १ तिस्रो यह्वस्य समिध: परिज्मनोऽग्नेर् अपुनन्न् उशिजो अमृत्यवः, तासाम् एकाम् अदधुर् मर्त्ये भुजम् उ लोकम् उ द्वे उप जामिम् ईयतुः ३।२।९। यह तीन समिध तु. (१।१६४।२५) वैश्वानर के तीन उद्दीपन-केन्द्र हैं— चेतना की तीन भूमियों या स्तरों पर। एक केन्द्र पृथिवी में और दो अन्तरिक्ष एवं द्युलोक में। अग्नि 'परिज्मा' (तु. 'परिभू' ६.८), तु. क. २।२।५। 'अपुनन्' समिध का जड़त्व दूर करके उन्हें प्रदीप्त किया। मूलतः

उनके जाने का मार्ग है। उनका स्तुत्यतम समिध् द्युलोक में प्रदीप्त हो रहा है। रहस्य की दृष्टि से देखने पर जो प्राण चंचल होकर चारों ओर फैल गए, उन्हीं अग्नि की तीनों समिध् को समुत्सुक मृत्युहीन देवताओं ने पवित्र किया; उनमें एक को उन्होंने सम्भोग या उपभोग के लिए पृथिवी में स्थापित किया और दो ने आत्मीय विपुल ज्योतिर्लोक की ओर गमन किया। मनुष्ययज्ञ के मूल में देवयज्ञ है जिससे विश्व की रचना होती है, जिसके यजमान विश्वदेवगण हैं एवं जिसके आलभनीय पशु स्वयं परमपुरुष हैं, उस यज्ञ में जो अग्नि प्रज्वलित होते हैं, उनके दिव्य समिध् इक्कीस हैं।[2] समित् के सम्बन्ध में यह अधिदैवत दृष्टि है। इसके अलावा ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार अध्यात्म दृष्टि से समिध् प्राण है।[3] उत्सर्ग की आग प्राण द्वारा प्रज्वलित करनी होगी। समस्त जीवन ही एक यज्ञ है, जिसकी सूचना सावित्री दीक्षा में है। समिध् का आहरण एवं आहुति इसीलिए अन्तेवासी का दैनन्दिन व्रत है। विद्यार्थी को आचार्य के निकट समित्पाणि होकर जाना पड़ता है, उसका अनेक उल्लेख उपनिषदों में है।

अग्नि समिन्धन मनुष्य का साध्य है। किन्तु मनुष्य की साधना के मूल में देवता की प्रेरणा है [१३५२]। इसलिए अग्नि भी वस्तुतः 'देवेद्ध' अथवा देवताओं द्वारा समिद्ध हैं।[1] परम व्योम में मातरिश्वा के निकट ही उनका प्रथम आविर्भाव हुआ और मातरिश्वा की ही सिसृक्षा के विपुल सामर्थ्य से समिद्ध उनकी ज्वाला ने द्युलोक और भूलोक को उद्भासित किया।[2] अतएव अग्नि समिन्धन तत्वतः एक दिव्य क्रतु है। अथवा यह स्वयम्भु अग्नि की लीला है; अग्नि से ही अग्नि का समिन्धन।[3]

उसमें आग का प्रकाश त्यामिश्र है उसे विशुद्ध करना ही विश्वदेवता का काम है। बहुवचन में 'उशिजः' से यजमानों का बोध होता है। यहाँ विश्वदेवगण ही यजमान हैं, जिस प्रकार पुरुष सूक्त में। मर्त्यलोक और अमृतलोक, पृथिवी और द्युलोक एक ही सत्ता के दो पार्श्व हैं इसलिए वे 'जामि' (तु. १।१५९।४, १८५।५)। 2 त्रिः सप्त समिधः कृताः १०।९०।१५। इक्कीस समिध् के अर्थ में उव्वट एक बार गायत्री आदि छन्द (तु. १०।१३०।३-५) और एक बार मन से लेकर पंचमहाभूत तक इक्कीस तत्व बतलाते हैं; महीधर ब्राह्मण का उद्धरण देते हैं, 'द्वादश मासाः पञ्च ऋतवः त्रय इमे लोकाः असौ आदित्यः' अर्थात् प्रजापति (तु. ऐ. १।१९) [वा. ३१।१५ भाष्य]। किन्तु अधियज्ञ दृष्टि से यज्ञ के सात धाम एवं प्रत्येक धाम में समिध् यह भी कहा जा सकता है। 3 तु. प्राणा वै समिधः ऐ. २।४, श. ११।४।१; श. ८।२।३।४४।

[१३५२] तु. मनुष्य 'देवगोपाः' अर्थात् देवता उसके रखवाले हैं ५।४५।११, ७।६४।३, ८।४६।३२; अथो देवेषितो मुनिः १०।१३६।५; मनुष्य का 'रयि' अथवा प्राणसंवेग 'देवजूतः' ४।११।४, ७।८४।३। 1 तु. १।३६।४, ७।१।२२, १०।६४।३, ५।२५।२, ३।८ (द्र. टी. १२३६); सजोषस (तृप्ति में सुषम) त्वा दिवो नरः (दिव्य पुरुषगण) यज्ञस्य केतुम् इन्धते, यद् ध स्य मानुषो जनः सुम्नायुर् (आनन्दकाम) जुह्वे (आहुति देते हैं) अध्वरे ६।२।३। 2 स जायमानः परमे व्योमन्या आविर् अग्निर् अभवन् मातरिश्वने, अस्य क्रत्वा समिधानस्य मज्मना प्र द्यावा-शोचिः पृथिवी अरोचयत् १।१४३।२ (द. टी. १३३८, १३५०); मज्मना ऋक्संहिता में केवल यही तृतीयान्त रूप ही प्राप्त होता है: निघ. मज्म इति बलनाम २।९; < √मह्॥ मज्

वही समिद्ध अग्नि सब से पहले मानवों के आदि पिता मनु के मन में उतरते हैं — वे ही विश्व के 'समिद्धाग्नि' प्रथम यजमान हैं [१३५३]। उसके बाद मनु ने ही विश्वजन के लिए अग्नि को उनके भीतर ज्योति रूप में निहित किया इसलिए अग्नि की एक संज्ञा 'मनुर्हित'[1] है। आंगिरा गण भी विशेष रूप से 'इद्धाग्नि' हैं;[2] दध्यङ् आथर्वण एवं वृषा पाथ्य का उल्लेख पहले ही कर चुके हैं।[3] तदुपरान्त मनुष्य अग्नि की साधना में स्मरणातीत काल से अथर्वा अङ्गिरा इत्यादि पितृगण को विशेष रूप से मनु को अपना आदर्श मानता आया है।[4]

जो देवता अग्नि देवताओं के पुरोहित हैं, उन्हें मनुष्य ऋषियों ने आकुल चित्त की कामना के साथ समिद्ध किया [१३५४]।[1] वह कामना[2] परम देवता को प्राप्त करने की है तथा जीवन को ऋतच्छन्दा[3] एवं[4] सौम्य आनन्द से आप्लुत अथवा सिक्त स्नात करने की कामना है।

'विपुल होना, समर्थ होना'; तु. GK mégas 'large', Lat. magnus 'great', majestas 'dignity', 'grandeur') २ तु. अग्निनाग्निः सम् इध्यते १।१२।६। तु. देवेभिर् अग्ने अग्निभिर् इधानः ६।११।६, विश्वेभिः ६।१२।६। और भी तु. ... होतर् अग्ने अग्निभिर् मनुषः इधानः, स्तोमम् ... ६।१०।२। यहाँ 'मनुषः अग्निभिः' यह अन्वय ही सहज है; Geldner का 'मनुषः होतर्' और सायण का 'मनुषः स्तोमं' दोनों ही दुरान्वय। अधियज्ञ दृष्टि से यह गार्हपत्य से आहवनीयादि अग्नि का समिन्धन है (तु. ता. १६।१।२)। किन्तु गृहपति अग्नि 'नित्य इद्ध'; पुरुष उनको 'ध्रुवा क्षिति' में अथवा ध्रुव भूमि में जकड़ लेता है १।७३।४ (तु. ६।८।४)। एक अग्नि की अनेक विभूतियाँ भी प्रमाणित (तु. १।२६।१०, ७।३।१, ८।६०।१, १०।१८५।६ ...)। द्र. प्रश्नोत्तरी १०।८८।१८ और ८।५८।२।

[१३५३] तु. ऋ. येभ्यो होत्रां (आहुति) प्रथमाम् आयेजे (समर्पण किया था) मनुः समिद्धाग्निर् मनसा सप्त होतृभिः (मानसयाग में सात शीर्षण्य प्राण होता; तो फिर यज्ञ साधना: वाक्, चक्षु श्रोत्र, प्राण और मन द्वारा, जिन्हें उपनिषद् में ब्रह्म का द्वारपाल कहा गया है) १०।६३।७; ७।२।२। मनु के निकट अग्नि का आविर्भाव द्र. १।३६।१०, १२८।२। [1] १।३६।१९ (द्र. टी. १२२५[6])। मनुर्हितः १।१३।४, १४।११, ६।१६।९, ८।१९।२१, २४, ३४।८। [2] १।८३।४। [3] द्र. टी. १३४८[1])। [4] तु. मनुष्वत् त्वा नि धीमहि मनुष्वत् सम् इधीमहि, अग्ने मनुष्वद् अङ्गिरो देवान् देवयते यज ५।२१।१ (अग्नि के साथ मनु एवं अङ्गिरा का सायुज्य लक्षणीय); तु. १।३१।१७, ४४।११, ४५।३, ६२।१, ७८।३, ३।१७।२, ६।१५।१७, ७।२।३ ...।

[१३५४] तु. ऋ. अग्निर् देवो देवानाम् अभवत् पुरोहितोऽग्निं मनुष्या ऋषयः सम् ईधिरे १०।१५०।४। तु. तं [बृहस्पतिं] प्रत्नास ऋषयो दीध्यानाः (ध्यान करके) पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम् ४।५०।१। [1] तु. १०।१६।१२ (द्र. टी. १३३७[1]); त्वं अग्ने दक्षिणावद्भिर् अग्ने सुमित्रेभिर् इध्यसे देवयद्भिः १०।६९।८ (मंत्र के ऋषि का नाम सुमित्र है, "समस्त देवयाजियों के प्रतिभू के रूप में उन्होंने स्वयं की कल्पना की है)। [2] देवयद्भिः समिद्धः ३।५।१, आ देवयुर् इनधते (समिद्ध करता है) दुरोणे ४।२।७ [3] त्वाम् अग्न ऋतायवः (ऋतकाम) सम् ईधिरे प्रत्नं प्रत्नासः ... देवासं गृहपतिं वरेण्यम् ५।८।१ (द्र. १२३४[6], १२१६[2]); समिद्धे अग्नाव् ऋतम् इद् वदेम (घोषणा कर सकें) ३।५५।३। [4] तु. त्वाम् अग्ने सुम्नायवः (जो सौम्य आनन्द चाहते हैं) सम् ईधिरे ५।८।७; और भी तु. अग्निं सुम्नाय दधिरे पुरो

उसी कामना की प्रचोदना से हृदय[5] की वेदी में अग्निसमिन्धन करना होगा. जाग्रत चेतना की ज्योति और श्रद्धा लेकर, [6] विश्वदेवता के निकट निरंजन मार्जना की आकूति और प्रणति लेकर, [7] अग्नि के नित्य सामीप्य की भावना लेकर, [8] प्रातिभ संवित की द्युति से समुज्वल मन और धी लेकर, [9] अन्तर में यशानुकाशिनी मानवी इला की वैद्युती लेकर, [10] रक्षःशक्ति के अभिघात को रोकने का संकल्प और सामर्थ्य लेकर, [11] सर्वोपरि देवता के सायुज्य बोध का उद्दीपन लेकर।

उस समय समिद्ध अग्नि [1355] हृदय में उषा की ज्योति प्रस्फुटित करते हैं जो उगते हुए सूर्य के ज्योतिःप्लावन का आभास देती है।[1]

जना: 3।3।5 (= 10।140।6 ; अग्नि सोम की ध्वनि)। [5] तु. सं जागृवद्भिर् जरमाण (जो जागरूक हैं) इध्यते दमे दमूना इषयन्न् (प्रेरणा जगा कर) इलस्पदे (अधियज्ञ दृष्टि से उत्तरवेदि में और अध्यात्म दृष्टि से हृदय में) 10।91।1 ; तं त्वा विप्रा विपन्यवो जागृवांसः सम् इध्यते 3।10।9 (द्र. टी. 1341[4]) ; श्रद्धयाग्निः सम् इध्यते 10।151।1। तु. अग्नि के जागरण का चित्र : यो जागार तम् ऋचः कामयन्ते यो जागार तम् उ सामानि यन्ति, यो जागार तम् अयं सोम आह तवाहम् अस्मि सख्ये न्योकाः (तुम्हारे सख्य में मेरा गहन निवास)॥ अग्निर् जागार तम् ऋचः कामयन्ते अग्निर् जागार तम् उ सामानि यन्ति, अग्निर् जागार तम् अयं सोम आह तवाहम् अस्मि सख्ये न्योकाः 5।44।14-15। ऋक् की आवृत्ति में यजमान और अग्नि का सायुज्य अथवा अभेद ध्वनित हो रहा है। हम सब के भीतर अग्नि के नित्य जाग्रत रहने से ही वेद का स्फुरण और सोम्य आनन्द का निगूढ आस्वादन संभव। [6] तु. सो अग्न एना (यह) नमसा समिद्धो ऽच्छा (निकट) मित्रं वरुणं इन्द्रं वोचेः यत् सीम् (जो कुछ) आगस् (अपराध, मन का अंजन अथवा काजल) चकृमा तत् सु मृल (क्षमा करो) तद् अर्यमा अदितिः शिश्रथन्तु (अपराध क्षमा करें, शिथिल कर दें) 7।93।7। देवताओं का विन्यास लक्षणीय : अग्नि अभीप्सा, इन्द्र ओजःशक्ति (10।73।10), वरुण, मित्र, अर्यमा क्रमशः सत् चित् आनन्द और अदिति सर्वदेवमयी महाशक्ति। निरंजनत्व की साधना का शेष स्वाहा। [7] तु. 'इमां मे अग्ने समिधम् इमाम् उपसदं वनेः, इमा उ षु श्रुधी गिरः' — हे अग्नि, मेरे इस समिध से, इस उपसत्ति से नन्दित होओ तुम, सुनो मेरी यह सब वाणी 2।6।1। 'उपसद' द्र. बेमी. 268 [8] ऋ. अग्निम् इन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः, अग्निम् ईधे विवस्वभिः (जो आलोक दीप्त हैं उनके साथ समिद्ध करता हूँ : वे कौन? यज्ञ के सप्तहोता अथवा शीर्षण्य सप्त प्राण) 8।102।22। तु. 1।58।2, धी समिन्धन का साधन। [9] तु. अग्न इला सम् इध्यसे। 'इला' अध्यात्म दृष्टि से 'एषणा, अभीप्सा' ; अधिदैवत दृष्टि से ज्योतिर्मयी अग्नि माता, आलोकयूथ की जननी, द्युलोक से निर्झरिता, मानव-प्रशास्त्री। तै ब्रा. में वे 'मानवी यशानुकाशिनी' — मनुष्य की अभीप्सारूपिणी मनुकन्या, उत्सर्ग साधना के अन्त में विद्युत की तरह दीप्त हो उठती हैं (1।1।4।4)। द्र. आप्री-देवतागण की 'इला'। [10] तु. 10।87।1,2 ; 1।36।7। [11] तु. त्वं ह्य अग्ने अग्निना विप्रो विप्रेण सन् सता, सखा सख्या सम् इध्यसे 8।43।14। जो अग्निसमिन्धन करता है, वह भी अग्नि — उनकी ही तरह विप्र सत्य एवं सखा (अग्नि के)।

[1355] ऋक्संहिता में आप्री सूक्तों के प्रथम देवता 'समिद्ध' अग्नि। ऐ ब्रा. के मतानुसार उन के द्वारा यजमान की प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है (2।4) देवात्म भावना का यह प्रथम सोपान है। उसका पर्यवसान 'स्वाहाकृति' में। विशेष विवरण द्र. 'आप्रीदेवगण'। [1] तु. ऋ. उषा उच्छन्ती (जो खिल उठी हैं) समिधाने अग्ना उद्यन्त

वृत्र की जो माया ज्योति के ऊपर अन्धकार का आवरण रचती है, देवता उसकी अर्गला तोड़कर अन्तर में सुप्त किरणयूथ का प्रतिबोध ले आते हैं।[2] तब समिद्ध अग्नि धर्म के पोषक एवं सहस्रजित होते हैं।[3] हम उनके शरणागत होकर सविता की अनुत्तम प्रेरणा तथा मित्र और वरुण के सामीप्य में निरंजनता एवं स्वस्ति अनुभव करते हैं।[4] विश्वदेवता के सायुज्य में यह स्वस्ति प्राप्ति ही हृदय की वेदी में अग्नि-समिन्धन का परम फल है।[5]

प्रत्येक कर्मानुष्ठान का एक राहस्यिक अथवा निगूढ़ तात्पर्य है, अग्नि समिन्धन का भी है। अधियज्ञ दृष्टि से अग्नि 'इल.स्पदे' अथवा उत्तरवेदि में समिद्ध होते हैं [१२५६]; किन्तु यह इला।

---

सूर्य उर्विया (सब का अतिक्रमण करके) ज्योतिर् अश्रेत् (आश्रय प्राप्त किया) १।१२४।१। अग्नि समिन्धन में अभीप्सा का जागरण, उषा प्रातिभ संवित् की अरुणिमा, सूर्य प्रज्ञान की दीप्ति। २ वृत्रवध ; अग्निर् वृत्राणि जंघनद् (हनन करें) द्रविणस्युर् (प्रत्येक नाड़ी में अग्निशिखा के प्रवहन की इच्छा करके' ; तु. इन्द्र के अनुरूप वृत्रवध १।२२।८-१०, ३।५।११) विपन्यया (हमारी प्रशस्ति द्वारा) समिद्ध शुक्र आहुत: ६।१६।३४। तमोनाश : ३।५।१ (द्रष्टव्य. टी. १३४१[२]) समिद्धस्य रुशद् (दीप्त) अदर्शि (दिखाई दिया) पाज: (वीर्य) महान् देवस् तमसो निर् अमोचि (निर्मुक्त हुए) ५।१।२, ७।८७।२ ; ज्योति का द्वार खोल देना १७।२ (द्र. टी. १३३८[१])। गो का प्रतिबोध : 'प्रति गाव: समिधानं बुधन्त' — उनके समिद्ध होने पर सारे गौएँ किरणयूथ प्रतिबुद्ध हुए ('गो', प्रातिभ संवित्, अरुणी गुलाबी आभा वाली गौएँ उषा का वाहन निघ. १।१५ ; 'प्रतिबोध', बोधि, अभीप्सा की शिखा उद्यत होने पर बोधि का जागरण)। ३ समिधान: सहस्रजिद् अग्ने धर्माणि पुष्यसि — ५।२६।६ (तु. सर्वं वै सहस्रम् श. ४।६।१।१५, ६।४।२।७, कौषीतकि ब्रा. ११।७, २५।१४ ; भूमा वै सहस्रम् श. ३।३।३।८ ; परमं साहस्रम् ता. १६।७।२ ; और भी तु. ऋ. ६।६९।८ ॥ ऐ.ब्रा. ६।१५। 'धर्म', देवयज्ञ, जो विश्व का प्रथम धर्म तु. ऋ. १०।७०।१६ ; और भी द्र. १।२२।१८ ; समिध्यमान: प्रथमानु धर्मा ३।१७।१, १०।७२।२ १।१६४।४३, ५०)। समिद्ध अग्नि 'रत्नकृत' ३।१८।५ ('रत्न' द्र. टीका १२६४[२])। ४ ऋ. महो अग्ने: समिधानस्य शर्मण्य् अनागा मित्रे वरुणे स्वस्तये, श्रेष्ठे स्याम सवितु: सवीमनि १०।३६।१२। सविता की प्रेरणा हमें पहुँचा देगी मित्र की बृहत् ज्योति में एवं वरुण की महाशून्यता में, जब आधार में प्रज्वलित हो जाएगी अभीप्सा की शिखा। ५ तु. 'स्वस्त्य् अग्निं समिधानम् ईमहे' — समिध्यमान अग्नि के निकट चाहते हैं स्वस्ति १०।३५ सूक्त टेक। यह सूक्त विश्वदेव के प्रति, प्रदीप्त गम्भीर आकूति में पूर्ण ; 'सर्वताति', अथवा सर्वात्म भाव उसका लक्ष्य (११) देवताओं के निकट स्वस्ति के लिए प्रार्थना ; 'यूयं पात स्वस्तिभि: सदा न:' जैसे ऋषि वसिष्ठ की अजपा, सप्तम मण्डल के अन्त में यह प्रार्थना है। गय प्लाति एक सूक्त में प्राय: प्रति मंत्र में स्वस्ति के लिए प्रार्थना है (१०।६३), उसमें स्वस्ति के स्वरूप का परिचय मिलता है। स्वस्ति हम सब के अंह: अथवा चेतना के संकोचन से मुक्ति, देवता की जिस नौका में कभी पानी नहीं भरता उस पर सवार होकर कल्याण मार्ग की यात्रा करना, पार जाना — जो आदि से अन्त तक स्वस्ति से आच्छादित है (तु. ६, १०, ८, ४६)। एक वाक्य में स्वस्ति परमार्थ है, एक परम अस्तित्व में अवगाहन करने के फल स्वरूप सर्वव्यापी सौषम्य का अनुभव है। तु. १।८९।६, ५।५१।११-१५ (स्वस्ति पंथाम् अनु चरेम

वस्तुत: हम सब की ही एषणा अथवा आकृति हैं अतएव अध्यात्म दृष्टि से वे [1] 'मानुष जने' अथवा मानव जाति में — प्रत्येक यजमान और साधक के 'मध्य' में,[2] उसके हृदय में 'चतुरक्ष' होकर समिद्ध होते हैं। आधार के सोमपात्र में जहाँ प्राण की धाराओं का संगम होता है, वहीं वे प्रज्वलित हो उठते हैं।[4] उसके बाद

सूर्याचन्द्रमसाव् इव पुनर् ददता अघ्नता जानता सं गमेमहि' — हम सब स्वस्ति में राह पकड़े चले जाएँगे सूर्य चन्द्र की तरह, जाकर उनसे मिलेंगे जो हमें फिर देंगे, आघात नहीं करेंगे, जानेंगे। अर्थात् उसी परम को प्राप्त करेंगे, जो हम सब को अदिति चेतना में पहुँचा देगा; तु. को नो मह्या अदितये पुनर् दात् १।२४।१)।

[१३५६] तु. ऋ. अग्निः प्रथमः पितेव इळस् पदे मनुषा यत् समिद्धः २।१०।१; 'सं-सम् इद् युवसे वृषन्न् अग्ने विश्वान्य् अर्य आ, इळस् पदे सम् इध्यसे स नो वसून्य् आ भर' — हे अग्नि, हे वीर्यवर्षी, स्वामी या मालिक बनकर तुम पूरी तरह स्वयं को सब कुछ के साथ मिला दो ('देवेषु मध्ये त्वम् एव सर्वाणि भूतजातानि व्याप्नोषि, नान्य इत्यर्थः' – सायण) इळस्पदे समिद्ध होओ ('पृथिव्याः स्थाने उत्तरवेदिलक्षणे, एतद् वा इळायास्पदं यद् उत्तर वेदी नाभिः – ऐब्रा १।२८' सायण) वहीं तुम हमारे लिए लेकर आओ और ढेर सारी ज्योति १०।१९१।१ ('युवसे वृषन्' यहाँ वीर्याधान की ध्वनि है, तु. ६।४७।१४। 'अर्य' तु. 'अर्य: स्वामिवैश्ययोः' पा. ३।१।१०३; अग्नि का विशेषण ऋ. ४।१।७, २।१२...)। यह मंत्र ऋक् संहिता के अन्त में संज्ञान सूक्त का प्रथम मंत्र है। प्रत्येक मंत्र के आरम्भ में 'सम्' उपसर्ग पूर्णता का द्योतक है। लक्षणीय, जिस प्रकार संहिता का आरम्भ अग्नि द्वारा किया गया है उसी प्रकार अग्नि द्वारा ही समापन किया गया है। [1] तु. त्वं हि मानुषे जनेऽग्ने सुप्रीत इध्यसे ५।२१।२ (तु. १०।११८।८); तु. तम् अध्वरेष्व् ईळते देवं मर्ता अमर्त्यं यजिष्ठं मानुषे जने ५।१४।२, २।२३।४ (द्र. टी. १३४८[3]), त्वम् अग्ने... हितः देवेभिर् मानुषे जने ६।१६।१। [2] तु. कृष्टीनाम् उत मध्य इद्धः ५।१।६ (द्र. टी. १३३१[ह]), जने न शेव (सुमंगल) आहूर्यः ('आह्वातव्यः' वेंकटमाधव और सायण; 'हृ कौटिल्ये, चञ्चलत्वाज् ज्वालानां कुटिल सन्' स्कन्द) मध्ये निषत्तः रण्वो (आनन्दमय) दुरोणे १।६९।४, ६।१२।१। [3] तु. 'त्वम् अग्ने यज्यवे पायुर् अन्तरोऽनिषङ्गाय चतुरक्ष इध्यसे' — हे अग्नि, निरस्त्र यजमान के रक्षक हो तुम, उसके अन्तर में समिद्ध होओ चतुर्नयन होकर (१।३१।१३; 'चतुरक्ष' यम के कुकुर: वेमी. प्रथम खण्ड टीका ३३६; तु. १०।८७।५)। [4] ऋ. अग्ने अपां समिध्यसे दुरोणे नित्यः सूनो सहसो जातवेदः, सधस्थानि महयमान ऊती (मण्डल समूह को महिमान्वित करते हैं तुम्हारे प्रसाद द्वारा) ३।२५।५। सायण का अन्वय 'अपां दुरोणे'; Geldner बतलाते हैं 'अपां [नपात्]'। किन्तु यह कष्ट-कल्पना है। तु. घृतधारा की सोमरूप में वामदेव द्वारा स्तुति: अपाम् अनीके समिथे (अन्तर्मुख संगम-स्थल में) य आभृतस् तम् अश्याम मधुमन्तं त ऊर्मिम् ४।५८।११ (अप् अथवा प्राण की धाराएँ जहाँ मिलती हैं वहाँ सोमामधु तरंगायित हो उठता है और वहाँ ही आग जल उठती है)। यही 'समिथ' उपनिषद् में आवसथ (ऐ. १।३।१२) एवं संहिता में ही 'पुष्कर' अथवा पद्म है (ऋ. ६।१६।१३, द्र. टी. १३४८)। यहाँ वही दुरोण। इस शब्द की व्युत्पत्ति ज्ञात नहीं। ऋ. के पदपाठ में अवग्रह नहीं है किन्तु तै. सं. और सामसंहिता का पदपाठ 'दुः ओन' (१।२।१४।२; ५६५४)। यास्क द्वारा की गई व्युत्पत्ति 'दुस् √अव + न' (४।५); आधुनिक शब्दशास्त्र के

हमारे पौरुष के द्वारा प्रेरित होकर तीन 'सधस्थ' में अथवा संगमस्थल में जल उठते हैं;[5] इस प्रकार वे ऋत के उत्स में और फिर उसके भी परे अव्यक्त के उत्स में[6] जल उठते हैं। उनके समिन्धन का स्वरूप दिव्य अश्व दधिक्रावा के आदित्याभिमुखी अभियान में[7] व्यक्त होता है।

---

अनुसार < *dhwar* 'door', *a house fitted with door*' (तु. 'द्वार-गृह') गृह ऋ. १।५१।३, १०।४०।२)। निघ. में 'दुरोण' गृह (३।४)। और यही अर्थ ऋक् संहिता के दो स्थानों पर उपयुक्त है (१।११७।७, १०।२८।४०; १०।१०४।४ मान लिया जा सकता है)। किन्तु एक और व्युत्पत्ति सम्भव < 'द्रोण' काठ से निर्मित सोमपात्र < 'द्रु' वृक्ष (तु. <u>GK</u>. *drūos* 'an oak, a tree', *drumos* 'forest'), स्वरभक्ति के फलस्वरूप 'दुरोण'। अग्नि के सम्बन्ध में इस शब्द का प्रयोग सब से अधिक किया गया है, अग्नि के साथ सोम की सहचरता स्मरणीय। आधार युगपत् अधरारणि और फिर सोमपात्र भी है; साधन बल से उसके भीतर ही अग्नि की अभिव्यक्ति होती है अतएव आधार की संज्ञा 'द्रोण' है: तु. ऋत्वा हि द्रोणे अज्यसेऽग्ने ६।२।८ (तु. प्रो द्रोणे हरयः कर्माग्मन् पुनानास ऋज्यन्तो अभूवन्— द्रोण में ज्योतिर्मय सोमधाराएँ कर्मरत हो गईं, पवित्र होते होते वे ऋजुगामी होती रहीं ६।३७।२; आधार में सोम की उन्मादना के ऊर्ध्वस्रोता होने का वर्णन)। तु. 'अतिथिर् दुरोणसत्' सोम, क्योंकि होता अग्नि उल्लेख उसके पूर्व ही है। संहिता में साधारणतः अग्नि ही अतिथि, किन्तु ब्राह्मण में सोम अतिथि। अतः राहस्यिक अर्थ की ओर लक्ष्य या दृष्टि रखकर 'दुरोण' को 'द्रोण' का अपभ्रंश बतलाना ही संगत। [5] तु. अग्निं नरः त्रिषधस्थे सम् ईधिरे २।११।२। नर का लक्षण पौरुष। ये नर ही अर्हन् होकर अग्निसमिन्धन करते हैं; तु. रण्वा (आनन्दमय) नरः नृषदने (वीरपरिषद में, यज्ञ में; तु. 'यत्रे दिवो नृषदने पृथिव्या नरो यत्र देवयवो मदन्ति — द्युलोक और पृथिवी के वीर जहाँ आसन स्थापित करते हैं, जहाँ वे देवत्व की कामना में मत्त अथवा उल्लसित होते हैं ७।९७।१) अर्हन्तश् चिद् यम् इन्धते ५।७।२। अर्हन् के साथ नर का सम्बन्ध लक्षणीय (तु. ५।५२।५, १०।७७।७)। इसी से परवर्ती काल में वीर साधक जैन एवं बौद्ध भी 'अर्हत्'। त्रिषधस्थ आधियाज्ञिक दृष्टि से तीन अग्निवेदियाँ, आध्यात्मिक दृष्टि से तीन 'आवसथ' (ऐउ. १।३।१२), तु. कठोपनिषद का 'त्रिणाचिकेत रहस्य'; और भी तु. श. में वा एते प्राणा एव यद् अग्नयः, प्राणोदानाव् एवा आहवनीयश्च गार्हपत्यश्च व्यानोऽन्वाहार्यपचनः २।२।२।१८। उत्तम सधस्थ अथवा आवसथ मूर्धा में है; तु. ऋ. यस त इध्मं जभरत् (वहन करके ले आया) सिष्विदानो (स्वेदाक्त होकर) मूर्धानं वा ततपते (प्रतप्त करता है) त्वाया (तुमको चाहकर) ४।२।६, मूर्धतपन केवल सर पर काठ ढोने के लिए ही नहीं (सायण, तु. १।८४।७, ४।१२।२), वस्तुतः अग्निस्रोत माथे पर उठने के लिए। वही उपनिषद में 'शिरोव्रत' है एवं जो इस प्रकार मूर्धा में अग्नि धारण करते हैं वे 'तपुर्मूर्धा' (ऋ. १०।१८२।३, सूक्त के ऋषि बार्हस्पत्य तपुर्मूर्धा)। [6] तु. समिद्धः शुक्र दीदिह्य् ऋतस्य योनिम् आसदः ससस्य योनिम् आसदः ५।२१।४। निघ. में <u>सस</u> अन्न (२।७)। ऋ. में इस शब्द के जितने प्रयोग हैं उनमें यह अर्थ केवल दो स्थानों पर उपयुक्त: 'गृभ्णन्ति जिह्वया ससम्' — जिह्वा द्वारा 'सस' को ग्रहण करते हैं ८।७२।३। किन्तु कौन? उसके पहले ही है: 'अन्तर् इच्छन्ति तं जने रुद्रं परो मनीषया'— मनीषा के ऊपर जो है उसी रुद्ररूपी अग्नि को जीव के अन्तर में चाहते हैं। यहाँ भी प्रश्न उठता है कि वे कौन? सायण अन्यत्र बतलाते हैं 'ऋत्विक्गण' एवं अन्तिम चरण की व्याख्या करते हैं: 'ससं' स्वपन्तम् और 'जिह्वया' के लिए अनेक शब्द; [illegible] Geldner 'ससं' को सर्वत्र अन्न के अर्थ में ग्रहण करते हुए कहते हैं कि कर्ता सम्भवतः देवतागण हैं — वे [illegible] द्वारा हवि ग्रहण करते हैं। किन्तु [illegible] के साथ

समिन्धन के बाद अग्नि का 'ईलन', जिसके उद्देश्य द्वारा ऋक्-संहिता के आरम्भ की सूचना प्राप्त होती है [१२५८]। ईड धातु के मूल में 'यज्' धातु है;[1] अतएव ईलन का मौलिक अर्थ यजन है।

मिलाकर पढ़ने से सायण की व्याख्या ही संगत जान पड़ती है; जो अग्नि सुप्त एवं अव्यक्त हैं और मनीषा भी अगम्य है, उन्हें यजमान के भीतर ऋत्विक्गण उतार लाना चाहते हैं और अव्यक्त की गहराई में उनको आविष्कृत करके वाक् के द्वारा अर्थात मंत्रशक्ति में अधिगत करते हैं। 'अन्न' अर्थ और एक जगह सम्भावित: 'ससं न पक्वम् अविदच्छुचन्तम्' पके 'सस' (अन्न) की तरह उन्हें दीप्यमान अवस्था में प्राप्त किया (१०।७९।३)। सायण की व्याख्या: ससं न पक्वम् अन्नम् इव शुचन्तं दीप्यमानं नीरसं वृक्षम् अविन्दत विन्दति (अग्निः)। किन्तु इस व्याख्या में परवर्ती चरण के 'रिरिह्वांसम्' के साथ 'सस' का सम्बन्ध दिखाना कठिन हो जाता है। यास्क (एवं दुर्ग) ने यहाँ सस का अन्न अर्थ ग्रहण नहीं किया और 'अविन्दत' का कर्ता अग्नि को भी नहीं माना है। यास्क की दृष्टि में 'ससम् स्वपनम् एतत् माध्यमिकं ज्योतिर् अनित्यदर्शनं तद् इवा विदज्जाज्वल्यमानम् - (कश्चिद् ऋषिः अन्यो वा इति दुर्गः) नि. ५।३। अर्थात् विद्युल्लेखा की तरह भास्वर अवस्था में उन्हें ऋषि ने प्राप्त किया ('रिरिह्वांसं रिप उपस्थे अन्तः' — पृथिवी की गोद में लेहनशील)। देखने में आता है कि जिन दो स्थानों पर निघण्टु के अनुसार 'सस' का अर्थ अन्न सम्भावित, वहाँ भी आचार्यों ने 'सुप्ति' अर्थ ही ग्रहण किया है। सायण (किन्तु यास्क नहीं) जहाँ अन्न अर्थ ग्रहण करते हैं (१०।७९।३), — वहाँ अन्न को औपनिषदिक 'जड़' (matter) के अर्थ में ग्रहण करना संगत। किन्तु यहाँ भी यास्क की व्याख्या ही समीचीन जान पड़ती है क्योंकि 'सस' जिस अग्नि का विशेषण है वह अनुक्रमणी के अनुसार 'सौचीक' नामक गुहाहित अग्नि अथवा वैश्वानर अग्नि है। जो गुहाहित हैं वे ही वैश्वानर हैं, इससे अग्निसाधना का आदि और अन्त सूचित होता है। इस स्थिति में यास्क की विद्युल्लेखा की उपमा के लिए तु. ऋ. १।१६४।२९, द्र. टी. १३०७। 'सौचीक' अग्नि का विवरण आगे चलकर द्रष्टव्य। ... वस्तुत: 'सस' निद्रा, निद्रित <√सस् 'सोना', ऋ. संहिता में जिसका बहुत प्रयोग है (तु. १।१२४।४, १२५।७, १३४।३, १०३।८, ४।३३।७, ५।१।५, ६।२०।५ ...)। निद्रा अव्यक्त में चेतना का लय होना है, इसलिए 'सस' का पारिभाषिक अर्थ हुआ 'अव्यक्त'। यही अर्थ ऋक् संहिता की चार ऋचाओं में प्राप्त होता है; एवं लक्षणीय, प्रत्येक ऋचा अग्निसूक्त की है। प्रथम ऋक् में बतलाया जा रहा है: 'ससस्य चर्मन् अधि चारु पृश्नेर् अग्रे रूप आरुपितं जबारु' — पृश्नि का सुचारु (थन) है 'सस' के चर्म के ऊपर, पृथिवी के अग्रभाग में आरोपित है आदित्यमण्डल ४।५।७। पृश्नि विश्वप्राण मरुद्गण की माता हैं, उनका थन (स्तन) अमृत का निर्झर है, वह अव्यक्त के ऊपर है; पार्थिव लोक के प्रत्यन्त में अर्थात समीपवर्ती भाग में आदित्यद्युति का मण्डल है। 'ससस्य चर्म' अथवा अव्यक्त का आवरण उपनिषद की भाषा में हुआ सूर्यद्वार के भेदन के बाद (मु. १।२।११) मिलता है हिरण्मय पुरुष का जो 'नीलं परः कृष्णं' (छां० १।६।६) जिसके भीतर हैं अव्ययात्मा अमृत पुरुष (मु. वही)। दूसरे ऋक् में कहा जा रहा है: 'ससस्य यद् वियुता सस्मिन्न् ऊधन्न् ऋतस्य धामन् रणयन्त देवाः' — जब 'सस' को हटा दिया गया, तब (स्वर्धेनु के) उसी थन में ऋत के देवतागण आनन्दमग्न हो गए ४।७।७। यहाँ भी उसी एक भाव की ही प्रतिध्वनि। तृतीय ऋक् में: 'ससस्य चर्म घृतवत् पदं वेस् तद् इद् अग्नी रक्षत्य् अप्रयुच्छन्' — 'सस' का आवरण और ज्योतिर्मय पद उसी सुपर्ण के हैं, अग्नि उसकी ही रक्षा करते हैं अप्रमत्त होकर ३।५।६। यहाँ भी 'ससस्य चर्म' अव्यक्त का आवरण। किन्तु दिव्य सुपर्ण अथवा आदित्यमण्डल उसके इस पार है या उस पार है?

(अब समिद्ध अग्नि 'यज्ञसाधन' होते हैं। किन्तु यजन एक सामान्य संज्ञा है जिसकी व्यंजना बहुमुखी है। यास्क के निर्वचन में उसका एक परिचय मिलता है। ईलन का अर्थ वे 'याचन, स्तवन, वर्धन, पूजन, इन्धन' करते हैं। संक्षेप में जिसका अर्थ हो सकता है 'हृदय की आकूति द्वारा समिद्ध अग्नि को स्तुति एवं आत्मनिवेदन के उपचार से सन्दीप्त रखना।' संहिता में ईड् धातु एवं उससे उत्पन्न शब्द के प्रायःसमस्त प्रयोग ही अग्नि से सम्बन्धित हैं।[2] इस प्रसंग में विशेष रूप से 'अध्वर' का उल्लेख लक्षणीय है। अग्नि का ईलन 'गीः' अथवा वाक् द्वारा (स्तवन),[3] 'हविः' द्वारा (वर्धन)[4] और 'नमः' द्वारा (पूजन) किया जाता है।[5]

---

अग्नि उसकी रक्षा करते हैं' यह कहने से तो लगता है इस पार है। नासदीय सूक्त में जो इस प्रकार है– 'तमः ... तमसा गूलहम् ... अप्रकेतं सलिलम्' जो तुच्छ्य होकर उन्मिषन्त अथवा उन्मिषित या सद्यः विकसित प्राण को ढँके हुए हैं १०।१२९।३। हम सब के आधार की गहराई में वह रहस्यमय अव्यक्त की निश्चलता या निस्तब्धता है और ऊर्ध्व में उसी दिव्य सुपर्ण की दीप्ति है। दोनों के बीच अप्रमत्त अग्नि चेतना का यातायात, आना-जाना होता रहता है। इस 'सस' का उल्लेख अन्यत्र भी है: 'अचित्रे अन्तः पणयः ससन्त्व् अबुध्यमानास् तमसी विमध्ये' अचेतना की गहराई में सारे पणि सोते रहें अँधेरे में ४।५१।३। टीका के आरम्भ में उल्लिखित ऋक् का तात्पर्य है कि 'समिद्ध अग्नि शुभ्र द्युता के साथ दीप्तिमान होकर जिस प्रकार ऋत की योनि में उसी प्रकार सस अथवा अव्यक्त की योनि में उत्थापित होते हैं।' यहाँ षष्ठी निर्भेद तादात्म्य वाचक है, अर्थात ऋत ही योनि है, सस ही योनि है। ऋत निश्चमूल छन्द है, सस निश्चमूल अव्यक्त है। अन्यत्र ऋत सत है और सस असत है: अग्नि परम व्योम में दोनों ही हैं (तु. १०।५।७; और भी तु. सत का वृन्त असत में १०।१२९।४। तो फिर 'सस' जिस प्रकार अचिति का अव्यक्त है उसी प्रकार अतिचिति अथवा अतिचेतना का भी अव्यक्त है।[6] तु. 'यो अश्वस्य दधिक्राव्णो अकारीत् समिद्धे अग्ना उषसो व्युष्टौ, अनागसं तम् अदितिः कृणोतु स मित्रेण वरुणेना सजोषाः' — उषा की ज्योति फूटने पर एवं अग्नि समिद्ध होने पर जिसने अश्व दधिक्रावा की (उपासना) की हो, अदिति उसको निरंजन, निष्पाप करें; मित्र और वरुण के सायुज्य में वे (दधिक्रावा) तृप्त हों ४।३९।३। ४।४०।५ में यह दधिक्रावा ही 'शुचिषत् हंस'। इसके अलावा वर्तमान ऋक् में मित्र और वरुण की सहचरता के कारण वे दिव्य अग्नि हैं (तु. १।११५।१: सूर्य, अग्नि मित्र एवं वरुण के चक्षु हैं)। 'दधिक्रावा' के सम्बन्ध में आगे चल कर द्रष्टव्य।

[१३५७] तु. ऋ. 'स इधानो ... ईलेन्यो गिरा १।७९।५, ३।२७।४, १४, ७।८।१; समिद्धे अग्नौ सुत सोम (जिसने सोम का सवन किया) ईट्टे ४।२५।१ (इन्द्र का ईलन), ५।२८।१। आप्री सूक्त में भी 'ईल.' अग्नि का स्थान 'समिद्ध' के बाद है।[1] ईड् नि. अध्येषणा (= याच्ञा) - कर्मा पूजा कर्मा वा (७।१५); याचन्ति, स्तुवन्ति, वर्धयन्ति, पूजयन्तीति वा (नि. ८।१); स्तुवन्ति (१०।१४)। फिर 'ईल. ईट्टे: स्तुतिकर्मण:, इन्धतेर् वा (नि. ८।८)। < √यज्.द्, दकार का मूर्धन्य परिणाम, उसके बाद अन्तरंग सन्धि एवं यकार का सम्प्रसारण और दीर्घत्व। आधुनिक शब्द शास्त्र की व्युत्पत्ति, < IE ais. Praise (with d extension)। अग्नि के सम्बन्ध में समिन्धन की व्यंजना सहज ही उभरती है। यज्ञ का अर्थ ही है, अपने भीतर आग जलाकर उसमें सब कुछ की आहुति देना। √ईड् प्रधानतः यह अर्थ ही सूचित करता है। प्रातिपदिक व्यवहार या प्रयोग तु. अस्तोषि ... अग्निम् ईलो यजध्यै ऋ. ८।३९।१। २ ऋ. ४।७।१, ५।२२।१, ७।१०।५, ८।११।१०, १०।३०।४ ...। तो फिर अग्नि का ईलन अध्वर गति को

अग्नि का मन्थन एवं समिन्धन कायिक अनुष्ठान की अपेक्षा रखता है किन्तु ईलन उसके ही साथ साथ चलने वाला वाचिक एवं मानसिक कर्म है [१३५८]। देह और मन की अरणि में प्राण रूप में निहित जो देवता हैं वे जब ध्यान निर्मन्थन द्वारा आविर्भूत हो जाएँ तब जाग्रत चित्त की उद्घाति एवं आत्माहुति की आकृति के साथ दिन प्रति दिन उनको सन्दीप्त रखना होगा — यही ईलन का यथार्थ तात्पर्य है।[1] हम सब के 'इल.स्पद' में निषण्ण होकर उसकी प्रेरणा वे ही जगाते हैं।[2] और तब बिना इन्धन ही प्राण की गहराई में जल उठते हैं जब विप्रगण उन्हें अध्वर में सन्दीप्त करते हैं।[3] उस समय द्रव्ययाग ज्ञानयाग में रूपान्तरित होता है और शरीर यज्ञाग्निमय होता है। 'ईलित' अग्नि और 'पवमान' सोम तब एक हो जाते हैं; सोम्य आनन्दचेतना की धाराओं के साथ आधार में वे एक ओजस्वी प्रवेग के रूप में विराजते हैं।[4] जो गुहाहित थे, वे तब मर्त्य की चेतना में अचित्ति और चित्ति के विवेक के रूप में पकड़ में आते हैं — यही उनके ईलन की सार्थकता है।[5]

---

लक्ष्य करता है — जिससे समिद्ध शिखा सीधे ऊपर की ओर उठ जाए। [3] तु. १।७१।५, ३।२७।२, ६।२।२, ७।८३।४, ८।११।२१, २१।१४. १०।११।३; 'गाथाभिः' ८।७१।१४। तु. वाचम् अक्रत देवा ईलान्या १०।६६।१४, ईलाना (वाक) ८।१०२।२; और भी तु. ७।२४।५, ४५।४ १०।१०४।१०। [4] १।८४।१९, ३।१२।२, २७।१७, २९।२, ५।७।१, ६।१६।४६, ७।८।१, ८।७४।६, १०।७०।३, १२२।४; तु. ५।२८।१। 'हरोभिः' ६।२।२; स्रुचा ५।१४।३; 'आज्येन देवान्' १०।५३।२। [5] ५।१।७, १२।६; तु. ५।२८।१, १०।८४।२२।

[१३५८] इस कारण से प्रातिपदिक 'ईड्' की सार्थकता, तु. ऋ. ८।२७।१ : यहाँ 'यज्' अनुष्ठान और 'ईड्' भावना है। जहाँ हवि का उल्लेख है (तु. १।८४।१८, ५।२८।१, ८।७४।६), वहाँ भी भाव ही प्रधान है। [1] तु. ३।२९।२। कठोपनिषद् में यही ऋक् उद्धृत है २।१।८। जिसके अन्त में 'एतद् वै तत्' यह महावाक्य सूचित करता है कि यह चिदग्नि ही ईलित होकर वही तत्स्वरूप होते हैं जो त्रिणाचिकेत ब्रह्मविद् के निकट 'छाया' हैं १।३।१। और भी तु. श्वे. १।१४। द्र. टी. १२२२[1] और मूल। ईलन के फलस्वरूप अग्नि 'अद्रि' अथवा अचित्ति के पाषाण का भेदन करते हैं अपनी तपःशक्ति एवं ज्वाला द्वारा : तु. सप्त होता रस (अध्यात्म दृष्टि से सात शीर्षण्य प्राण, जिन्हें ऊर्ध्वस्रोता करना ही हम सब का लक्ष्य है; तु. ऋ. २।२।३) तम् इद् ईलते त्वा... भिनत्स्य अद्रिं तपसा वि शोचिषा ऋ. ८।६०।१६ (तु. १०।१२२।४)। [2] 'अधा होता न्य् असीदो यजीयान् इल.स्पद इषयन्न् ईड्यः सन्, तं त्वा नरः प्रथमं देवयन्तो महो राये चितयन्तो अनुग्मन्' — इस कारण से याजकों के होता हो तुम (अर्थात् उनके होतृत्व में ही यज्ञ की सिद्धि है) निषण्ण हुए इल.स्पद में (हृदय में) एषणा जगा कर — सन्दीपन या प्रज्वलन की प्रतीक्षा में : उसी प्रथम [पुरोहित] का देवकाम सभी वीर अनुगमन करते हैं महिमा अथवा गौरव की प्रेरणा प्राप्त करने के लिए सचेतन होकर ६।१।२ "इषयन्": तु. १०।७१।१ (द्र. टी. १२५४[?]), प्रेतीषणिम् इषयन्तं पावकम् ६।१।८। 'महो राये' : तु. अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् १।१८९।१। [3] यो अनिध्मो दीदयद् अप्स्व् अन्तर् यं विप्रास ईलते अध्वरेषु, अपां नपात (अप् की सन्तति अग्नि २।३५ सूक्त, विशेष रूप से ४, १०; विवरण बाद में) १०।३०।४। [4] तु. ईलेन्यः पवमानो रयिर् वि राजति

उसके बाद ईलित अथवा चेतना में स्पष्टीकृत अग्नि का आधान अथवा सादन किया जाता है [१२५८]। मुख्य आधान है गुहाशयन से उनको चेतना के 'पुरोभाग' में स्थापित करना अर्थात उनके बारे में नित्य सचेतन रहना। अग्नि तब हमारे जीवन-यज्ञ के 'पुरोहित' हैं।[१] देवात्मभाव की सिद्धि के लिए अभीप्सा की शिखा के रूप में अन्तर में उनका प्रथम आविर्भाव होता है और उसी से उत्तरायण के मार्ग पर वे हमारे दिग्दर्शक हैं। इसलिए वे प्रथम पुरोहित हैं;[२] देवता और मनुष्य के बीच दूत के रूप में वे जिस प्रकार हम सब के पुरोहित हैं उसी प्रकार देवताओं के भी हैं।[३] चेतना में जब प्रातिभ-संवित का उन्मेष सम्भव होता है तभी वे हमारे भीतर समिद्ध होते हैं, इसलिए वे उषा के 'पुरोहित' हैं।[४] तब से सौम्य आनन्द की प्रत्याशा में हम उन्हें निरन्तर अपनी दृष्टि के सामने रखते हैं और किसी भी सूरत में उन्हें ओझल नहीं होने देते।[५] तब वे हमारे पुर-एता—शीघ्रगामी रथ जैसे, नित्य नूतन हैं;[६] वे देवताओं के भी 'पुरोगाः' हैं।[७]

द्युमान्, मधोर् धाराभिर ओजसा ९।५।२। यह ऋक् आप्रीसूक्त के अन्तर्गत है जिसके देवता अग्नि हैं। किन्तु प्रत्येक ऋक् में सोम के विशिष्ट विशेषण 'पवमान' शब्द के प्रयोग से अग्नि और सोम के एकत्व की सूचना प्राप्त होती है। इसी से इसे सोममण्डल में स्थान मिला है। अग्नि-सोम की सहचरता तंत्र में शिव-शक्ति के सामरस्य में रूपान्तरित हुई है। उल्लिखित ऋक् में 'ईलेन्य रयिः' ऊपर की ओर बहती हुई ज्वार जैसी अग्नि की धारा है और 'मधोर धाराः' भाटे की तरह उतरती हुई सोम की धारा है। दोनों के संगम में आधार 'ओजस्वी द्युति' से विराट् होता जा रहा है। यह योगाग्निमय शरीर की अपूर्व व्याख्या है। [५] तु. त्वाम् अग्ने मानुषीर् ईलते विशो (जनसाधारण, प्रवर्त साधकगण) ... विविचिं ... गुहा सन्तं विश्व दर्शतम् ५।८।३ + 'अग्ने कदा त आनुषग् भुवद् देवस्य चेतनम्, अधा हि त्वा जगृभ्रिरे मर्तासो विक्ष्व् ईड्यम्' — हे अग्नि, तुम्हारी देवचेतना कब हम सब के भीतर अच्छी तरह जागेगी ? इस कारण से तो तुमको ग्रहण कर रखा है मर्त्यों ने, कि तुम सर्वसाधारण के मध्य दीपनीय हो ४।७।२।

[१२५८] समस्त श्रौतकर्म सस्त्रीक आहिताग्नि का करणीय। अतः 'अग्न्याधान' ब्राह्मण में एक विशिष्ट कर्म। उसकी व्याख्या बाद में की जाएगी। संहिता में भाव का प्राधान्य है, यहाँ अभी उसका ही अनुसरण किया जा रहा है। अधियज्ञ दृष्टि से सादन 'बर्हिः' में (६।१६।१०) अथवा कुशास्तरण में; अध्यात्म दृष्टि से हृदय में (तु. तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य ... उर एव वेदिर् लोमानि बर्हिः छा. ५।१८।२)। आप्री सूक्त में बर्हिः अग्नि रूप में चतुर्थ देवता। [१] **पुरोहित** : < पुरः √धा, जिन्हें सामने या आगे रखना होता है दिग्दर्शक के रूप में (नि. पुर एनं दधति २।१२; तु. 'राजा यक्ष्यमाणो ब्राह्मणं पुरो दधीत' ऐब्रा. ८।२४; 'ब्राह्मणं च पुरो दधीत विद्याभिजन वाग् रूप वयः शील सम्पन्नं न्यायवृत्तं तपस्विनम्, तत्प्रसूतः कर्माणि कुर्वीत' गौतम धर्म सूत्र ११।१२-१३; क्षत्रिय को यदि वीर साधक का आदर्श मान लिया जाए तो फिर पुरोहित उनकी अर्द्धात्मा हैं उन्हें छोड़कर वे अकेले नहीं चल सकते, 'अर्धात्मा ह वा एष क्षत्रियस्य यत् पुरोहितः' ऐब्रा. ७।२६)। ऋ. में विशेष रूप से अग्नि ही पुरोहित, तु. १।१।१, ४४।१०, १२, ५८।३, ९४।६, पुरोहितो दमे दमे १२८।४, ३।३।२, ११।१, ५।११।२ ...। [२] तु. यज्ञस्य केतुं प्रथमं पुरोहितम् अग्निं नरस् त्रिषधस्थे सम् ईधिरे ५।११।२ (द्र. टी. १२५६[५]; और भी तु. हविष्मन्त ईलते सप्त वाजिनम् १०।१२२।४)। [३] तु. यद् देवानां मित्रमहः पुरोहितो ऽन्तरो यासि दूत्यम् १।४४।१२। [४] १०।८२।२। [५] तु. अग्निं सुम्नाय दधिरे पुरो जनाः ३।२।५ (१०।१४०।६; द्र.

सन्ध्या भाषा में उनका आधान एक हिरण्मय ज्योति को दिव्य सुपर्ण के भीतर आहित करने जैसा है।[८]

उसके बाद आधार में आहित अग्नि का दिव्य कर्म अर्थात यज्ञ की साधना शुरु हुई [१२६०]। इस साधना की सूचना 'केतु'[१] अथवा बोधि की झलक द्वारा होती है। 'अंहः' अथवा क्लिष्ट चेतना के आवर्त में जब हम आवर्तित होते हैं और देवद्रोही अरातियों या शत्रुओं द्वारा सताए गए होते हैं तथा निष्प्राण निश्चलता में जब मुँह के बल गिरे ज़मीन के ऊपर पड़े होते हैं तब अकस्मात इस देवता का केतु उच्छित होकर हमारे भीतर जल उठता है, जगा देता है ऊर्ध्व अभीप्सा — विचरण करने के लिए, जीने के लिए और हमारे प्रज्वल आग्रह को विश्वदेव के निकट पहुँचा देता है।[२] हमारी उत्सर्ग भावना का आरम्भ उसी से होता है और अग्नि उसके प्रज्ञापक हैं।[३] और इस कारण से वे पूर्वकालीन द्यावापृथिवी के दो सदनों के बीच केतु अथवा आलोक के संकेत हैं[४] और उसके प्रत्यन्त या अन्तिम छोर पर द्युलोक के केतु हैं;[५] यज्ञ के तन्तु भी इन दोनों के मध्य प्रसारित हैं,[६] और उसका आतनन अग्नि का ही साध्य है।[७] इस प्रकार उत्सर्ग की भावना में सब के जीवन को वे चिन्मय करते इसलिए वे विश्व के केतु हैं।[८]

टी. १३१६[६], १३४४[४])। [६] तु. अदाभ्यः (जिसे कोई धोखा नहीं दे सकता) पुरएता विशाम् अग्निर् मानुषीणाम्, तूर्णी रथः सदा नवः ३।११।५ (तु. १।७६।२)। [७] पुरोगा अग्निर् देवानाम् १।१८८।११, १०।११०।११, १२४।१। लक्षणीय पुरोहिति इन्द्र की १।५५।७, ६।१७।८ २५।७, ८।१२।२२, २५; बृहस्पति की ४।५०।१; ब्रह्मणस्पति की २।२४।९; सोम की ८।१०१।१२ ९।९६।२०। मित्रावरुण की ७।६०।१२, ६१।७; इन्द्रावरुण की ८३।४। इसके अलावा आप्री सूक्त में अग्नि और आदित्य रूपी दो दैव्य होता भी 'प्रथम पुरोहित' ३।४।७, १०।६६।१३, ७०।७। अग्नि के पुरोधान की तरह आधार की गहराई में निधान का भी उल्लेख है: १।४४।११, १४५।५, १४८।१; समिद्धो अग्निर् निहितः पृथिव्याम् २।३।१, ३।२३।४, ५।२।६, ४।२, ६।१५।८, १५...। [८] चन्द्रम् इव सुरुचं ह्वार आ दधुः २।२।४ अध्यात्म दृष्टि से आत्मज्योति को विश्वज्योति में रूपान्तरित करना।

[१२६०] अग्नि की संज्ञा तब 'यज्ञसाध्', 'यज्ञसाधन'। तु. ऋ. १।४४।११, प्रथमं यज्ञसाधम् ८।६।२, १२८।२, १४५।३, ३।२७।२, ८, ८।२३।९, यो यज्ञस्य प्रसाधनस् तन्तुर् देवेष्व् आततः १०।५७।२। [१] केतु; निघ. 'प्रज्ञा' ३।९; <√कित॥ चित् (देख पाना, चेतन होना); तु. 'केतः', 'चित्तिः' 'चेतनम्'। यह अंधेरे में ज्योति की रेखा देखने जैसी बात है। इसलिए केतु 'रश्मि' (विशेष रूप से बहुवचन में तु. १।२४।७, ५०।१, ३, ८।४३।५, ९।७०।२...); आध्यात्मिक दृष्टि से वही बोधि की झलक है जो रहस्य की जानकारी देती है। ऋक् संहिता में आलोक के साथ केतु का सम्बन्ध घनिष्ठ है — अहन्, अग्नि, उषा, सविता, सूर्य इनके प्रसंग में ही इस शब्द अधिक प्रयोग (तु. १।७१।२, ३।५५।२, ३।६१।३, ४।१४।२, ७।६३।२...) केवल एक जगह पताका की ध्वनि है (७।३०।३), इसके अतिरिक्त यह अर्थ कहीं भी नहीं प्राप्त होता है। तु. अग्नि का विशेषण: यज्ञस्य यज्ञस्य केतुं रुशन्तम् १०।१।५। [२] तु. ऊर्ध्वो नः पाह्य् अंहसो नि केतुना विश्वं सम् अत्रिणं दह, कृधी न ऊर्ध्वाञ् चरथाय जीवसे विदा देवेषु नो दुवः १।३६।१४; अगले मंत्र में है: पाहि नो अग्ने रक्षसः पाहि धूर्तेर् अराव्णः (द्र. टी. १२४४[५])। 'अत्रिन्' अदित्व शक्ति (तु. ९।१०५।६), हम सब के भीतर राक्षसी वृत्ति (तु. ९।१०४।६), (वणिक् वृत्ति) बनिया स्वभाव (तु. जही न्य् अत्रिणं पणिं वृको हि षः ६।५१।१४)।

यज्ञ केवल बाहरी अनुष्ठान नहीं है बल्कि वह 'विदथ' अथवा विद्या की साधना है। उसके मूल में धी अथवा ध्यान चिन्तना की प्रेषणा या प्रेरणा है [१२६१]। यह धी देवता का प्रसाद है।[१] इस दृष्टि से जब हम देखते हैं तब यज्ञ वस्तुतः ही 'देवकर्म' है। यज्ञ के ऋत्विक् हम नहीं बल्कि देवता स्वयं हैं। हम समिध वहन करके ले आ सकते हैं, आहुति की सामग्री सजाकर रख सकते हैं, यहाँ तक कि चेतना को हर स्तर पर जाग्रत भी रख सकते हैं किन्तु कर्म को धी में रूपान्तरित करके उसे सम्पन्न करना, अपनी आदित्यद्युति की तीव्र कामना को सार्थक करना, जीने जैसी जीवनी शक्ति प्राप्त करना — यह तो देवता की साधना है; अग्नि के औरिष्ट सख्य का परिचय है।[२] मर्त्यों के सोम्य आधार में वह नित्य, अमृत देवता ही तो राजा की तरह विदथ की साधना में अतन्द्र होकर विराजमान है।[३] अतएव मनुष्य के जीवन यज्ञ में अग्नि ही दिव्य ऋत्विक हैं।[४] सारा आर्त्विज्य अथवा ऋत्विक् कर्म उनका ही है — वे ही होता अध्वर्यु, प्रशास्ता, पोता, नेष्टा, अग्नित् एवं ब्रह्मा हैं।[५] वे ही यज्ञ के नेता एवं नियन्ता हैं, बृहत् अध्वर के ईशान हैं।[६]

---

३ इसलिए ऋ॰ संहिता में अनेक स्थलों पर वे 'यज्ञस्य केतुः' : १।९६।६ (१०३।१) १२७।६, केतुं यज्ञानां विदथस्य (विद्या की साधना के) साधनं विप्रासो अग्निं महयन्त (महिमान्वित किया) चित्तिभिः ३।३।३, ११।२, २९।५, ५।११।२, ६।२।३ ७।२, ४९।२, १०।१।५, १२२।४ ...; केतुर् अध्वराणाम् अग्निः ३।१०।४, विदथस्य १६०।१, अध्वराणाम् चेतनम् ३।३।८ [४] पुराण्योः सद्मनोः केतुर् अन्तः ३।५५।२ [५] तु॰ १।२७।१२, ३।२।१४। [६] तु॰ १०।१३०।१, २ (द्र॰ टी॰ १३४४[१])। [७] इसलिए वे 'यज्ञम् आतनिः' २।१।१०। [८] तु॰ विश्वस्य केतुर् भुवनस्य गर्भः (अन्तर्निहित, अन्तर्यामी, तु॰ टी॰ १३३९[५] और मूल) १०।४५।६

[१२६१] निघ॰ में धी कर्म (२।१; द्र॰ टी॰ २)। तु॰ ऋ॰ 'यज्ञेन गातुम् अप्तुरो विविद्रिरे धियो हिन्वाना उशिजो मनीषिणः' यज्ञ द्वारा रास्ता ढूँढ निकाला उद्विग्न अस्थिर मनीषियों ने धाराओं के विपरीत जाकर, धी को (निरन्तर) प्रेरणा देकर २।२१।५ ('अप्' प्राण की धारा, तिसृष्टि १०।१२९।६; सत्य उसके ऊपर की ओर) और भी तु॰ 'मा तन्तुश् छेदि वयतो धियं मे' — मैं ध्यानचेतना को बुनता जा रहा हूँ, उसके तन्तु कहीं टूट न जाएँ २।२८।५। यज्ञ अथवा उत्सर्ग की भावना एक तनन है जिसके फल स्वरूप 'यानि स्थानान्य् असृजन्त धीरा यज्ञं तन्वानास् तपसाभ्य् अपश्यम्' — जिन सब स्थानों की सृष्टि की है ध्यानियों ने; यज्ञ के आतनन द्वारा, मैंने तपस्या द्वारा उनको देखा ८।८९।६। तु॰ 'तन्तुं तन्वन् (अर्थात् यज्ञ के निरन्तर आतनन से) रजसो भानुम् अन्व् इहि (प्राणलोक की भाति या दीप्ति का अनुसरण करो) ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान् १०।५३।६। [१] 'दिवश् चिद् आ पूर्व्या जायमाना विजागृविर् विदथे शस्यमाना, भद्रा वस्त्राण्य् अर्जुना वसाना सेयम् अस्मे सनजा पित्र्या धीः' — वह पुरातनी धी, द्युलोक से जन्म लेती हैं यहाँ, नित्य जाग्रता हैं वे, विद्या की साधना में उनका नित्य शंसन; वे शुभ्र, सुमंगल वस्त्रा, पितृपुरुषों के निकट से प्राप्त नित्यजाता वही धी हम सब की हो ३।३९।२। यहाँ हमें सर्वशुक्ला सरस्वती का आभास मिलता है। [२] तु॰ शकेम त्वा समिधं साधया धियः ... भरामे-ध्मं कृणवामा हवींषि ते चितयन्तः पर्वणा पर्वणा वयम्, जीवातवे प्रतरं साधया धियो ऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव १।९४।३,४। [३] 'नि दुरोणे (द्र॰ टी॰ १२५६[१]) अमृतो

अग्नि ही यज्ञ के दिव्य ऋत्विक् हैं, सारे ऋत्विक् भी वे ही हैं- तब भी विशेष रूप से वे 'होता' हैं [१३६२], वे हमारे देवकाम हृदय की अभीप्सा हैं इसलिए हमारी तरह ही वे 'देवयुर होता' हैं। उत्सर्ग साधना के लिए यदि हम उनका आहरण करें तो वे स्वयं प्रज्वल दीप्ति के साथ दृष्टिगोचर होते हैं — फिर हम देखते हैं कि वे पथिकों के लिए एक ज्योतिर्मय रथ जैसे हैं।[1] मनुष्य के दूत रूप में देवता को आह्वान करके यहाँ ले आने का उनमें अथक उत्साह है।[2] हमें केवल होतृरूप में उनको वरण कर लेना होगा और हृदय की वेदी में[3] उनका आसन बिछा देना होगा, हालांकि अनादिकाल से मनु ने ही हम सब के भीतर इसी रूप में उनको निहित कर रखा है।[4] विद्या की साधना में जब भी मनुष्य इस होता को उत्पन्न करता है तब ही उसके निकट स्वर्लोक का आभास लेकर ऊषा झिलमिलाने लगती हैं; और आर्यहृदय तिमिरनाशन होता के रूप में जब भी अग्नि को वरण करता है, तभी ध्यानचेतना का जन्म होता है और उनकी ही प्रेषणा से विहंगम 'श्येन' विपुल — विश्वतश्चक्षु उस अमृत बिन्दु को अध्वर में वहन करके ले आता है।[5] मनुष्य के मनन को इस होता की तरह और कोई सुरक्षित

---

मर्त्यानां राजा ससाद विदथानि साधन' ३।१।१८। [4] तु. १।१।१ (द्र. टी. १२४६[1])। [5] तु. त्वम् अध्वर्युर् उत होतासि पूर्व्यः प्रशास्ता पोता जनुषा (जन्म से) पुरोहितः, विश्वा विद्वाँ आर्त्विज्या धीर पुष्यसि १।९४।६; तवाग्ने होत्रं तव पोत्रम् ऋत्वियं तव नेष्ट्रं त्वम् अग्निद् ऋतायतः (ऋतकामी के), तव प्रशास्त्रं त्वम् अध्वरीयसि ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे २।१।२ (= १०।९१।१०... और भी तु. २।५।१-७ (Geldner बतलाते हैं कि सातवें मंत्र के ऋत्विक् अग्नि))। कुल ऋत्विक् सात हैं एवं उनकी साधारण संज्ञा है 'होता' (तु. ३।१०।४, ८।६०।१६, ९।११४।३ १०।३५।१०, ६१।१, ६३।७, १२२।४), जो फिर विशेष रूप से अग्नि का विशेषण (द्र. टी. १३६२)। अष्टम् ऋत्विक् 'गृहपति' (२।१।२, यज्ञ के नेता २।५।२; आध्यात्मिक दृष्टि से ये 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिर् इवाधूमकः' क. २।१।१३ एवं सात ऋत्विक् सात शीर्षण्य प्राण हैं द्र. टी. १३५८[1]) अग्नि स्वयं हैं, जो 'जनुषा पुरोहितः (ऋ. १।९४।६), जन्म से ही चेतना के पुरोभाग या केन्द्र स्थान में स्थित हैं। उनके साथ तु. बृ. का 'अन्तर्यामी' ३।७। यहाँ उद्गाता का नाम नहीं है किन्तु अन्यत्र है (ऋ. २।४३।२)। तु. २।३६, ३७ सूक्त। [6] 'नेता': तु. २।५।२ (२।११५।४), १०।८।६, ३।२३।१; 'यन्ता': २।१३।२; 'ईशान': ७।११।४।

[१३६२] ऋ. संहिता में कहीं अन्य देवता के लिए प्रयुक्त। इस संज्ञा में अन्य ऋत्विकों का भी अन्तर्भाव लक्षणीय। 'मन्द्रो होता' अग्नि का एक विशिष्ट परिचय (द्र. टी. १३२८)। [1] ऋ. अयम उ ष्य प्र देवयुर होता यज्ञाय नीयते, रथो न योर (पथिक के) अभीवृतो घृणीवान् (ज्योतिर्मय, तु. 'घृत') चेतति त्मना १०।१७६।३। 'अभीवृतः' तु. १।३५।४ (और भी तु. हिरण्मय पात्र द्वारा अपिहित (ढँका हुआ) सत्य मुख ई. १५)। [2] होता का दौत्य: १।५८।१, ७।१।८; द्र. १०।९१।११, टी. १३२७[2]। [3] वरेण्य होता: १।२६।७, ५८।६, २।७।६, ५।१३।४..., उनका 'निषादन' ४।६।११, ६।१६।१०, ८।२३।१७, १०।१२।१,

रख सकता नहीं; उनकी ही प्रेरणा से उसमें मेधा का उन्मेष होता है और उसकी विद्या की साधना को वे ही सम्पन्न करते हैं। इसलिए आहुति द्रव्य अल्प ही या अत्यधिक ही हो, मनुष्य हमेशा उन्हें ही वरण करता है, उनके अतिरिक्त और किसी को नहीं।[6] यह होता [7]कविक्रतु, [8]विश्ववेदा हैं : और हम बिलकुल ही कुछ नहीं जानते। इसलिए देवता के व्रत में हम प्रमादग्रस्त हो जाते हैं। देवताओं के पथ पर हम चलते हैं; अपने सामर्थ्य के अनुसार स्वयं को आगे ले जाना चाहते हैं। किन्तु होता अग्नि सब कुछ जानते हैं। अतएव देवयजन का भार उनके ही ऊपर है, अध्वर और उसके ऋतु की व्यवस्था वे ही करेंगे और हमारे समस्त प्रमाद का आपूरण भी वे ही करेंगे।[9] इसलिए होतृरूप में वे 'यजिष्ठ' या याजकों में अनुत्तम अथवा सर्वोत्तम हैं।[10] बहुलतम विशेषण है, वे मन्द्र हैं[11] अर्थात् आनन्दोच्छल हैं।

हमने देखा कि अग्नि यज्ञसाधन हैं, वे यजिष्ठ होता हैं। यज्ञ का फल यजमान का देवजन्म है। इस प्रजनन में अग्नि जिस प्रकार देवयोनि हैं [१२६३], उसी प्रकार फिर बीजप्रद पिता भी हैं। संहिता में यह बात धेनु वृषभ की उपमा द्वारा समझाई गई है; अग्नि जिस प्रकार वृषभ उसी प्रकार धेनु भी हैं।[1]

---

४६।१, ५३।२...।[4] ६।१६।५, ११।२।४, १४।११, ८।३४।८। तु. १।३६।१५, (द्र. टी. १२३०[4]); अर्थात् मनुष्य ऊर्ध्वमुखी अभीप्सा लेकर ही जन्म लेता है। [5] उषा उवास मनवे स्वर्वती ... यद् ईम् ... अग्निं होतारं विदथाय जीजनन्। अध त्यं द्रप्सं विभ्वं विचक्षणं विर् आभरद् इषितः श्येनो अध्वरे। यदी विशो वृणते दस्मम् आर्या अग्निं होतारम् अध धीर् अजायत १०।११।३,४। 'श्येन' दिव्य सुपर्ण, वैद्युताग्नि का प्रतीक। द्युलोक से सोम आहरण उनका काम है (द्र. ४।२६।४-७, २७ सूक्त.) वही सोम यहाँ 'द्रप्स' अथवा अमृतबिन्दु है किन्तु अग्निधर्मा। अग्नि सोम की सहचरता का वर्णन और भी अनेक प्राप्त हुए हैं। इस मंत्र में पर्याय क्रम से अग्नि का वरण, धी का जन्म, श्येन द्वारा अमृत बिन्दु का आहरण आध्यात्मिक दृष्टि से क्रमशः अभीप्सा, प्रज्ञान एवं अमृतचेतना। [6] तु. 'मेधाकारं विदथस्य प्रसाधनम् अग्निं होतारं परिभूतमं मतिम्, तम् इद् अर्भे हविष्य् आ समानम् इत् तम् इन् महे वृणते नान्यं त्वत्' १०।९१।८, अगला मंत्र भी द्रष्टव्य। 'मेधाकार' तु. अग्नि 'मन्धाता' १०।२।२; 'मेधा' < मनस् + √धा, मन आधान, मनोयोग चित्त का समाधान, योग की समाधि। [7] १।१।५, ६।१६।२३; [8] १।१२।१, २६।२, ४४।७, विश्वविद् ५।४।२...। [9] तु. आ देवानाम् अपि पन्थाम् अगन्म यच् छक्नवाम तद् अनु प्रवोळ्हुम्, अग्निर् विद्वान् स यजात् सेद् उ होता सो अध्वरान्त्स ऋतून् कल्पयाति। यद् वो वयं प्रमिनाम व्रतानि विदुषां देवा अविदुष्टरासः, अग्निष् टद् विश्वम् आ पृणाति विद्वान् येभिर् देवाँ ऋतुभिः कल्पयाति १०।२।३,४। अगली ऋचा भी द्रष्टव्य; तु. टी. १२४६[1]। [10] १।७७।१, १२८।१, २।९।६, ४।१।४...। होता और याजक एक. तु. नि. 'होतारं जुहोतेर् होतेत्य् और्णवाभः' ७।१५। [11] द्र. टी. १२२८।

[१२६३] द्र. अग्निर् वै देवयोनिः ... ऐ.ब्रा. १।२२, २।२; तु. श. १२।९।३।१०।

[1] तु. ऋ. १०।५।७; वृषा और पृश्नि साथ साथ ४।३।१०। [2] वृषभ < √वृष्

आधार में शक्तिपात बोधक 'वृषभ' संज्ञा देवताओं के सम्बन्ध में बहुप्रयुक्त है।[2] देवताओं का शक्तिपात आधार को पुष्ट करके समर्थता प्रदान करता है अतः अग्नि 'वृषभः पुष्टिवर्धनः' हैं।[3] उसी समर्थ आधार में उच्छलित प्राण की धाराओं में वृषा अग्नि गर्भाधान करके स्वयं ही 'अपांनपात्' रूप में जन्म लेते हैं। उसके बाद, आधार की शक्तियों एवं हृदय की आकूति द्वारा आप्यायित[4] एवं संवर्धित होकर वही शिशु अग्नि ही पुनः वृषा होते हैं। उस सामर्थ्य उनका दिव्य सामर्थ्य अमृत आनन्द की ज्योतिर्मय धारा बरसाता है।[5] तब हमारे भीतर देवता का जन्म होने भी देवता में उसी प्रकार रूपान्तरित कर देता है जिस प्रकार आग ईंधन को आग में रूपान्तरित कर देती है। तब हम सब भी वृषा होते हैं, वृषा रूप में वृषा अग्नि को शाश्वतकाल तक समिद्ध करते चलते हैं और उनकी द्युति बृहत् होकर फैल जाती है।[6] यह दिव्य सामर्थ्य ही देवात्मभाव का स्वाभाविक परिणाम है।

होता अग्नि की श्लाघ्यतम कृति, वे 'रत्नधा' हैं। सामान्यतया सारे देवता ही रत्नधा हैं [१२६४], किन्तु उन सब में अग्नि 'रत्नधातम' हैं।[1] 'रत्न' अमृत चेतना की दीप्ति है उपनिषद् की भाषा में प्रज्ञानघनता है[2] अर्थात चित्शक्ति की घनीभूत ज्योति है। आलोकदीप्त

'वर्षण करना, कराना'। रूपान्तर: 'वृषन्' कहीं 'वृषण'। विशेष रूप से अग्नि-सोम 'वृषा', जिस प्रकार इन्द्र 'वृषभ' (तु. २।१।३)। 'जो वीर्य वर्षण करते हैं', इस यौगिक अर्थ में ही अधिक प्रयोग हुआ है, यद्यपि उपमान की छवि नितान्त दुर्लभ नहीं, जैसे 'सहस्रशृंग' ५।१।८, 'तुविग्रीव' ५।२।१२, 'ककुद्मान्' १०।८।२, कनिक्रदत् १।१२८।३, 'रोरवीति' ४।५८।३, १०।८।१। अग्नि 'अरुष' या अरुणवर्ण वृषा' यह परिचय कई स्थानों पर है उसमें भी उपमान का रूप स्पष्ट है (३।७।५ ५।१२।६, ६।८।१, ४।८।६ …)। वृषभ के साथ वीर्यवर्षण और गर्भाधान का अनुषंग: १।१७९।१, २।१६।८, ४।४१।६, ५।४१।६, वृषभः कनिक्रदद् दधाद् रेतः १।१२८।३, सहस्ररेता वृषभः ४।५।३, ३।५६।३, ५।६९।२ …। [3] १।३१।५; तु. १।१।३। [4] तु. 'स ईं वृषाजनयत् तासु गर्भं स ईं शिशुर्धयति तं रिहन्ति', २।३५।१३। 'अपांनपात्' वैद्युत अग्नि, आगे चलकर द्र.। [5] तु. श्चोतन्ति धारा मधुनो घृतस्य वृषा यत्र वावृधे काव्येन ३।१।८। [6] तु. वृषणं त्वा वयं वृषन् वृषणः सम् इधीमहि, अग्ने दीद्यतं बृहत् ३।२७।१५; तु. पहले के दो ऋक्।

[१२६४] साधारणतः सारे देवता ही **रत्नधा**: तु. ३।८।६, ७।९।५, २७।२। विशेष रूप से रत्नधा: अश्विद्वय १।४७।१, ४।४४।४, ५।७५।३, ७।६७।१०, (६९।८), ७०।४, ८।३५।२२-२४, वाजं वाजं जरितु रत्निनी कृतम … नासत्यौ १।१८२।४; उषा ६।६५।४, ७।७५।६, ८, ८१।३; सविता १।२५।८, २।१।७, ३८।१, ४।५४।१ ५।४८।४ (अनिरुद्ध) ४९।२, ८२।३, ७।३८।१, ६,४०।१, ५२।३, १०।३५।७; भग ५।४९।१, ६।१३।२, ७।३८।१; आदित्यगण १।४१।५-६। ये सभी द्युस्थानी देवता हैं। अन्तरिक्षस्थानी देवताओं में रत्नधा: रुद्र ६।७४।१ (सोम के साथ), मरुद्गण १०।७८।८, बृहस्पति २।६२।४, इन्द्र ४।४१।२ (वरुण के साथ) ६।१९।१०, ७।२५।३, ८।९९।१। भूलोक में अग्नि के अतिरिक्त रत्नधा: द्यावापृथिवी ७।५३।३; नदियाँ तु. सजोषस आदित्यैर् मादयध्वं सजोषस ऋभवः पर्वतेभिः, सजोषसो दैव्येना सवित्रा सजोषसः

उषाएँ जब अपनी प्रथम रत्नच्छटा आकाश में बिखेर देती हैं तब अग्नि प्रज्वलमान हो जाती और जागते रहते हैं[२]; यही दीप्ति सुकर्मा के आधार में उन्हें भी प्रस्फुटित करनी होगी। उसके बाद हिरण्याक्ष सवितृ

---

सिन्धुभी रत्नधोभिः ४।३४।८ (ऋभु आगे चलकर द्रष्टव्य; रत्नधा सिन्धु (नदी) के साथ तुलनीय द्रविणोदा अग्नि; सिन्धु नाड़ीवाही प्राणप्रवाह का प्रतीक, जिस प्रकार स्तब्ध एवं उत्तुंग पर्वत ध्यानचेतना का प्रतीक, (तु. छा. ७।६।१, ऋ. ३।५४।२०)। इसके अतिरिक्त रत्नधा हैं त्वष्टा १।१५।२ एवं ग्नास्पत्नियाँ (दिव्यशक्तियाँ) ४।३४।७ (आगे ऋक् द्र.)। अग्नि जब रत्नधा, तब सोम भी रत्नधा होंगे, यह प्रत्याशित है: ९।३।६, ४०।४, ५९।१, देवेषु रत्नधा असि ६७।१३, ८६।१०, ९७।२, आ रत्नधा योनिम् ऋतस्य सीदस्य उत्सो देव हिरण्ययः ९।१०७।४ दमेदमे सप्त रत्ना दधाना ६।७४।१ (रुद्र के साथ)। वामदेव के कथनानुसार ऋभुगण विशेष रूप से रत्नधा: ४।३४।१, ४, ६, ११, ३५।१, २, ८, यत: तृतीयं सवनं रत्नधेयं कृणुध्वम् ९ (तु. १, फिर ३४।४)। सोमयाजी में वे इक्कीस रत्न आहित करते हैं १।२०।७ (इस उपलक्ष्य में उनके प्रति रचित स्तोत्र भी 'रत्नधातम' १)। ऋभुओं ने मर्त्य मानव होते हुए भी अमृतत्व प्राप्त किया था १।११०।४)। सोमयाग में वे तृतीय सवन में सोमपान करते हैं अर्थात याग के अन्त में। तो याग का फल 'रत्न' लाभ है। उसके अतिरिक्त अश्विद्वय 'वाजरत्न' ४।४३।७, ऋभुगण भी ४।३४।२, ३५।५; सविता 'सुरत्न' ७।४५।१ त्वष्टा भी १०।७०।९; उषा 'रत्नभाज' ७।८१।४; यजमान भी सविता के अनुग्रह से 'रत्नी' ७।४०।१ 'सुरत्न' ७।६७।६, ८४।५, ८५।५, १०।७८।८; नारियाँ 'सुरत्ना' (साधारण अर्थ में) १०।१८।७। १।१।१, ५।३।: इस संज्ञा का केवल एक और प्रयोग ऋभुओं के उद्दिष्ट स्तोम के लिए किया गया है १।२०।१। अग्नि 'रत्नधा': १।९४।१४, १४१।१०, त्वं देवः सविता रत्नधा असि २।१।७, ३।१८।५, सुवीर्यं स्वश्व्यं दधातु रत्नम् अमृतेषु जागृविः (अश्व = ओज: १०।७३।१०) २६।३, ४।२।१३, १२।३, १५।३, ६।१३।२, ७।१६।६, १२, १७।७, ३।२।११, १०।११।८। इसके अतिरिक्त अग्नि 'महिरत्न' १।१४१।१०। [२] 'रत्न' निश्चय ही उपमान है, उसका सामान्य गुण है प्रकाश का घनीभूत होना। अतएव उपनिषद में जो 'प्रज्ञानघन' अथवा 'विज्ञानघन' है, और वेदान्त में चिद्घन है, वही 'रत्न' है। इसके साथ प्रतीक के हिसाब से तु. 'रत्न' एवं 'मणि'। संभवत: ऋक्संहिता का 'रत्न' मुक्ता — समुद्र से प्राप्त। अन्तरिक्ष और द्युलोक दोनों ही समुद्र रूप में कल्पित, दोनों ही व्याप्तिधर्मा हैं। तो फिर 'रत्न' इसी प्रमुक्त चेतना की घनीभूत दीप्ति है। तु. 'अस्ति देवा अंहोर् उर्व् अस्ति रत्नं अनागसः, आदित्या अद्भुतैनसः' हे देवगण, हे आदित्यगण जो निरंजन या कल्मषशून्य है, जिसके भीतर पाप की संभावना नहीं, उसके लिए है क्लिष्टता से वैपुल्य; है रत्न (८।६७।७)। यहाँ क्लिष्टचेतना से वैपुल्य में मुक्ति का उल्लेख प्राप्त होता है, जो ब्रह्मसद्भाव का लक्षण है; हम उसी निर्मलता से ही रत्न का आविर्भाव देखते हैं। और 'मणि' मूल्यवान पत्थर है, उसका आकर या उत्पत्ति स्थान पृथिवी है। इसलिए वह पार्थिव चेतना के प्रतीक के रूप में असुरभोग्य है (तु. १।३३।८ वहाँ असुरों को 'हिरण्येन मणिना शुम्भमाना:' कहा गया है, किन्तु इन्द्र सूर्य की ज्योति से झलमल; लक्षणीय, तंत्र की ब्रह्मग्रन्थि 'मणिपुर' जो लौकिक सुख का आकर है))। हमने पहले ही देखा है कि द्युस्थानी देवता ही विशेष रूप से अश्विद्वय से लेकर भग तक सभी रत्नधा हैं। इसके अलावा उनमें सविता रत्नधा रूप में विशिष्ट हैं उनके आविर्भाव से पृथिवी की आठों दिशाएँ, तीन मरुप्रान्तर और सप्तसिन्धु जगमगाने लगते हैं (१।३५।८) फिर 'रत्न' चेतना में देवता का आवेश (देवभक्तम् ४।१।१०) है,

देव आते हैं; उनकी दृष्टि में पृथिवी के आठ दिग्गज, योजन व्यापी तीन प्रान्तर और सप्तसिन्धु छा जाते हैं तथा जिसने दिया है, उसके भीतर निहित करते हैं रत्नराजि।[4] तब अमृतों का अमरों में नित्य जाग्रत वैश्वानर भी समिद्ध होकर उसके भीतर निहित करते हैं रत्न की दीप्ति।[5]

आकाश की ज्योतिः का आवेश (इभक्तम ४।१।१८; 'भक्त' < √भज ॥ भञ्ज 'तोड़कर प्रवेश करना, आविष्ट होना' — मौलिक अर्थ में; अतएव 'भक्त' देवा विष्ट; द्र. भग)। 'रत्न' कहीं दीप्ति ('द्युम्न' ७।२४।२, 'वसु' १।४५।६, ३।२।११, १०।११।८; 'रोचना' ८।७३।२६ (Geldner के मत से अग्नि की उक्ति) कहीं आनन्द ('मयः' ७।८१।३), कहीं अग्निस्रोत ('द्रविण' १।७४।१४, ४।२।१२)। एक जगह (१०।३५।७) रत्न को रत्नधा सविता का 'श्रेष्ठ वरेण्य भाग' बतलाया जा रहा है; यहाँ 'वरेण्य भर्ग' की ध्वनि सुस्पष्ट (३।६२।१०) है। रत्न के ये सभी विशेषण लक्षणीय: रत्न सुवीर्य (७।१६।१२), वीरवत् (७।७५।८), अतएव गोजित् एवं अश्वजित् (७।५७।१; तु. अश्वावत्... वीरवत् ७।७५।८) रण्यजित् (आनन्द के जेता- वही), प्रजावत् (सन्तान अथवा जिसकी अविच्छिन्न अनुवृत्ति है २।८।६, ८।५७।१), अभृक्त (सुगोल, सुपुष्ट ७।३७।२)। इस रत्न को प्राप्त करने के लिए सोए रहने से काम नहीं चलेगा (तु. १।५२।१), क्योंकि द्युलोक-भूलोक के स्वधा की आड़ में वह छिपा है (७।८६।१०), इसलिए उसके लिए जाग्रत चित्त की तपस्या चाहिए (तु. ३।२६।३, २८।५)। रत्न उसी के लिए तो 'विधत' अथवा लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए आग्रही (तु. ४।२।१३, १२।३, ३४।४, ४४।४, ६।६५।२, ४, ७।१६।१२, ७५।६। रत्न-प्राप्ति होती है प्रेम द्वारा अग्नि की परिचर्या करने से (सपर्यामि प्रयसा यामि रत्नम् १।५८।७ = ३।५४।२)। हमारे 'धीर' पितरों ने सोम के मार्गदर्शन में देवताओं के मध्य जाकर रत्न प्राप्त किया था (तु. 'तव प्रणीती पितरो न इन्दो देवेषु रत्नम् अभजन्त धीराः' १।७१।१)। सोम जब यजमान की धी को परिष्कृत कर निर्मल करते हैं तब उनकी इच्छा से ही उसके आवेशविह्वल हृदय में रत्न का आविर्भाव होता है (विप्राय रत्नम् इच्छति यदी मर्मृज्यते धियः ७।४७।४, तु. धी 'वाजरत्ना' अथवा वज्रदीप्ति से दीपित, प्रकाशित (६।३५।१, ७।४७।४; 'धी' की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती, उनके स्तन रत्नधा हैं: 'यस् ते स्तनः शशयो यो मयोभुर् येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि, यो रत्नधा वसुविद् यः सुदत्रः सरस्वति तम् इह धातवे कः' — तुम्हारे छलकते स्तन, जो आनन्दमय हैं जिनके द्वारा पुष्ट करती हो समस्त वरेण्य सम्पद, जो निहित करते हैं रत्न, और प्राप्त करते हैं ज्योति, जो अपनी इच्छानुसार उड़ेल देते हैं हे सरस्वती, यहाँ उन्हें बढ़ा दो, खोल दो पान करने के लिए १।१६४।४९)। रत्न प्राप्ति का अन्तिम परिणाम है 'देवताति' (तु. १।१४१।१०, द्र. टी. १२३८[7]) एवं 'सर्वताति' (तु. १०।७४।३, द्र. टी. १३२७[1])।... रत्न की निरुक्ति सुनिश्चित नहीं। निघ. में 'रत्न' धन (२।१०), यास्क के अनुसार 'रमणीय' होने से रत्न < √रम, नि. ७।१५। Geldner अर्थ करते हैं 'जयलब्ध सम्पद' (SIEGESPRIES) अथवा 'दक्षिणा' (Belohnung) किसी का कहना है कि दानार्थक √रा से रत्न, कोई-कोई तुलना करते हैं, IE. rent, rnt, Irish ret 'thing' के साथ। किन्तु < √ऋ? तु. AV. 'रत्' ।[2] ऋ. प्रत्य् अग्निर् उषसाम् अग्रम् अख्यद् विभातीनां सुमना रत्नधेयम् ४।१३।१ अगले दो चरणों में अश्विद्वय एवं सूर्य का उल्लेख है, वे भी रत्नधा हैं।[4] तु. अष्टौ व्य् अख्यत् ककुभः पृथिव्यास् त्री धन्व योजना सप्त सिन्धून्, हिरण्याक्षः सविता देव आगाद् दधद् रत्ना दाशुषे वार्याणि १।३५।८। सविता के प्रभास या ज्योति से आकाश की मौक्तिक शोभा के नीचे पृथिवी का सुन्दर चित्र। वही शोभा या छटा उसके भीतर उतर आती है जो स्वयं को सौंप दे सकता है उनके निकट।

[5] तु. ३।२६।३, [6] तु. यत् ते शुक्रं तन्वो रोचते शुचि तेना स्मभ्यं वनसे रत्नम् आ त्वम् १।१४०।११ (√वन 'छीनकर ले आना' तु. win। [7] त्रिभिः पवित्रैर् अपुपोद् ध्य् अर्कं हृदा मतिं ज्योतिर् अनु प्रजानन्, वर्षिष्ठं रत्नम् अकृत स्वधाभिर् आद्

बाहर का आकाश और भीतर का आकाश उसमें एक हो जाता है। उनके शरीर में जो शुभ्र है, शुचि है उससे ही वे हम सब के भीतर रत्नच्छटा प्रस्फुटित करते हैं, अँधेरे को पराजित करके।[६] अद्भुत है उनकी स्फुरत्ता, ऊर्जस्विता; तीन 'पवित्र' द्वारा पवित्र करते हैं वे ज्ञान की शिखा को — हृदय के प्रज्ञान द्वारा ज्योति के अनुगामी मनन को जान कर; निरन्तर निर्झरित रत्नदीप्ति की सृष्टि करते हैं अपनी स्वप्रतिष्ठा की शक्ति द्वारा; उसके बाद ही अपनी दृष्टि प्रसारित कर देते हैं द्यावा पृथिवी के ऊपर।[७] इस प्रकार प्रत्येक आधार में सात रत्न निहित करते हैं वे चेतना की सात भूमियों पर।[८] तब अध्वर की साधना भी रत्नदीप होकर अमृतों के बीच नित्य जाग्रत रहकर देवता के सान्निध्य में पहुँचती है। उसी में उसकी श्लाघ्य सार्थकता है।[९]

ऋक् संहिता के प्रथम मण्डल के प्रथम मंत्र के आधार पर अग्नि के दिव्य कर्म की अथवा यज्ञ-सम्बन्धी एक संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत की गई। साथ साथ उनके रूप गुण और कर्म के विवेचन की भूमिका में यहाँ उनका साधारण परिचय भी समाप्त हुआ। उसके बाद हमारा आलोच्य है अग्नि के जन्म का रहस्य।

## २. जन्मरहस्य

देवता स्वरूपतः अजर एवं अमृत हैं किन्तु उनका जन्म है — इस वैदिक भावना का वैशिष्ट्य प्रणिधानयोग्य है। वस्तुतः देवता नित्य हैं, सनातन हैं, उनका जन्म भी नहीं, मरण भी नहीं। किन्तु मुझ में गुहाहित रहकर भी अर्थात अन्तर्यामी रूप में प्रच्छन्न रहने के बावजूद साधना के फलस्वरूप वे जब मेरे भीतर 'आविर्भूत' होते हैं, तब वही उनका 'जनिम' अथवा जन्म [१३६५] है। यह आविर्भाव शह विद्युत की

---

ऋ३ द्यावापृथिवी पर्य अपश्यत् ३।२६।८। 'पवित्र' जिसके द्वारा पूत या शुद्ध किया जाए, पावक, शुद्धि का साधन। वे अग्नि के ही तीन रूप हैं — पृथिवी में अग्नि, अन्तरिक्ष में विद्युत अथवा वायु एवं द्युलोक में सूर्य। उनके आवेश से देह अग्निस्नात होगी, प्राण विद्युन्मय होगा और मन ज्योतिर्मय। ज्योति लक्ष्य है, वहाँ पहुँचने का साधन है मन, हृदय एवं प्रज्ञान की वृत्ति। 'वरिष्ठ रत्न' के साथ तु. पतंजलि का 'धर्ममेघ'। सिद्धि का अन्तिम परिणाम वैश्वानर का सर्वसाक्षित्व। दमेदमे सप्तरत्ना दधानः २।१।१२; तु. ६।७४।१ (सोम-रुद्र); शौनक संहिता ७।२९।१ (अग्नि-विष्णु; यह सर्व देवता का प्रत्याहार ऐब्रा. १।१। फिर इक्कीस रत्न ऋ. १।२०।७। तु. बौद्ध 'त्रिरत्न'। [९] अथा देवेष्व् अध्वरं विपन्यया धा रत्नवन्तम् अमृतेषु जागृविम् ३।२८।५।

[१३६५] तु. श्रेष्ठ पुरुष की उक्ति : 'नित्य सिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता', रूपगोस्वामी, 'भक्तिरसामृतसिन्धु' १।२।२। ऋक् संहिता में सोम के जन्म के सम्बन्ध में ऋषि का कथन : 'सं दक्षेण मनसा जायते कविर् ऋतस्य गर्भो निहितो यमा परः; यूना ह सन्ता प्रथमं वि जज्ञतुर् गुहा हितं जनिम नेमम् उद्यतम् २ (यजमान के)

तरह क्षणस्थायी भी हों,[1] तब भी वह उनके नित्यस्वरूप को ही अनुभव में प्रत्यक्ष करता है। इसलिए वेद के देवता 'जात', किन्तु अमृत हैं; अमर हैं।[2]

अग्नि के जन्म को आधियाज्ञिक, आधिलौकिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक इन चार दृष्टियों से देखा जा सकता है। प्रत्यक्षतः अग्नि यज्ञ के साधन हैं इसलिए उनके आधियाज्ञिक जन्म की कथा पर ही पहले प्रकाश डालना उचित है।

यज्ञः अरणिमन्थन द्वारा अग्नि का जन्म प्रत्यक्ष है। इस मंथन की चर्चा पहले ही की गई है [१२६६]। उनका यह जन्म प्रतिदिन[1] भीतर-बाहर दिन का उजाला फूटने के पहले, उषा और रात्रि के रहस्यलोक में, देवकाम की दृष्टि में आदित्य ज्योति की प्रत्याशा जगाकर होता है।[2] इस आधियाज्ञिक जन्म में

---

दक्ष मन के साथ उत्पन्न होते हैं (ये) कवि (जो) ऋत के भ्रूणरूप में निहित थे युगल के उस पार; ये दोनों युवा आविर्भूत होते ही पहले (उ. हैं) विशेष रूप से जान पाए हैं; गुहाहित है (उनका) जन्म— आधा ही प्रकटित ['दक्ष मन' संकल्प में समर्थ, इसलिए देवदर्शन उसके लिए सहज होता है, तु. प्र. ४।५। 'ऋत' विश्व का आदि विधान या विश्व के मूल में सत्य का सुशृंखल शाश्वत विधान (तु. ऋ. १०।१९०।१, 'धर्म' ८।८।१५), सोम अथवा अमृतचेतना वहाँ गुहाहित; सृष्टि के मूल में आनन्द; 'याम' अश्वि युगल (तु. २।३९।२, ३।३९।३) उन्होंने ही पहले आथर्वण दध्यङ् ऋषि से मधुविद्या अथवा सोमरहस्य प्राप्त किया था (द्र. १।११६।१२, ११७।२२; तु. बृ. २।५।१५-१९); वे ही 'दो युवा' अन्तरिक्ष के उस पार द्युस्थान देवताओं में प्रथम, दिव्यचेतना का आदिम उन्मेष। सोमरस आनन्द का आधा ढँका रहता है लोकोत्तर में और आधा यहाँ झलक पड़ता है (तु. १।८४।१५ द्र. टी. १२४८] ८।६८।५। तु. मुण्डकोपनिषद का वही महत पद जो 'गुहाचर' होकर ही 'आविः' २।२।१। और भी तुलनीय, ऋ. 'दश क्षिपः (अंगुलि) पूर्व्यं सीम् (उनको) अजीजनन्' (जन्म दिया) ३।२३।३। वामदेवः 'गर्भे नु सन्न् अन्व् एषाम् अवेदम् अहं जनिमानि विश्वा' अर्थात् मातृगर्भ में रहते हुए ही उनकी दिव्य चेतना का उन्मेष हुआ था (४।२७।१), इसलिए तंत्र की भाषा में वे 'योनिनीभूः'; द्र. गी. ४।५, ऐउ. २।४।५। यह उन्मेष ही देवजन्म है। 'जनिम्' < √'जनी प्रादुर्भावे'।[1] तु. के. ४।४, ऋ. १।१४६।२९ द्र. टी. ११८७। [2] तु. वेदान्त का सिद्धान्त; अविद्या का आदि नहीं, किन्तु नाश है; उसी तरह विद्या का आदि है, किन्तु नाश नहीं। विशिष्ट रूप से यह तथाकथित 'आदित्व' हमारी प्रत्यभिज्ञा मात्र है।

[१२६६] द्र. टी. १२४८, १३४८ और मूल। लक्षणीय, आधियज्ञ दृष्टि से मंथन द्वारा अग्नि का जन्म वर्णित हुआ है ऋ. ३।२९ सूक्त में, उसकी ही रहस्यपूर्ण विवृति हम ३।१ सूक्त में पाते हैं और ये दोनों सूक्त तृतीय मण्डल के आग्नेय उपमण्डल के अन्त एवं आदि में हैं। अर्थात् पहले भावना, उसके बाद उसका आश्रय लेकर कर्म (द्र. ११४४ और मूल)। [1] तु. दिवेदिवे जायमानस्य दस्म (हे तिमिरनाशन) २।९।५, दिवे दिवे ईड्यो जागृवद्भिः ३।२९।२; 'तम् अर्वन्तं न सानसिम् अरुषं न दिवः शिशुम्, मर्मृज्यन्ते दिवेदिवे' — वे (इष्टार्थ) छीन कर ले आए अश्व जैसे, द्युलोक के अरुण शिशु जैसे। तु. सोम का वर्णन ९।३३।५, २८।५) उनका मार्जन करते हैं प्रतिदिन ४।१५।६।

उत्तरारणि एवं अधरारणि उनके पिता और माता हैं; उनके भीतर वे गर्भिणियों के गर्भ में सुनिहित भ्रूण की तरह निहित हैं।[२] दो अरणियों से जन्म लेने के कारण उनका एक नाम 'द्विमाता' है।[४] किन्तु याद रखना होगा कि अरणिमन्थन द्वारा अग्नि के जन्म देने का कार्य केवल कायसाध्य नहीं, वास्तव में ध्यान साध्य भी है।[५]

इसके अतिरिक्त अरणि एक टुकड़ा 'वन' या काठ है, अतएव अग्नि का और एक नाम 'वने-जाः' है [१३६७]। एक जगह अधरारणि को 'वना' कहा गया है— 'सुभगा' अथवा चिदाविष्टा होकर वह 'विरूप' अग्नि को जन्म देती है।[१] काठ में आग है, वह अरणिमन्थन से जल उठती है एवं समिध् का आश्रय लेकर बढ़ती जाती है; इसलिए वन के

और भी तु. एता ते अग्ने जनिमा सनानि (चिरन्तन), प्र पूर्व्याय नूतनानि वोचम् ३।१।२०: अग्नि का जन्म जिस प्रकार प्राक्तन और चिरन्तन है उसी प्रकार नित्य नूतन है हालांकि वे सब के प्रागभावी हैं अर्थात उनका अस्तित्व पहले से है। [२] तु. अग्निम् अच्छा (ओर) देवयतां मनांसि चक्षूंषीव सूर्ये सं चरन्ति, यद् (जब) ई (इन्हें) सुवाते उषसा (उषा एवं नक्त या रात्रि) विरूपे (क्योंकि एक उजली एक काली) श्वेतो वाजी जायते अग्रे अह्नाम् ५।१।४। सूर्यज्योति में अग्निज्योति के परिणमन की ध्वनि सुस्पष्ट है: आत्मचैतन्य ही विश्वचैतन्य में विस्फारित होता है। उषा जिस अग्नि को जन्म देती है, वे मित्र हैं; और नक्ता अथवा रात्रि जिस अग्नि को जन्म देती है, वे वरुण हैं। वरुण की अव्यक्त ज्योति से ही फिर पूर्वाह्न में मित्र की व्यक्त ज्योति के रूप में उनका आविर्भाव श्वेत अश्व की तरह होता है (तु. ५।३।१; द्र. टी. १२५० और मूल)। उपनिषद् की भाषा में एक सम्भूति की चेतना है और एक असम्भूति की। दोनों का सहचार लक्षणीय (तु. १०।१२९।४; ई. १४;)।[३] ३।२९।२; द्र. टी. १२२२[१], १२५८[२]। ल. अनेक गर्भिणियों का एक भ्रूण: तु. एकं गर्भं दधिरे सप्त वाणीः ३।१।६ द्र. टी. १२३३[४]। उत्तरारणि पिता और अधरारणि माता— इसे 'उत्ताना' कहते हैं तु. ३।२९।३, २।१०।३, उत स्म यं शिशुं यथा नवं जनिष्टारणी ६।७।३।[४] तु. द्विमाता शयुः (शयान) कतिधा चिद् (कितने प्रकार से ही) आयवे (जीव के लिए, यजमान के लिए; आयु मनु की तरह ही हम सब के पूर्वपुरुष,— आयु प्राण, मनु मन तु. ८।१५।२; इसके अलावा आयु देवता, विशेष रूप से अग्नि तु. ८।४१।२, द्र. टी. १३०६[१]; अग्नि प्रत्येक आधार में ही प्राण के मूल में हैं तु. जन्मन् जन्मन् निहितो जातवेदाः ३।१।२०, २१), १।११२।४, ३।५५।६, ७; और भी तु. १।१४०।३, ५।११।३ (द्र. टी. १३२९[१]), शेषे (सोया है) वनेषु (काठ में, ईंधन में, कामना में)— मात्रोः सं त्वा मर्तास इन्धते ८।६०।१५ (सभी काठों में ही अग्नि है तब भी अभीप्सारूपी अग्नि का जन्म अरणि से ही होता है तु. श्वे. १।१४), १०।७९।४, ११५।१...। और भी तु. 'द्विजन्मा' (द्र. टी. १३५२), १।१४९।४, ५। अरणि मन्थन करना होता है दोनों हाथ से— दस उंगलियों से; अतएव वे भी अग्नि की माता हैं: द्र. १।९५।२, ३।२३।३, ४९।१२, ७।६।८ ...। वे आपस में बहने हैं (स्वसारः)।[५] तु. अग्निं नरो दीधितिभिः (ध्यानाभ्यास द्वारा) अरण्योर् हस्तच्युती (हाथ चलाकर) जनयन्त प्रशस्तम्। दूरे दृशं गृहपतिम् (तु. ई. ५) अथर्युम् (संचरमाण; अग्नि और एक संज्ञा; तु. 'अथर्वा', अवेस्ता. अथर > आतश 'आग'; नि. 'अतनवन्तम्' < √अत् 'चलना', तु. 'अतिथि', ५।१०) ७।१।१, ३।२९।१ (द्र. टी. १२१३[२])।
[१३६७] तु. क्र. ६।३।३, १०।७९।७; ५।१।५। और भी तु. गुहाहितं ... शिश्रियाणं वने वने ५।११।६ (द्र. टी. १२४८[६]), १०।९१।२। [१] वना जजान सुभगा विरूपम् ३।१।१३।
**वनम्** — काठ, वृक्ष, वन, काठ; वना भी वही, स्त्रीलिंग में एक मात्र प्रयोग—

साथ अग्नि का घनिष्ठ सम्बन्ध है। किन्तु 'वन' शब्द वस्तुतः श्लिष्ट है उसमें कामना की ध्वनि है। अग्नि जब छोटी-छोटी कामनाओं का वन जलाकर छारखार करते हैं तब वे 'वनेषाट्'[2] फिर उनको अभीप्सा में रूपान्तरित करके जब ऊर्ध्वशिख करते हैं तब वे 'वनस्पतिः' कहलाते हैं।[3] कामना के जीर्ण न होने से, उसका रस न मरने से आधार में आग नहीं जलती, किन्तु उसके बाद ही अजर, अमृत जीव रूप में देवता का आविर्भाव होता है।[4] तपश्चर्या की भावना इसी से आई है एवं इसीलिए वेद में अग्नि विशेष रूप से तपोदेवता हैं।[5]

अग्नि के इसी अधियज्ञ जन्म से उनके अधिलोक जन्म की भावना आती है। यज्ञ विश्वभुवन की नाभि अथवा प्राणकेन्द्र है, यज्ञ की वेदि पृथिवी का परम अन्त है, सीमा है [१३६८], और उत्तर वेदि में ही देवता अग्नि का प्रत्यक्ष पार्थिव जन्म होता है। एक स्थान पर बतलाया जा रहा है कि 'अग्नि ने पहले द्युलोक से जन्म लिया; उसके बाद हम सब से जातवेदा रूप में उनका द्वितीय जन्म हुआ।'[1] तभी वे हम सबके 'सहसः सूनुः' उत्साहस के परिणाम कहलाए जो पथ की सारी बाधाओं को दूर करता है; वे हमारे 'ऊर्जो नपात्' अथवा अन्तर्मुखता की उस सामर्थ्य से उत्पन्न हुए हैं जो हमारी चेतना को मोड़ देता है।[2]

---

अधरारणि का बोध कराने के लिए। क्लीब लिंग में 'वनस्' ऋक्संहिता में एकमात्र असमस्त प्रयोग 'आ याहि (उषाः) वनसा सह' १०।१७२।१, अर्थ 'प्रीति' अथवा 'रति'। < √वन 'चाहना', खोजना, संग्रह करना, छीन लेना, तु. Lat. *venus* 'love', < *wen 'to wish', OS. OHG. *winnan* 'to strive after'। 'विरूपम्' नानाविधरूपम् (सायण) अथवा 'अन्यरूप', जड़ काठ चिन्मय अग्नि में रूपान्तरित। २ 'अधा सु मन्द्रो अरतिर् विभावा अव स्यति द्विवर्तनिर् वनेषाट्' — उसके बाद इनके भीतर ('विक्षु' प्रवर्त साधकों के भीतर अनुमेय) आनन्दमत्त (प्राण-) चंचल ज्योतिर्मय (देवता) सन्निविष्ट होते हैं 'वन' को अभिभूत करके; तब उनके दो आवर्तन अथवा गतिपथ १०।६१।२० पहले के ऋक् में अग्नि का कथन है, 'मैं ही सब हुआ हूँ।' प्रत्येक आधार में जड़ता को पराजित करके उनका चिन्मय आविर्भाव। एक ऊर्ध्व में द्युलोक की ओर और एक चारों ओर दावानल रूप में — तब वे 'कृष्णयाम', (६।६।१) अथवा 'कृष्णवर्तनि' (८।२३।१९); ३ वनस्पति आप्री सूक्त के विशिष्ट देवता हैं, विवरण आगे चलकर द्र.। ४ तु. २।२३।१ (द्र. टी. १३१४[३]), 'आद् इत् ते विश्वे, क्रतुं जुषन्त, शुष्काद् यद् देव, जीवो जनिष्ठाः' — इसी से वे सभी (पितृगण) (तुम्हारे) सामर्थ्य से सुतृप्त हुए, जब शुष्क (इन्धन) से हे देवता तुम जीवित रूप में जन्मे १।६८।३। ५ तु. 'यो नः सनुत्यो (दूर से) अभिदासाद् (छारखार या स्वत कर देता है) अग्ने यो अन्तरो (निकट से) मित्रमहो (हे मित्रज्योति) वनुष्यात् (सर्वनाश करके हमारा) तम् अजरेभिर् वृषभिस् तव स्वैः (दहन द्वारा) तपा तपिष्ठ तपसा तपस्वान्' ६।५।४ (द्र. टी. १३११[४] और मूल)।
[१३६८] ऋ. इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः १।१६४।३५। तु. आध्यात्मिक दृष्टि से समस्त जीवन ही यज्ञ है (छा. ३।१६, १७), एवं हृदय ही वेदि (वेदी) है (छा. ५।१८।२)। १ तु. १०।४५।१, द्र. टी. २३०। २ 'सहसः सूनुः' द्र. टी. १३६३[२]; तु. सहस्पुत्रः २।१४।१ (६), १८।४, ५।३।१, 'सहसो युवन्' १।१४१।१० 'सहसो यहो' १।२६।१०। ऊर्जो नपात् २।६।२, ३।२७।१२, ६।१६।२५, ४८।२, १०।२०।१०, ऊर्जः पुत्रः १।९६।३। अग्निमन्थन की अध्यात्म व्यंजना द्र. टी. १३४८[४] और मूल।

किन्तु दिव्य भावना में आधियाज्ञिक दृष्टि जब विस्फारित होती है तब हम देखते हैं कि अग्नि केवल इन दो अरणियों में निबद्ध नहीं बल्कि वे 'शिश्रियाणो वने-वने' अर्थात प्रत्येक 'वन' का आश्रय ग्रहण करते हुए गुहाहित हैं [१३६९]। अन्तर्यामी रूप में प्रच्छन्न हैं। अपनी पार्थिव चेतना की प्रत्येक निगूढ़ रहस्यमय कामना को निर्मथित करके एक 'महत् सहः' रूप में अग्नि को हम जीवन में जन्म दे सकते हैं। उस समय वे जिस प्रकार 'शतवल्श' (शतशाख) वनस्पति होकर इस पृथिवी को फोड़कर अंकुरित होते हैं, विकसित होते हैं उसी प्रकार हम सब भी — 'सहस्रवल्श' होकर अंकुरित, विकसित हो उठते हैं।[1]

और भी गहरी दृष्टि होने पर देखते हैं, अग्नि का पार्थिव जन्म केवल 'वन' से नहीं बल्कि 'ओषधि' से भी [१३७०] होता है। वन शुष्क हो तभी उसे आग पकड़ती है;[1] किन्तु ओषधि रसयुक्त होने से ही अग्नि की माता है, उसी प्रकार वनस्पति भी अग्निस्वरूप है — यह भावना लक्षणीय है। ओषधि अग्निगर्भा है वह उसके नाम से प्रकट होता है[2] किन्तु रहस्य की दृष्टि से वह रसचेतना का प्रतीक है। पार्थिव सोम ओषधियों में

---

[१३६९] तु. ऋ. ५।११।६, द्र. टी. १३४८[६]। [1] तु. वनस्पते शतवल्शो वि रोह सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम ३।८।११। यह सूक्त यूप से सम्बन्धित है। यूप जिस प्रकार वनस्पति है उसी प्रकार अग्नि भी वनस्पति है। आध्यात्मिक दृष्टि से यजमान अथवा साधक ही यूप है, ऐब्रा. २।३, तैब्रा. ३।९।५।२, शब्रा. ३।७।१।११। इसके अलावा प्राणाग्नि की शिखा आदित्य में संगत होती है, अतएव यूप आदित्य है, ऐब्रा. ५।२८, तैब्रा. २।१।५।२; 'वैष्णवो हि यूपः' शब्रा. ३।६।४।१। यूप वज्र भी है, ऐब्रा. २।१, ३, शब्रा. २६।४।१९। तु. हठयोग का 'सुषुम्णा काण्ड' जिसके भीतर से होकर संहृत प्राण अग्नि रूप ऊर्ध्वस्रोता होता है।

[१३७०] तु. ऋ. अपां गर्भं दर्शतम् (दर्शनीय, दृश्यमान) ओषधीनाम् ३।१।१३ (१।१६४।५२), स जातो गर्भो असि रोदस्योर् अग्ने चारुर् विभृत ओषधीषु (अध्यात्म दृष्टि से भूलोक मूलाधार, द्युलोक सहस्रार, और सोमराजी ओषधि 'सुषुम्णा काण्ड' है जिसके भीतर से होकर अग्नि का संचरण होता है तु. उपनिषद की हिता नाड़ी) १०।१।२, तम् ओषधीर् दधिरे गर्भम् ऋत्वियं (समयोचित, आधार में समय पूरा होने पर अभीप्सा जागती है), तम् आपो अग्निं जनयन्त मातरः, तम् इत् समानं (तुल्यरूप में) वनिनश् (सारे वृक्ष) च वीरुधो अन्तर्वतीश् (गर्भिणी) च सुवते च विश्वहा (सब समय) ७।४।५। [1] १।६५।३, ४।४।४, ६।१८।१०; शोचस्शुष्कासु हरिणीषु जर्भुरत् ('शुष्कास्वोषधीषु ज्वलन् हरितवर्णासु आर्द्रास्वोषधीषु कुटिलं गच्छन्' – सायण.) १०।९२।१।[2] ओषधि < ओष (उषा की ज्योति अथवा अग्निदीप्ति) < √उष (दहन करना, जलाना)॥ √वस (उजाला देना + धि < √धा (निहित करना, सा. ६।४९।१४); किन्तु नि. में < √धे (पान करना) ९।२७। सामान्यतः उद्भिद की संज्ञा। यज्ञ के साथ उसका मुख्य सम्बंध अरणि अथवा समिध् रूप में, यूपरूप में, एवं सोमलता के रूप में है। हमने देखा कि अरणि अग्निमाता, यूप वनस्पति अग्नि और सोम आनन्द चेतना है। आधियाज्ञिक दृष्टि से साधना के प्रारम्भ में अग्नि समिन्धन, उसके बाद पशुबन्धन और पश्वालम्भन एवं सब से अन्त में सोमपान से अमृतत्व प्राप्ति।

श्रेष्ठ ओषधि 'सोमराज्ञी' हैं।[2] अतएव ओषधि में अग्नि और सोम अर्थात् तपोवीर्य अथवा तेज और आनन्द दोनों तत्वों का संगम हुआ है। आध्यात्मिक अनुभव में वनस्पति अग्नि जिस प्रकार नाड़ीतंत्र में संचरणशील द्रविणोदा है[4] उसी प्रकार ओषधियाँ भी प्रत्येक नाड़ी में विद्युन्मय सौम्य आनन्दधारा का वाहन हैं।[5] इस दृष्टि से वैदिक भावना में ओषधि और वनस्पति का सहचार[6] विशेष अर्थपूर्ण है। दोनों मिलकर अग्नि-सोम रूपी देव-युग्म के प्रतीक; अथच तपःशक्ति के रूप में अग्नि दोनों में अनुस्यूत है। ओषधि का समानार्थवाची एक और शब्द 'वीरुध' है;[7] अग्नि को कहीं-कहीं 'वीरुधां गर्भः' एवं सोम को 'वीरुधां पतिः' बतलाया गया है।[8] ओषधि-वनस्पति से अग्नि के जन्म-प्रसंग में अप् से अग्नि के जन्म की बात अपने आप आ जाती है, क्योंकि अप् इनकी जीवनी शक्ति है; किन्तु उस प्रसंग में आगे चलकर बात करेंगे।

---

ओषधि सम्बन्धी इन तीनों प्रक्रियाओं में अध्यात्म साधना का एक क्रमिक विकास दिखाई पड़ता है। आध्यात्मिक दृष्टि से अरणिमन्थन में अभीप्सा की आग जलती है, उसके बाद यूप में बंधे पशु के संज्ञपन में प्राणजय एवं अन्त में सोम के सवन में एवं पान में दिव्य आनन्द प्राप्ति। जड़ में प्राण चेतना का प्रथम उन्मेष ओषधि में: चेतना वहाँ सम्मूढ़ एवं आच्छन्न, मनु की भाषा में 'अन्तःसंज्ञा'। यह तामस चेतना पशु में राजस एवं मनुष्य में सात्विक अर्थात् आत्मसंचेतन है (द्र. टी. १२५०[1]) साधन की दृष्टि से देह के साथ ओषधि की एक समानता है: अन्तर्योग में यह देह ही अरणि अथवा वनस्पति एवं अन्त में सोमलता है। ओषधि का चरम उत्कर्ष सोमलता के रूप में। तब ओषधि नाड़ी का प्रतीक है। ऋक् संहिता के ओषधि सूक्त में (१०।९७) ओषधियाँ 'सोमराज्ञी' अर्थात् सोम उनके राजा हैं (१८, १९)। किन्तु ओषधि-रूपी प्राणचेतना के मूल में बृहत् की चेतना कार्य करती है, इसलिए ओषधियाँ विशेष रूप से 'बृहस्पति-प्रसूता' हैं — 'अंहः' अथवा क्लिष्टचेतना से वे हमें छुटकारा दिलाती हैं, हमारे भीतर देववीर्य निहित करके (१५, १९)। इसके अतिरिक्त अन्य एक दृष्टि से ओषधियों का प्रतिभू या प्रतिनिधि 'अश्वत्थ' (५) है। ऊर्ध्व मूल अवाक्शाख अश्वत्थ प्राचीन काल से ही मनुष्य देह का विशेष रूप से नाड़ीजाल का प्रतीक है; वह ब्रह्मवृक्ष एवं संसारवृक्ष भी है (तु. सोम = अश्वत्थ १।१३५।८ सायण)।... और भी तु. अग्नि का 'वर्चः' अथवा तेज ओषधि में निहित (३।२२।२) है, सारी ओषधियों में वे 'आविष्ट' (१।९८।२) हैं, 'बहुधा प्रविष्ट' (१०।५१।३) हैं, 'अद्रोघो न द्रविता चेतति त्मन् अमर्त्यो अवर्त्र ओषधीषु' — द्रोहहीन होकर दौड़ते रहते हैं वे आत्मसंचेतन रूप में ओषधियों के भीतर अमर्त्य एवं अवारण अनिवार्य (६।१२।३: प्रत्येक नाड़ी में अग्नि का स्वच्छन्द अमृत प्रवाह; 'द्रविता' में 'द्रविणोदा' अग्नि की ध्वनि लक्षणीय), 'ग्ना वसान ओषधीर् अमृध्रस् त्रिधातुशृंगो वृषभो वयोधाः' — पत्नी रूप में उन्हें जकड़े हुए हैं ओषधियाँ, जिनकी अवज्ञा संभव नहीं, किसी भी तरह, त्रिधा शृंग वीर्यवर्षी जो तारुण्य के आधाता हैं (५।४३।१३; ओषधियाँ उनकी शक्ति हैं, वस्त्र की तरह उनसे लिपटी हैं, और वे वीर्याधान करते जा रहे हैं उनके भीतर तीन स्तर पर; 'त्रिधातु शृंगः' त्रिप्रकार शृंगवदुन्नत लोहित शुक्ल कृष्ण वर्णज्वालः [सायण]।[2] तु. १०।९७।७, १८, १९, २२; ९।११४।२, ९७।१२ (सोम का